

विशेष रचनाकार: कबीरदास

एम.ए. हिन्दी (पूर्वाद्ध)

प्रश्न-पत्र: पंचम

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक—124 001

Copyright © 2003, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system
or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or
otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK - 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

विषय सूची

खण्ड-क	आलोचना खण्ड	
1.	कबीर का जीवनव त	5
2.	कबीर का साहित्य	13
3.	कबीर का युग	16
4.	कबीर का सामाजिक विचारधारा	21
5.	कबीर का रहस्यवाद	27
6.	कबीर की प्रांसगिकता	36
7.	कबीर की उलटवासियाँ	43
8.	कबीर का काव्य शिल्प	49
9.	कबीर के साहित्य में प्रयुक्त कुछ पारिभाषिक शब्द	60
खण्ड-ख	व्याख्या खण्ड	
1.	साखी	68
2.	पद	233
3.	रमैणी	331

एम.ए. (पूर्वाह्न) विशेष रचनाकार: कबीरदास

प्रश्न-पत्र-पंचम

पूर्णांक: 100

समय: 3 घंटे

निर्देश

1. पूरे पाठ्य विषय से 10 अति लघु प्रश्न पूछे जाएंगे। परीक्षार्थियों को प्रत्येक प्रश्न का (लगभग 30 से 50 शब्दों में) उत्तर देना होगा। प्रत्येक प्रश्न दो अंकों का होगा और पूरा प्रश्न बीस अंकों का होगा।
2. पहला खण्ड व्याख्या का होगा। व्याख्या के लिए कुल छः अवतरण पूछे जाएंगे, जिनमें से तीन की व्याख्या परीक्षार्थियों को करनी होगी। प्रत्येक व्याख्या 10 अंकों की होगी और पूरा प्रश्न 30 अंकों का होगा।
3. तीसरे खण्ड में पूरे पाठ्य विषय से 10 लघुत्तरी प्रश्न पूछे जाएंगे, जिनमें से परीक्षार्थियों को पांच के उत्तर लिखने होंगे। प्रत्येक प्रश्न 4 अंकों का और पूरा प्रश्न 20 अंकों का होगा। (प्रत्येक उत्तर लगभग 150 शब्द)
4. प्रश्न पत्र का दूसरा खंड आलोचनात्मक होगा। पांच आलोचनात्मक प्रश्न पूछे जाएंगे, जिनमें से परीक्षार्थियों को दो प्रश्नों का उत्तर होगा। प्रत्येक आलोचनात्मक प्रश्न 15 अंकों का और पूरा प्रश्न 30 का होगा।

पाठ्य विषय

कबीर ग्रंथावली

व्याख्या हेतु निर्धारित अंश

(क) साखी-निम्नांकित अंग निर्धारित हैं:

- | | |
|---------------------------|---------------------------|
| 1. गुरुदेव कौ अंग | 2. सुमिरण कौ अंग |
| 3. बिरह कौ अंग | 4. ग्यान बिरह कौ अंग |
| 5. परचा कौ अंग | 6. निहकमी पतिव्रता कौ अंग |
| 7. चितावणी कौ अंग | 8. मन कौ अंग |
| 9. माया कौ अंग | 10. सजह कौ अंग |
| 11. सांच कौ अंग | 12. भ्रम विधोषण कौ अंग |
| 13. भेष कौ अंग | 14. कुसंगति कौ अंग |
| 15. साध कौ अंग | 16. साध महिमा कौ अंग |
| 17. मधि कौ अंग | 18. सारग्राही कौ अंग |
| 19. उपदेश कौ अंग | 20. बेसास कौ अंग |
| 21. सबद कौ अंग | 22. जीवन म तक कौ अंग |
| 23. हेत प्रीत सनेह कौ अंग | 24. काल कौ अंग |
| 25. कस्तूरियां म ग कौ अंग | 26. निद्या कौ अंग |
| 27. बेली कौ अंग | 28. अविहड़ कौ अंग |

(ख) पद: 1 से 100 तक

(ग) रमैणी: सम्पूर्ण

आलोच्य विषय

निर्गुण मत और कबीर

भक्ति आन्दोलन और कबीर

मध्यकालीन धर्म साधना और कबीर

कबीर का युग

कबीर का जीवन

कबीर का साहित्य

कबीर की सामाजिक विचारधारा

कबीर की धार्मिक विचारधारा

कबीर की भक्ति

कबीर का रहस्यवाद

कबीर की भाषा

कबीर का काव्य-शिल्प

कबीर की उलटवासियों

कबीर की प्रासंगिकता

कबीर की साहित्य में प्रयुक्त कुछ पारिभाषित शब्द-अजपाजाप,

अनहनाद, उनमन, निरंजन, सुरति निरति, सहज, शून्य नाद-बिन्दु, औंधा कुआ।

खण्ड - (क)

आलोचना खण्ड

1. कबीर का जीवनवत्त

सन्त शिरोमणि कबीरदास 15 वीं शताब्दी के अनुपम रत्न हैं। उन्होंने भारतीय जनता को जनजागरण का महनीय उपेदेश दिया है। कबीर का जीवन परिचय भी बहुत कुछ अज्ञात और अकथ्य है। प्राचीन कवियों की भाँति उन्होंने अपने जीवन के बारे में नाममात्र का ही संकेत दिया है। उन संकतों के आधार पर कबीर का व्यक्तित्व और कवित्व समझ जाना पड़ा कठिन है। कबीर के जीवन को समझने के लिए अन्तः साक्ष्य के साथ बहिः साक्ष्य और उनके बारे में प्रचलित जनश्रुतियों का सहारा लेना पड़ता है।

(I) अंतःसाक्ष्य :-

कबीर ने अपनी सभाओं में यत्र-तत्र अपने बारे में अनायास ही कुछ कह दिया है, वहीं अन्तः साक्ष्य है। अन्तः साक्ष्य की प्रामाणिकता बनाये रखने के लिए यह जरूरी है कि रचना भी प्रामाणिक हो। इसलिए हमें 'गुरु ग्रन्थ साहब' में संकलित वाणी और कुछ विशेष ग्रन्थावलियों को भी आधार बनाना पड़ेगा। इसका साक्ष्य यह है कि कबीर के नाम पर बहुत सारी रचनाएँ मिलती हैं। उनमें से यह निर्णय कर पाना बड़ा कठिन है कि कौन सी रचना कबीर साहब की हैं और कौन सी नहीं। अतः हमें निम्न संकलन ग्रन्थों को प्रमाण के रूप में सामने रखकर कबीर के जीवन का अध्ययन करना होगा? वे ग्रन्थ हैं:-

1. गुरु ग्रन्थ साहब- इसका संकलन पाँचवे गुरु अर्जुनदेव ने 1604 ई० में किया था। यह सिक्खों का धर्मग्रन्थ है। इसकी प्रामाणिकता अविवादित है।
2. संत कबीर- सम्पादक डा० रामकुमार वर्मा ।
इस ग्रन्थ के संकलन का आधार 'गुरु ग्रन्थ साहब' हैं। अरस्तु इसकी थी प्रामाणिकता असंदिग्ध हैं।
3. 'बीजक' कबीर पंथ में इसकी प्रामाणिकता सर्वस्वीकृत है।
4. कबीर वचनावली- सम्पादक - पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔद्या।
5. कबीर ग्रन्थावली - सम्पादक - श्यामसुन्दर दास।

(II) बहिःसाक्ष्य :-

कबीरदास के जीवनवत्त को जानने के लिए निम्नलिखित बहिःसाक्ष्य की सामग्रियों को आधार बनाया जा सकता है।

- (1) भक्त माता - नाभादास कंत
- (2) भक्तमात की टीका - रामामारं प्रियादात

- (3) कबीरसाहब की परचई - अनंत दास
- (4) गुरु ग्रन्थ साहब - सम्पादक गुरु अर्जुन देव
- (5) भक्तों और सन्तों की वाणियाँ
- (6) कबीर पंथी ग्रन्थ
- (7) उर्दू -फारसी के ग्रन्थ
- (8) जनश्रुतियाँ।

अन्तःसाक्ष्य और बहिस्साक्ष्य से सम्बन्धित उक्त सामग्रियों को ध्यान में रखकर कबीर के जीवन व तत्त का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों से किया जा सकता है -

(क) कबीर के जन्म का समय -

प्राप्त विवरणों से पता चलता है कि कबीरदास का जन्म नामदेव और जयदेव के बाद हुआ था। इस प्रकार वे सन्त नामदेव और जयदेव के परवर्ती सिद्ध होते हैं। अन्तः साक्ष्य के रूप में ये पक्तियाँ उद्घ त की जाती हैं :-

गुरु परसादी जै देव नांमा।

भगति क प्रेम इन्हहि हैं जाना।।

कबीरदास को सिकन्दर लोदी (1486-1517 ई०) का भी समकालीन माना जाता है। सिकन्दर लोदी द्वारा उन पर किये गये अत्याचारों का भी उल्लेख मिलता है।

इससे स्पष्ट हो गया है कि कबीर का समय चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी था।

(ख) कबीर का कुल और परिवार -

कबीर ने अपने कुल के बारे में लिखा है कि :-

पूरब जनम हम बांन्हन होते, ओछे करम तप हीनां।

रांमदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहां कीन्हां।।

इससे स्पष्ट है कि कबीरदास जुलाहां कुल के थे। यह जुलाहा कुल हिन्दु धर्म से युक्त था। उसमें परमात्मा की भक्ति का संस्कार भी था। 'कबीर मंसूर' की यह कथा इस दृष्टि से उल्लेखनीय है-

मानुष तन जुलहा कुल दीना। दोनु संजोग बहुरि विधिकीना।।

कासी नगर रहे पुनि सोई। नीरू नाम जुलाहा होई।।

नीमा नाम नारि का भाई। नारि पुरुष ही मिल पुनि आई।।

'कबीर कसौटी' में कहा गया है -

माय तुरकनी बाप जोलाहा, बेटा भक्त भये।

स्पष्ट है कि कबीर जुलाहा दम्पति नीरू और नीमा की सन्तान थे।

(ग) कबीर की जन्मतिथि -

कबीर की जन्मतिथि विषय में निम्नलिखित दोहा कबीर पंथ में मान्य है :-

चौदह सौ पचमन साल गए,

**चन्द्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत की,
पूरनमासी प्रकट भए।।**

इन पंक्तियों के आधार पर कबीर की जन्मतिथि सवत् 1455 की ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा ठहरती है।

अनेक प्रमाणों और विद्वानों के मतों के आधार पर यह भी ज्ञात होता है कि कबीर दास सिकन्दर लोदी के समकालीन था। अतः माना जा सकता है कि कबीर संवत् 1455 में पैदा हुए थे।

(घ) जन्म स्थान -

कबीर का जन्म स्थान तीन स्थानों पर जोड़ा गया है :-

1. मगहर
2. बैलहरा
3. काशी

1. मगहर :-

कबीर ने मगहर का उल्लेख कई बार किया है। उसे काशी के समान महत्त्व दिया है, इसलिए विद्वान मगहर को कबीर का जन्म स्थान मानते हैं। यह भी उल्लेख मिलता है कि कबीर मरने के वक्त काशी से मगहर चले गये थे। पहले वे मगहर से काशी गये थे :-

पहिले दरसन मगहर पायो, पुनि कासी बसे आई।।

कबीर का विश्वास था कि जो व्यक्ति हृदय से निर्मल और पवित्र है, चाहे काशी में मरे या मगहर में, उसकी मुक्ति अवश्य होनी है। इसलिये वे कहते हैं :-

हिरदै कठौर मरै बारससि, नरक न वंच्या जाई।

हरि कौ दास मरै जे मगहरि, सेन्यां सकल तिराई।।

2. बैलहरा :-

बैलहरा गाँव आजमगढ़ जिले में पड़ता है। उल्लेख मिलता है कि बैलहरा गाँव में बेलहर नामक एक तालाब है। इसे ही लहर ताल भी कहा है। यहीं कबीर यहां पैदा हुए थे।

3. काशी :-

कबीरदास का जन्म स्थान काशी है। इसके बारे में यह अन्तः साक्ष्य मिलता है-

सरल जनम सिवपुरी गंवाइआं,

मरती वार मगहरि उठि धाइयां।

तथा

तू बाम्हन में कासी का जुलाहा।

अतः साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि कबीर काशी में पैदा हुए थे। अनन्त दास ने भी परचई में लिखा है कि -

साचौ भगत कबीर हैं, कासी प्रगट्यौ आई।

यह भी लोगों में प्रचलित है कि नीरू और नीमा काशी के ही रहने वाले थे। काशी में कबीर चौरा नामक स्थान है और कबीर के पालक दम्पति यहीं नीरू तिला नामक अहाते के घर में रहते थे।

मगहर, बैलहरा और काशी में से काशी को ही कबीर दास का जन्मस्थान मानना अधिक तथ्य संगत प्रतीत होता है।

(इ) कबीर का नाम -

कबीर की जन्म तिथि और जन्म स्थान अवश्य विवादित हैं, लेकिन कबीर के नाम को लेकर विवाद नहीं है। हां, यह जरूर है कि कबीर का प्रयोग कई रूपों में मिलता है। यहाँ कबीरा, कब्बीर, कबीर; दास कबीर, जन कबीर आदि। एक पंक्ति इस दृष्टि से दृश्य है :-

कबीरा तू ही कब्बीर तू तोरो नाम कबीर।

तथा

दास कबीर इहि रस माता, कबहूँ उछकि ना जाई॥

यहाँ पर यह कहना अनुचित नहीं होगा कि कबीर शब्द हिन्दी संस्कृत का शब्द नहीं है। यह अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है: - महान्।

(च) कबीर की आयु -

कबीर को लम्बी आयु मिली थी। ये लगभग 120 वर्ष तक जीवित रहे। इस बारे में एक उक्ति मिलती है :-

बीस सऊ लगी कीर्नी भगती। ता पीछे पाई हैं मुगती।

राम जी लाल सहायक ने लिखा है कि कबीर ने बाल्यावस्था खेल-कूद में, युवास्था, गहस्थी के धंधे में, प्रौढ़ावस्था, गहस्थ जीवन और साधना में और वृद्धावस्था निष्काम कर्मयोगी तथा परमहंस की स्थिति में बितायी। 120 वर्ष की आयु उन्हें योग साधना से प्राप्त हुई।

(छ) गुरु और शिक्षा-दीक्षा -

कबीर के गुरु को लेकर विवादों में विवाद है। इस बारे में तीन प्रकार के विचार दिखाई पड़ते हैं :-

1. कबीर के गुरु रामानन्द थे।
2. कबीर के गुरु शेख तक़ी थे।
3. कबीर का गुरु कोई मनुष्य नहीं था।

1. कबीर के गुरु रामानन्द थे -

अन्तः साक्ष्यों और बहिःसाक्ष्यों के आधार पर प्रमाणित होती हैं कि कबीर के गुरु स्वामी रामानन्द थे। कबीर ने गुरु विषयक जो शब्द और साखी लिखे हैं, उसके क्रेन्द्र में रामानन्द ही थे। वे रामानन्द की विचारधारा से प्रभावित थे। रामानन्द की भाँति ही उन्होंने निगुर्ण और ब्रह्म का निरूपण किया है। इतना ही नहीं, दोनों समकालीन भी थे। अनन्तदास ने परचई में स्पष्ट रूप से लिखा है कि रामानन्द का शिष्य कबीर था -

रामानन्द का सिष कबीरा। मति का सांचा भगति का धीरा॥

कबीर पंथ में भी रामानन्द ही कबीर के गुरु माने जाते हैं। वहाँ इस दोहे का बड़ा प्रचार और प्रचलन है :-

भक्ती द्राविड अपजि, लाए रामानन्द।

कबीर ने प्रगट करी, सात दीय नवखंड॥

डा० रामकुमार वर्मा, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दर दास आदि ने रामानन्द को ही कबीर का गुरु बताया है। हम विषय में डा० रामकुमार वर्मा का कथन अवश्यमेव द्रष्टव्य है - "कबीर का गुरु में अटल विश्वास था। उन्होंने गुरु की

वन्दना अनेक प्रकार से की हैं, यद्यपि अपने गुरु के नाम का उल्लेख नहीं किया। ज्ञात होता है कि ये गुरु रामानन्द ही थे। अपने गुरु की सेवा से ही उन्होंने भक्ति अर्जित की थी।”

2. कबीर के गुरु शेख तकी थे -

कुछ विद्वानों ने शेखतरी को कबीर का गुरु माना है। इनमें वेस्कट साहब और एमप्रसाद त्रिपाठी का नाम लिया जा सकता है। लेकिन प्राप्त विषयों से ज्ञात होता है कि शेख तरी कबीर के गुरु नहीं थे, वे प्रतिद्वन्दी हो सकते हैं। कबीर का महत्त्व कम करने के लिए शेख तरी के अनुयायियों द्वारा यह भामक प्रचार किया गया मालूम होता है। कारण यह है कि शेख तकी ने कबीर पर अनेक नशंश अत्याचार करवाये थे और यह कार्य किसी सद्गुरु से अपेक्षित नहीं था। यह पंक्तियाँ इसकी पुष्टि करती हैं :-

शेख तकी तब मीजै हाथा।

सूखे मुह नहि आवे बाता।।

3. कबीर का गुरु कोई मनुष्य नहीं था -

विद्वान मोहनसिंह ने किसी मनुष्य को कबीर का गुरु नहीं माना है। उन्होंने गुरु को ब्रह्म से जोड़कर देखा है। मोहन सिंह का यह दृष्टिकोण वस्तु संगत प्रतीत नहीं होता है। कबीर का गुरु मनुष्य था। उसी ने उन्हें ज्ञान दिया -

पीछें लागा जाइ था, लोक बेद के साथी।

आगे थैं सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि।।

जहाँ तक कबीर की शिक्षा दीक्षा का सवाल है। उस बारे में कहा जाता है कि कबीर अनपढ़ थे।

‘मसि रागज छुयों नहीं, कलम गहयों नहिं हाथ’ तथा ‘विद्या न परउ’।

शिक्षा को केवल उपाधि और रक्षा से जोड़कर नहीं देखना चाहिए। उसे मानव के विकास से जोड़कर देखना चाहिए। कबीर इन अर्थों में शिक्षित थे। वे प्रतिभाशाली सन्त कवि थे। काव्य, साहित्य, धर्म, दर्शन सारे क्षेत्रों का उन्हें गम्भीर ज्ञान और अनुभव था। उनकी शिक्षा तत्त्व की शिक्षा थी। वह तत्त्व परमतत्त्व था। रामानन्द ने इस परमतत्त्व का ज्ञान दिया था -

सतगुरु तत रहयौ विचार, मूल गहयौ अनभै विस्तार।

तथा -

पासा पकड़्या प्रेम का, सारी किया सरीर।

सतगुरु दाव बताइया, लै दास कबीर।।

कबीर की शिक्षा परमतत्त्व की शिक्षा थी। उनकी शिक्षा राम नाम की थी। उनके शिक्षक रामानन्द थे

(छ) ग हस्थी -

कबीर ग हस्थ थे। उनके परिवार में निम्नलिखित सदस्य थे -

पिता - नीरू

माता - नीमा

पत्नी - लोई

पुत्र - कमाल

पुत्री - कमाली

कबीर की पंक्तियों से कबीर के वैवाहिक जीवन का पता चलता है। उदाहरण के रूप में यह दोहा देखा जा सकता है -

मेरी बहुरिआ को धनिआ नाउ।

लैराख्यो रम जनी आ नाउ।।

कुछ विद्वान कबीर की दो पत्नियाँ बताते हैं। एक नाम था लोई तथा दूसरी का नाम था रमजानियां, कबीर की सन्ताने भी थी। एक लड़का कमाल, दूसरी लड़की कमाली। लड़के से वे सन्तुष्ट नहीं थे -

बूड़ा बंस कबीर का उपजिओ पूत कमाल।

कबीर का ग हस्थ जीवन कष्ट का था। सम्पूर्ण परिवार का भरण पोषण कोई आसान नहीं था। कहा भी है -

कहै कबीर यह दुख कासनि कहिये,

अपने तन की आप ही सहिये।।

“इस भान्ति कबीर ने वैराग्य और निरासक्त भाव से अपने ग हस्थ जीवन को बिताया। उनका परिवारिक जीवन सुखमय और सफल न होते हुए भी उनके लिए साधना की प्रेरणा था। उसी घर के दुःख-संताप को स्वयं सहकर वह सफल साधक बन सके और इसकी स्थिति का आदर्श विश्व को दे सके।

डा० रामजीलाल सहायक

(ज) जाति-व्यवसाय -

कबीर दास की जाति और व्यवसाय को भी लेकर विवाद है। इस सम्बन्ध में तीन मत दिखायी पड़ते हैं।

1. कबीर गुसाईं थे।
2. कबीर जोगी थे।
3. कबीर कोरी या जुलाहा थे।

1. कबीर की जाति गुसाईं थी -

इसका आधार यह पंक्ति है -

पिता हमरो बड़ गुसाईं तिसु पिता हड किड करि जाई।

विद्वानों ने, कबीर पंथी परम्परा में तथा भक्तों की परम्परा में कबीर को गोसाईं नहीं माना जाता है। अतः इस पंक्ति के आधारपर कबीर को गुसाईं मानना उचित नहीं है।

2. कबीर की जाति जोगी थी -

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर को जोगी माना है, लेकिन वे कबीर के जोगी होने का कोई ठोस आधार नहीं दे पाये हैं।

3. कबीर की जाति कोरी या जुलाहा थी -

अपने अनेक वक्तव्यों में कबीर दास ने अपने को जुलाहा माना है। वे वक्तव्य दर्शनीय हैं -

जाति जुलाहा नाम कबीरा,

बनि बनि फिरौं उदासी।

तथा

तू बाम्हन में कासी का जुलाहा,
बूझहु मोर गियाना।।

तथा

बुनना तनना तिआगि कै प्रीति चरन कबीरा।
नीचा कुला जुलाहा भइओं गुनीय गहीरा।।

निसन्देह कबीर की जाति नीची थी और वह जुलाहा जाति थी। उन्होंने अपने को कोरी भी कहा है -

हरि कौ नाउ अर्थ पद दाना, कहै कबीरा कोरी।

वस्तुतः व्यवसाय की दृष्टि से कोई और जुलाहे में अन्तर नहीं है। मोरी भी कपड़ा बुनने का धंधा करते हैं। अनेक स्थानों पर हिन्दू-परिवारों के लोग कपड़ा बुनने का धंधा करते हैं, उन्हें जुलाहा ही कहा जाता है। कहीं कहीं हिन्दू जुलाहे और यदि चमार इस धंधे को करते हैं, तो उन्हें चमार जुलाहे भी कहा जाता है।

डा० सहायक

यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जुलाहे मुसलमान नहीं होते हैं - यह भ्रमपूर्ण तथ्य है। वास्तव में जुलाहा एक व्यवसाय है। इसको धर्म से जोड़ना उचित नहीं है। हममें कोई सन्देह नहीं है कि कबीर जुलाहे थे और बहुत समय तक कपड़े बुनने का काम उन्होंने किया था -

तनना बुनना सब तज्यौ है कबीर।

हरि का नामु लिखि लिऔ सरीर।।

उन्होंने स्वयं मुसलमान न होने का खण्डन किया है।

समति से नेह पकरि करि सुंनति, यहु न बंदु रे भाई।

और बुदाइ तुरक मोहि करता, तौ आपै कटि किन जाई।

स्पष्ट है कि कबीर एक पहुँचे हुए सन्त थे। जाति-पाँति में उनका कोई विश्वास नहीं था। उन्हें मानव मात्र में गहरी आस्था थी, क्योंकि वे जीवात्मा में परमात्मा का निवास मानते थे।

(क) कबीर का अवसान

कबीर की मृत्यु को लेकर विद्वानों में वैमत्य है। उनकी मृत्यु के विषय में निम्नलिखित चार दोहे प्राप्त होते हैं।

1. संवत पन्द्रह सौ और पांच भौ, मगहर कियो गौन।

अगहन सुदी एकादसी, रलो पौन में पौना।।

2. संवत पन्द्रह सौ पछहत्तर, कियो मगहर कौ गौन।

माघ सुदी एकादसी, दलो पौन में पौन।।

3. पन्द्रह सौ उनचास में, मगहर कीन्हों गौन।

अगहन सुदी एकादसी, मिलौ पौन में पौन।।

संवत पन्द्रह सौ उनहत्तरा रहाई।

सतगुरु चले उठि हंसा ज्याई।।

अनन्तदास ने परचई में लिखा है कि कबीर 120 वर्ष तक जीवित रहे। यदि कबीर की जन्मतिथि संवत् 1455 में स्वीकार की जाये तो उसमें 120 वर्ष जुड़ने पर 1575 होता है। इस प्रकार कबीर की म त्यु तिथि संवत् 1575 होता है। इस प्रकार कबीर की म त्यु तिथि संवत् 1575 मान्य प्रतीत होती है।

कबीर के म त्यु स्थान को भी लेकर मतभेद है, लेकिन अनेक मन्तव्यों और प्रमाणों के आधार पर उनका म त्यु स्थान मगहर ही सिद्ध होता है। मगहर से सम्बद्ध कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं -

सगल जनम सिवपुरी गवाइआ।

मरती बार मगहर उठि धाइआ।

बहुत बरसि तपु कीआ कासी।

मरन भइआ मगहर को वासी।।

तथा -

जौ कासी तन तजहि कबीरा, रामहि कहा निहोरा।

कहु कबीर सुनहुरे लोई, भरम न भूलहु कोई।

क्या कासी क्या असर मगहर राम हिरदया जौ होई।।

उल्लेखनीय हैं कि मगहर बस्ती जिसे में हैं। वे मगहर इस अंधविश्वास - 'मगहर मरै सो गदहा होय' - को निर्मूल करने के लिए गये थे। भ्रम नहीं रहना चाहिए इसलिए यह भी शातव्य है कि गंगाधर ही मगहर है। जिसे मर्ममास्थ क्षेत्र कहा जाता है। यह क्षेत्र काशी खंड में छः मील की दूरी पर है। इस प्रकार कबीर का म त्यु स्थान बस्ती का मगहर न होकर मर्मनाथ क्षेत्र का मगहर सिद्ध होता है।

कबीर के अन्तिम संस्कार को लेकर भी जनभूतियां हैं। प्रचलित है कि उनके अन्तिम संस्कार को लेकर हिन्दूओं और मुसलमानों में संघर्ष हो गया था। कबीर के शिष्य वीरसिंह बधल जो बनारस के राजा थे और बिजली खाँ जो गोरखपुर का नबाब था, आश्रम में उस गये। दोनों ही अपने धर्मनिसार कबीर का दाह संस्कार करना अथवा दफनाना चाहते थे, लेकिन चादर उठाने पर वहाँ कुछ पुष्प मिले -

वै कहै गाडों वै कहै जारौं। अपनी अपनी धरम विचारो।

युहु ओर तै देषन आवै। से जहि फुल कबीर पावै।।

इस द श्य से संघर्ष सुलभ गया। हिन्दुओं ने फुल लेकर दाह संस्कार कर दिया और मुसलमानों ने उन्हें दफना दिया।

इस प्रकार, स्पष्ट है कि कबीर दास हिन्दी के विरुद्ध प्रतिभा और व्यक्तित्व के सन्त कवि थे। मानवतावादी चिन्तन उनकी प्रतिभा और व्यक्तित्व के सन्त कवि थे। मानवतावादी चिन्तन उनकी अमूल्य धरोहर थी। सेवा भावना उनका स्वभाव था। उनका जीवन लोग कल्याण को अर्पित था।

अध्याय -2

कबीर का साहित्य

कबीर के रचना कार्य कर्म के बारे में यह दोहा उद्धृत किया जाता है-

मसि कागद छुयो नहीं, कलम गहयो नहिं हाथ।

चादिड जुग को महातम, मुखहि जनाई बात।।

कबीर की रचना के बारे में इसको प्रमाण नहीं माना जा सकता है। वास्तव में, यह कबीर की विनमुता की कंजनत करता है। फिर भी कबीर दास की कृतियों प्रामाणिक खोज बहुत कठिन है। डा० रामचन्द्र तिवारी ने इस समस्या की ओर बिल्कुल ठीक संकेत किया है। वे कहते हैं कि कबीर की प्रामाणिक कृतियों को अनुसंधान अत्यंत कठिन कार्य है। कबीर ने स्वयं अपनी वाणियों को लिपिबद्ध नहीं किया था। उनके शिष्यों ने कुछ को लिपिबद्ध किया और कुछ लोक कंठ में जीवित रहते हुए अपना स्वरूप बदलती रहीं। कबीर पंथी संतों ने अपनी रचनाओं को भी श्राद्धावली कबीर के नाम से ही प्रचारित कियौ। परिणाम यह हुआ कि कबीर और कबीर पंथी साहित्य घुल मिलकर एक हो गया।

कबीर के साहित्य को लेकर, उसकी संस्कार को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं। देवटेंड वेस्टाकास्ट ने कबीर की मुलरचनाओं की संख्या 82 बतायी है। मिशबन्धुओं ने अपने ग्रन्थ नवरत्न में कबीर की कृतियों की संख्या 75 बतायी हैं। और फिर मिशबन्धु विनोद में वे 84 बताते हैं। डा० एफ० ई० के० 38, डा० रामकुमार वर्मा ने 85 तथा नगरीय प्रचारिणी की खोज किया है। पाश्चात्य विद्वान विल्सन ने कबीर के आठ ग्रन्थों की ओर संकेत किया है। वे ग्रन्थ हैं -

1. आनन्द राम सागर।
2. वलख की रमैनी।
3. चौचरा
4. हिंडोला
5. झूलना
6. कबीर पंथी
7. कहरा
8. शब्दावली

‘नागरी प्रचारिणी सभा’ पुरातन पाण्डुलिपियों के शोध और खोज की बहुत बड़ी संख्या है। सभा ने कबीर के 61 ग्रंथों की खोज की है। वे ग्रन्थ हैं।

- | | |
|------------------|-------------------|
| 1. अगाध मंगल | 2. कायापंथी |
| 3. श्वास गुंजार | 4. छप्पय कबीर का |
| 5. सत्संग को अंग | 6. साधौ को अंग |
| 7. ज्ञान सम्बोध | 8. अमर मूल। |
| 9. अनुराग सागर | 10. खण्ड की रमैनी |

- | | |
|--------------------------------------|---|
| 11. अलिफ नामा | 12. अक्षर भेद की रमैनी |
| 13. उगु ज्ञान मूल सिद्धान्त दश माना | 14. कबीर जी की साखी |
| 15. कबीर की बानी | 16. कर्म काण्ड की रमैनी |
| 17. कबीर परिचय की साखी | 18. चौका पर की रमैनी |
| 19. चौतीसा कबीर का | 20. जन्मबोध |
| 21. तीसा जंन्त्र | 22. पिय पहचानवे को अंग। |
| 23. बारामासी | 24. ब्रह्म निरूपण |
| 25. बीजक | 26. भक्ति का अंग |
| 27. भाषौ खंड चौतीसा | 28. रमैनी |
| 29. मंगल शब्द | 30. रेखता |
| 31. विवेक सागर | 32. विचार माला |
| 33. शब्द राग काफी और राग फगुना। | 34. शब्द अलह युग |
| 35. शब्द राग गौरी और राग भैरव | 36. शब्द वैशाली |
| 37. संत कबीर बंदी छोट | 38. सतनामा |
| 39. हिंडोरावरेखता | 40. सुरति संवाद |
| 41. हंस मुक्तावली | 42. ज्ञान गुदडी |
| 43. ज्ञान चौतीसी | 44. ज्ञान सरोदय |
| 45. ज्ञानस्त्रोत | 46. ज्ञान सागर |
| 47. अर्जानामा कबीर का | 48. कबीर अष्टम |
| 49. सुमार कबीर क त | 50. अठपहरा |
| 51. आरती कबीर क त | 52. शब्दावली |
| 53. उग्रगीता | 54. कबीर और धर्मदास की गोष्ठी |
| 55. निर्भय ज्ञान कबीर गोरण | 56. कबीर गोरठा की गोष्ठी, कबीर और शाह बलख |
| 57. बलख की पैज, कबीर और मुहम्मद साहब | 58. मुहम्मद बोध |
| 59. नाम महात्मा की साखी | 60. रम रक्षा |
| 61. रामसार | |

इनमें कुछ रचानाएं योग से कुछ साधु-संतो की महिमा से कुछ विनय से, कुछ नाम महात्मा से सम्बद्ध हैं। अधिकांश क तियाँ आध्यात्मिक ज्ञान से युक्त हैं। यह संख्या अविवादित नहीं है।

जब हम कबीर की वाणी की पाठ योजना पर दृष्टिपात करते हैं, तब हमें इसमें प्रयुक्त तीन पाठ दिखायी पड़ते हैं

1. पंजाबी पाठ
2. राजस्थानी पाठ

3. पूर्वी अवधी पाठ

पंजाबी पाठ के लिए 'गुरु ग्रन्थ साहब', राजस्थानी पाठ के लिए स्व० पुरोहित हरि नारायण का संग्रह तथा पूर्वी अवधी पाठ के लिए 'बीजकट' को देखा जा सकता है।

क. साखी

ख. सबद

ग. रमैनी

क. साखी -

साखी साक्षी का तद्भव शब्द है। कबीर द्वारा विरचित दोहे इसी में आते हैं। कबीर की साखियाँ अनुभव से अनुप्राणित हैं। कहा भी गया है कि साखी आँखिन ज्ञान की'। निस्संदेह कबीर ने अपनी साखियों में जीवन और प्रेम का व्यवहारिक अनुभव व्यक्त किया है। संकलित साखियाँ की संख्या 809 के आसपास मानी जाती हैं।

ख. सबद -

सबद 'शब्द' का तद्भव है। ये गेम पद हैं जो अनेक शास्त्रीय रागों पर आधारित हैं। इन्हें पद भी कहा जाता है। कबीर ने अपने पदों में ब्रह्म, जीव, माया, मोक्ष, जगत् आदि पर बड़ी गम्भीरता और दार्शनिकता से विचार किया है। एक उदाहरण द्रष्टक है जिसके माध्यम से कबीर के पदों की अन्तरात्मा में बड़ी सहजता से प्रवेश किया जा सकता है।

राम बिन तन की ताप न जाई,

जल मैं अगनि उटि अधिकाई।।

तुम्ह जलनिधि मैं जल कर मीनाँ, जल मैं रहों जलहिं बिन बीनाँ।।

तुम्ह प्यजरा मैं सुवनाँ तोरा, दरसन देहु भागु बड़ मोरा।।

तुम्ह सतगुरु मैं नौतम चेला, कहै कबीर राँम रमूँ अकेला।।

ग. रमैनी -

कबीर वाड.मय में बताया गया है कि रमैनी शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में हुआ है -

1. जिसमें संसार में जीवों के रमण का विवेचन हुआ है,
2. वेद शास्त्र के विचारों में रमण कराने वाली,
3. एक छन्द विशेष जिसके प्रत्येक चाप में सोलह मात्राएँ होती हैं।

स्पष्ट है। कि 'रमैनी' में जीव जगत् की दशा-अवस्था पर विचार किया है उदाहरणार्थ -

नाँ सो आवै ना सो जाई, ताके बंध पिता नहीं माई।।

चार विचार कुछ नहीं राकै, उनमनि लागि रहौ जें ताकै।।

को है आदि कवन का कहियै, कवन रहनि वाका हैं रहिये।।

कहै कबीर बिचारि कटि, जिनि को खो जै दूरि।।

ध्यान धरौं मन सुध करि, राँम रहया भरपूरि।।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि कबीर के साहित्य पर सत्यप्राय कुछ नहीं किया जा सकता है। रचनाओं की संख्या और रचनाओं के पाठ को लेकर पर्याप्त मतभेद है। किसी एक संग्रह को प्रामाणिक घोषित कर देना उचित नहीं प्रतीत होता है। फिर भी, कबीर साहित्य अपनी सीमाओं के बावजूद मानवता का, आत्मशुद्धि का और आत्म विस्तार का विस्तृत संदेश हमें देता है।

1. कबीर का युग

किसी भी व्यक्ति का युग ऐसा शक्ति और क तित्व को निश्चित रूप से प्रभावित करता है। महात्मा कबीरदास का जीवन और क तित्व भी इसका अपवाद नहीं है। कबीर के युग ने उनके जीवन और रचना संसार को बड़ी गम्भीरता से प्रभावित किया है और आन्दोलित भी किया है। उस युग का विवेचन निम्नलिखित शीर्षकों में किया जा सकता है-

(क) राजनीतिक वातावरण

शहाबुद्दीन गौरी का अन्त मुसलमानी शासक का प्रारम्भ था। अलाउद्दीन खिलजी (संवत् 1352-1372) की कठोरता और क्रूरता को भारतीय जनमानस भूला नहीं सकती है। उसकी धार्मिक कहरता और जजिया कर हिन्दुओं के लिए अभिशाप बन कर आया था। उसकी संकुचित मानसिकता और अतिचार का वर्णन करते हुए इतिहासकार बर्नी ने लिखा है कि हिन्दुओं को इतना दबा दिया गया था कि वे न घोड़ा रख सकते थे, न अच्छे वस्त्र पहिन सकते और न किसी प्रकार की विलास की वस्तुएँ ही इस्तेमाल कर सकते थे। उनके घरों में सोने चाँदी का निशान तक न रह गया था। निर्धनता के कारण उनकी बहू-बेटियाँ मुसलमानों के घरों में काम करके आजीविका कमाती थी।'

मुहम्मद तुगलक (संवत् 1325-1353) अलाउद्दीन से अलग नहीं था उसने भी भारतीय जनता को पीड़ित करने में कोई कमी नहीं छोड़ी। उसने तामे के सिक्के का प्रचलन शुरू किया जिससे देश की आर्थिक दशा बिगड़ गयी। राजधानी दिल्ली से देवगिरी तथा देवगिरी से दिल्ली से भी देश को काफी आर्थिक नुकसान हुआ।

सं० 1351 को फिरोजशाह दिल्ली की गद्दी पर आसीन होता है। फीरोजशाह धार्मिक दृष्टि से कट्टर बादशाह था। हिन्दुओं को मुसलमान बनाना और मन्दिरों को तोड़कर मस्जिद बनाना उसके लिए मामूली बात थी। उसके इन कृत्यों पर एस० आर० शर्मा ने लिखा है। कि 'उनके मन्दिरों और मूर्तियों को नष्ट भ्रष्ट कर दिया और उनके स्थानों पर मस्जिदें बनवा दी।'

'क्रूर तुर्कों ने हिन्दुओं के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिया।आठ वर्ष की अवस्था के ऊपर के सभी पुरुषों का वध करवा दिया।'

अत्याचार और अतिचार का यह तांडव रूकने का नाम नहीं ले रहा था। इसी बीच संवत् 1398 में तैमूर लंग का भारत में आगमन होता है। उसका आगमन किसी विनाश से मम नहीं था। इतिहास यजद के इस कथन से विनाश के इस प्रतीक की क्रूरता का अन्दाजा लगाया जा सकता है। वह लिखता है कि पूरे दिल्ली नगर को लूटा गया। जहाँ पनाह और सिटी के अनेक महल नष्ट कर दिये गये।हिन्दुओं के सिर काटकर उनके ऊँचे-ऊँचे ढेर बना दिये गये तथा उनके घड़ों को हिंसक पशुओं के लिए छोड़ दिया गया।

कबीर के युग के राजनीतिक वातावरण में इसके बाद सिकन्दर लोदी का नाम आता है। उसकी क्रूरता और स्वेच्छारिता भी अन्य शासकों से कम नहीं थी। उसकी प्रवृत्ति को उजागर करते हुए इतिहास वक्ता टिटस ने लिखा है कि इसलाम धर्म के प्रचार में उसका उत्साह अधिक था कि उसने एक एक दिन में पन्द्रह पन्द्रह सौ हिन्दुओं का वध करवाया। उस ने मथुरा के सभी मन्दिरों को तुड़वा डाला। हिन्दुओं को यमुना में नहाने से रोक दिया। इतना ही नहीं, उसने कबीर को भी नहीं बख्शा। लोगों का मत है कि कबीर को भी सिकन्दर लोदी का कवि या जन बनना पड़ा था। निम्नलिखित दो पद उस कोय से जोड़कर देखने का प्रयास किया जाता है। उदाहरणार्थ -

मन न डिगै ताथैं तन न डराई,

केवल रॉम रहेल्यौ लाई।।

अति अथाह जल गहर गंभीर, बौंधी जंजीर जलि बोरे हैं कबीर।

जल की तरंग उठि कटि है। जंजर, हरि सुमिरन तट बैठे हैं, कबीर।।

तथा -

बौंधि भुजा भलै करि डारयो, हस्ती कोपि मूँड में मारयो।।

भाग्यो हस्ती चीसो मारी, का मूरति की में बलिहारी।।

हस्ती न तोरें धरें धिमौन, बाकें हरि दें बसै भगवान।।

सिकन्दर लोदी के बाद भी आक्रमणों का यह सिल सिला समाप्त नहीं होता है। इसी युग में बाबर के आक्रमणों का आरम्भ होता है। लूट, संहार और रक्तपात रूकने का नाम नहीं। एस० आर० शर्मा लिखते हैं किबाबर ने 11 फरवरी, 1527 से हिन्दुओं के विरुद्ध त्रिहाद की घोषणा की। ऐसा कोई राजपूत कुल नहीं था। जिसमें श्रेष्ठ नायक का खून न बहाया हो। पानीपत का युद्ध व्यापक रक्तपात का जीता जागता उदाहरण हैं।

पानीपत के युद्ध में रक्तपात ही नहीं हुआ, वरन् धनघोर लूटपाट भी हुआ। लूट का सारा धन फरगान, खुरासान, कारागर और ईरान भेज दिया गया।

इस समस्त राजनीतिक भंयकरताओं को लक्षित करके डा० राम जी लाल सहायक ने लिखा है कि तत्कालीन हिन्दू जनता अनाचार, अत्याचार तथा स्वेच्छाचार और धर्मान्धता के नंगे नाच से अब चुकी थी। वह निराशा, भय, चिंता तथा अशांति की शिकार बनी हुई थी। हिन्दू संस्कृति एवं हिन्दू धर्म की प्राचीरें हिंसा उठी थी। हिन्दुओं को अपनी जीवन भर स्वरूप हो गया।

कबीर की कविता इन राजनीतिक विसंगतियों का अनदेखा नहीं करती है। किसी न किसी बहाने से कबीर ने इन अत्याचारों को अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है।

(ख) सामाजिक वातावरण -

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होता है, क्योंकि समाज उसके निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका प्रधान करता है। समाज से अलग रहकर उसका सारा निर्माण और स जन बेकार होता है। व्यक्ति का जैसा समाज होता है, वैसा ही उसका व्यक्तित्व और क तित्व होता है। जहां तक कबीर के समय के समाज का प्रश्न है, उस बारे में उल्लेख नीचे है। कि उस समय का समाज अनेक विसंगतियों तथा विद्रयताओं के शरण बहुत ही निराशा जनक था। सामान्य रूप से कबीर के सामाजिक वातावरण को दो वर्गों में रखकर देख सकता हैं।

1. शोशक वर्ग या उच्च वर्ग
2. शासित वर्ग या निम्न वर्ग

शासक वर्ग के अन्तर्गत राजे महाराजे बादशाह, काजी, अमीर-उमराव आदि आते थे। ये समाज के निम्न वर्ग से ऊँच होते थे। विलासिता और दुराचार इनकी प्रमुख प्रवृत्तियां थी। लोगों पर अतिचार करना इनका स्वभाव था। बादशाहों की विलासिता का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि फीरोजशाह बहमनी के अन्तःपुर में सभी देशों की हजारों सुन्दरियाँ थी।

कबीर के समय का समाज अनेक कुरीतियों से अतिक्रान्त था। परदे की प्रथा, बहु विवाह, बाल विवाह, दास प्रथा, बेगरी अरइइ इस युग की सामान्य बातें थीं। इस प्रकरम पर प्रकाश डालते हुए पी०डी० गुप्ता ने लिखा है कि पर्दे का रिवाज जोर पकड़ गया था, स्त्रियों की दशा अधिक सोचनीय थी। बाल विवाह, बहु विवाह यद्यपि पुराने रोग थे, इनमें वृद्धि हो गयी थी। गुलाम प्रथा का रिवाज अधिक हो गया था। निरन्तर वे लोगों में अज्ञान एवं अन्ध विश्वास का प्रसार व्यापक रूप से बढ़ने लगा था।

शोशित वर्ग का जीवन बड़ा कठिन था। उच्च वर्ग की भांति इनका भी जीवन अनेक प्रकार की बुराईयों से युक्त था। देखा जाये तो निम्न वर्ग की विलासिता का सहायक और पोषक था। उस समाज का समाज लोभ, लालच, मांसाध, मदिरापान, अभिमान, अंहकार, पाखण्ड, आडम्बर आदि से युक्त था।

यह भी उल्लेख करना समीचीन प्रतीत होता है। कि तत्कालीन सामान्य जन की शिक्षा चिकित्सा और सुरक्षा का कोई बन्दोबस्त नहीं था। शासक वर्ग इनसे पूर्णतः उदासीन था। जो कुछ साधन-सुविधा थी, वह सारी उच्च वर्ग के लिए थी।

कबीर का युग जातीयता और धार्मिक कट्टरता का युग था। वर्णाश्रम व्यवस्था अपने उत्कर्ष थी। चारों तरफ जातीयता और साम्प्रदायिकता का बोल बाला था। इसी समाज में घनधोर अन्धविश्वास व्याप्त था। ज्योतिष, जादू-टोना, शकुन-अपनाकुन, भूत-प्रेत मे उका पक्का विश्वास था। सब मिलकर कबीर के समय का समाज पतनोन्मुखी समाज था। सारे लोग नैतिक और मानसिक रूप से भ्रष्ट और कुष्ठित थे। कबीर ने इन सारी विसंगतियों और बुराइयों को बड़ी समीपता से देखा था, उन्हें अनुभव किया था, तभी उन्होंने अपनी रचनाओं में इनका उल्लेख किया है। कलियुग के स्वामी को लोभी बताते हुए उन्होंने लिखा है-

कलि का स्वामी लोभिया, मनसा धरी बधाइ।

राज दूवारों यों फिरै, ज्यूँ हरिहाई गाय।।

कुछ पंक्तियों और द्रष्टक हैं जिसमें पुनरावृत्त से उस युग की सामाजिक विसंगति सामाजिक आडम्बर ऊँची जातीयता तथा धार्मिक विषमता का उल्लेख और कबीर के द्वारा निषेध है -

जिनि कलयौं माहि पठावा, कुदरत खोजि तिनहै नहीं पावा।।

कर्म करीम भये कर्तूता वेद कुरान भये दोऊ रीता।।

क तम सुनित्य और जनेउ हिन्दू तुरक न जानै भेऊ।

मन मुसले की जुगति न जानै, भतिभूलै द्वै दीन बयानै।।

पाणी पवन संयोग करि, कीया है उतपाति।

सुनि में सबद समाइगा, तब कासनि कहियै जाति।।

कबीर ने ऊपर वर्णित अनेक प्रकार की सामाजिक बुराइयों को मिटाने का भरसक प्रयास किया है।

(ग) सांस्कृतिक वातावरण

सांस्कृतिक वातावरण के अन्तर्गत हम धार्मिक और साहित्य परिवेश की चर्चा करेंगे।

कबीर के युग के धार्मिक परिवेश का जहाँ तक प्रश्न है, उस बारे में उल्लेखनीय है कि उस युग में दो धर्म मुख्य रूप से प्रचलित थे। हिन्दू धर्म और इस्लाम धर्म। दोनों ही धर्मों में द्वन्द्व था, दोनों ही धर्मों में कहरता था, तथा दोनों ही धर्मों में पाखण्ड और बाह्याचार की प्रधानता थी। सब मिलाकार कहा जा सकता है कि वह युग धार्मिक दृष्टि से भी हसोन्नमुखता का युग था। मार्कोपोलो ने हिन्दू धर्म पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि हिन्दू लोग कट्टर निरमिष भोजी थे। वे अत्यधिक साफ-सुथरे रहते थे और छूत से बचने के लिए सबसे बर्तनों से पानी नहीं पीते थे। वे अन्धविश्वासी थे। फलित ज्योतिष, जादू-टोना, और शकुनों आदि शैतानी कलाओं में विश्वास करते थे।'

बाह्यचारों और बाह्यडम्बरों ने हिन्दू और मुसलम धर्म को, जैन धर्म, बौद्ध धर्म को निबरो विक त कर दिया था। इनके अनुयायी धर्म के असली स्वरूप से दूर हो गये थे। वे जीव हिंसा, बाल, मदिरापन, तीर्थ, व्रत, रोजा, नमाज, सुमति, मन्दिर, मस्जिद, बांग, अजान के चक्कर में पड़े गये थे। यह पद द्रष्टक है जिसमें कबीर ने धार्मिक पाखण्डों की कथंता व्यक्त की है। वे कहते हैं -

जोर करै मसकीन सतावे, गुन ही रहे छिपायें।

क्या तू जू जप मंजन कीर्ये, क्या मसीति सिर नाये।

रोजा करै निमाज गुजारें, क्या हज काबै जायें।।

ब्राह्ममण ग्यारसि करै चौबीसों, काजी महरम जानं।।

ग्यारह मास जुदे क्यूं कीये, एकहि मांहि समांन।।

जोर खूदाई मसीति बसत है, और मुलिककिस केर।

तीरथ मूरति राम निवासा, युहु में बिनहूँ न हेरा।।

पुरिब दिसा हरि का बासा, पछिम अलह मुकामो।।

दिलही खोजि दिल भीतरि, इहाँ राम रहिमाना।।

कबीर के समय के धार्मिक परिद नम पर विचार करते हुए राम जी लाल सहायक ने लिखा है कि कबीर के समय में धार्मिक परिस्थितियां विचित्र हो गयी थी। सभी मत-मतान्तरों और सम्प्रदायों में बाह्योपचार और पाखंड का समावेश था। उन्हीं पाखण्ड और आडम्बरों में सब उलझे हुए थे। इन्हीं आडम्बरों के आधार पर परसपर की कलह और फूट ने घर कर लिया था। सच्ची साधना का लोप हो चुका था। धर्म का द ति भाँति ह्रास देखकर कबीर अत्यन्त दुखी हुए।

जहाँ तक कबीर के युग की साहित्यिक परिस्थितियों का प्रश्न है, इस बारे में शांतव्य है। कि उस युग की भाषा सामान्य थी - यद्यपि लोकभाषा (मेथिली, ब्रज, अवधी) में भी रचनाएँ हो रही थीं। बादशाहों की रुचि और प्रयास से उर्दू-फारसी का भी बोलबाला हो गया था। फारसी दरबारों की भाषा थी। लोकभाषा सन्तों और भक्तों की भाषा थी। फिर भी, तथा कथित उच्च उच्चरणों का स जन आचार्यों द्वारा हो रहा था और वह संस्कृत भाषा में उर्दू-फारसी राजकीय भाषा होने के राज्य अनेक श्रेष्ठ मुर्तियां का अनुवाद कार्य भी हुआ। फिरोजशाह जैसे धर्म कहर बादशाह ने भी संस्कृत की अनेक कृतियों का फारसी में अनुवाद करवाया था।

कबीर का साहित्यिक ज्ञान अपने ढंग का था। यद्यपि उन्होंने घोषणा कर दी थी कि 'विधान पढ़ें वाद नहीं जानूँ। फिर भी उन्हें धार्मिक साहित्य का सम्पूर्ण ज्ञान था। इस ज्ञान के बावजूद उस साहित्य के प्रति उनकी कोई आस्था नहीं थी वर्णाश्रम व्यवस्था की अनुमोदित करता था, जाति व्यवस्था का पक्षधर था, पाखण्डों और अवतारों की व्याख्या करता था और तथाकथित अभिजात वर्ग से सम्बद्ध था। इसी सोच के कारण कबीर का अपने युग के कई शक्तियों से वैभवंत था या विवाद भी। कविताओं के अनेक प्रकरण और प्रसंग इस विवाद संवाद को कुंठित करते हैं।

(घ) आर्थिक वातावरण

कबीर के युग के आर्थिक ढाँचे और आर्थिक पक्ष की असमानता पर प्रकाश डालते हुए पी०डी० गुप्ता ने लिखा है कि धन का विभाजन इस समय बहुत असमान था। जागीरदार और अमीरों के पास सोना, चांदी एकत्रित हो गया था और साधारण जनता के पास बहुत कम धन रह गया था।

उस युग में धन का असमान वितरण था। शासक वर्ग के पास अपार वैभव और भोग विलास की सामग्री थी जबकि शोषित वर्ग रोटी के लिए निरन्तर संघर्षरत था। इतना ही नहीं, शोषित वर्ग के धन का ही शोषण नहीं था, उसके श्रम का भी घनघोर शोषण था। सत्राधारी लोग बैंगार लेते थे। किसी विशेष राजपूत ने विजयनगर के राजा के वैभव के बारे में लिखा है कि बादशाहों वास्तव में, उसकी यह सूचना कमोबश सारे राजाओं और बादशाहों पर घटित होती है वैभव की उन्नति पर वह लिखता है कि सन्ध्या के समय दरबार में मैं उपस्थित हुआ और पाँच सुन्दर घोड़े तथा दो थाल जिनमें दो दो साटन और बूटेदार कपड़े के थान थे, भेंट दिये। राजा चालीस खम्भा मण्डप में राजछत्र के साथ बैठा हुआ था और उसके बाईं-दाईं ओर ब्रह्मणों तथा अन्य लोगों की बड़ी भीड़ खड़ी हुई थी। वह साटन के वस्त्र धारण किये हुए था और रंग में शुद्ध तथा सर्वोत्कृष्ट मोतियों की माला पहने था, जिस का मूल्य आंकना एक जोहरी के लिए कठिन था।"

दूसरी तरफ श्रमजीवी और शिल्पकार थे जिनका आर्थिक जीवन बड़ा स्पष्टकर था। उनके ऊपर अनेक प्रकार के कर थे। इन पर डा०सहायक ने लिखा है कि हिन्दू, शिल्पकार श्रमजीवी तथा निम्नश्रेणी के लोगों की आर्थिक दशा सर्वाधिक चिन्तनीय थी। विविध भांति के करो काभार इनके ही ऊपर था। जजिया कर जो अधीन प्रजा से वसूल किया जाता था; और उपज का जो कर्षकों को देना पड़ता था। व्यापारियों को व्यापार कर देना पड़ता था। तथा अधीन प्रजा द्वारा की गई उपज की वस्तुएँ एक आनुपातिक दर से राजकोष के लिए भेजनी पड़ती थी।”

सब मिलाकर उल्लेखनीय है कि सामान्य जनता सत्ता से, अति से, अनावृष्टि से, अमात से, लुटेरों से अत्यन्त त्रस्त तथा पीडित थी। उनका सामाजिक और आर्थिक जीवन वद से बदतर था। अमीर खुसरो ने लिखा है कि शासकों के मुकुट का हर मोती किसानों के रक्त बिन्दुओं से बना है। इसका अर्थ यही है कि जन साधारण के परिश्रम की कमाई का पैसा सुलतानों के विलासमय कार्यों में व्यय होता था।

कबीर ने अपने युग की इस और ऐसी आर्थिक विषमता का व्यासयिक चित्र अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से यह चित्र देखिए जिससे उनके युग का सारा आर्थिक वातावरण चित्रित हो उठता है :-

निर्धन आदर कोई न देई।

लाख जतन करे ओहूचित न धरेई,

जो निर्धन सर धन के जाई।

आगे बैठा पीठ फिराई।।

दीया आदर लिया बुराई।

निरधन सरधन दोनों भाई।।

प्रभू की कला न मेटी जाई।।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कबीर के युग का राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक वातावरण विषय तथा प्रतिकूल था। उस वातावरण में समन्वय और सद्भाव पैदा करने का कार्य कबीर ने किया है। वास्तव में, कबीर अपने युग के सच्चे समन्वयवादी और मानवतावादी सन्त-कवि थे।

4. कबीर की सामाजिक विचारधारा

साहित्य और समाज का मानव जीवन के साथ गहन सम्बन्ध है क्योंकि मानव के सोच-विचार, क्रियाकलाप उसकी चिन्तनशीलता आदि सभी समाज से जुड़ी होती है और समाज की सभी घटनाओं के साहित्यकार अपने साहित्य के माध्यम से व्यक्त करता है। साहित्यकार की कोई भी घटना अपनी घटना नहीं होती हैं, अपितु उस घटना का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में समाज से ही सम्बन्ध होता है। समाज से अलग साहित्यकार का अस्तित्व अन्धकारमय होगा। इसलिए साहित्यकार जीवन के प्रत्येक कदम पर समाज से प्रभावित होता चलता है।

सन्त कबीरदास का काव्य भी समाज से निरपेक्ष नहीं है, अपितु उनकी कविता समाज सापेक्ष है। समाज में हो रहे विभिन्न परिवर्तनों ने उनके साहित्य को भी प्रभावित किया है। सन्त कबीर ने समाज की बुराइयों को अपनी आँखों से ही नहीं देखा था, अपितु सहन भी किया था। उस युग का सामाजिक वातावरण दूषित था। सम्पूर्ण समाज विभिन्न वर्गों में विभक्त था तथा लगभग सभी वर्गों के लोगों का नैतिक दृष्टि से पतन हो चुका था। समाज में सभ्य कहा जाने वाला वर्ग निरन्तर स्वार्थी होता जा रहा था। सभी काजी, मौलवी एवं पण्डित समाज को विभिन्न भ्रमों में डालकर लूट रहे थे। नारी जो समाज में उच्च स्थान की अधिकारिणी रही है, वह केवल काम वासना और भोग की वस्तु बन गई थी। जिससे समाज में जहाँ एक ओर पर्दा-प्रथा, अनमेल-विवाह, बहु-विवाह जैसी बुराईयाँ फैल रही थी वहीं दूसरी तरफ चोरी, बेइमानी, झूठ धोखा और हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ भी जोर पकड़ रही थी।

सन्त कवि कबीर दास सामाजिक बुराईयों को युगद्रष्टा की परखी नजर से निहार रहे थे। उनके सामने व्यक्ति का पतन हो रहा था। धार्मिक कट्टरता के कारण हिन्दू धर्म और मुसलमानों में परस्पर वैमनस्य की भावना दृढ़ होती जा रही थी। हिन्दुओं को जहाँ एक ओर अपने धर्म में आस्था थी वहीं मुसलमानों को मुस्लिम धर्म में पूर्ण विश्वास और श्रद्धा थी। वे दोनों अपने अपने धर्म का प्रचार प्रसार करने के उद्देश्य हेतु अनेकों बुराईयों से लिप्त हो गए थे। साधारण व्यक्ति अपने चारों ओर के इस अन्धकारमय वातावरण से दुखी एवं पीड़ित था, जिससे वह त्राहि-जाहि कर अटा। ऐसी भंयकर समाज विरुद्ध स्थिति को देखकर प्रबुद्धचेता एवं समाज-सुधारक कवि कबीरदास जी निश्चित होकर नहीं बैठ सकते थे। उनका मन इन सभी सामाजिक विषमताओं से आहत हो उठा। जिसके विरोध में उन्होंने सामाजिक सुधार का नारा बुलन्द किया। उन्होंने समाज में व्याप्त अनेक प्रकार के आचरिक और मानसिक विकारों को निर्मूल करके आर्दश समाज और आर्दश मानव की संकल्पना की। अपनी इसी कामना की पूर्ति के लिए उन्होंने सामाजिक विसंगतियों पर बड़े तीव्र और तीखे प्रहार किए। वस्तुतः सन्त कबीर की सामाजिक दृष्टि को निम्नशिर्षकों के अर्न्तगत विभाजित किया जा सकता है।

जाति व्यवस्था का निषेध :-

सन्त कबीर दास जी की भावना मूलतः विस कति भाव की थी, परन्तु उन्होंने सामाजिक जीवन से अलग होकर साधना करने पर बल नहीं दिया, बल्कि इसकी अपेक्षा उन्होंने लोक जीवन में ही रहकर वैराग्य की साधना को अधिक महत्वपूर्ण माना है। इसी भावना के कारण सन्त कबीर ने वैदिक काल से चली आ रही वर्ण-व्यवस्था में जातियों उपजातियों को सकारात्मक या नकारात्मक रूप से रेखांकित किया है। इनके युग में जाति व्यवस्था विकृत रूप से फैल चुकी थी। समाज जातियों तथा उपजातियों में विभक्त हो चुका था। चतुर्वर्ण और आश्रम व्यवस्था विनष्ट सी हो गई थी। लोग अपने विहित मार्ग से विलग हो गए थे :-

1. पण्डित भूले पठि ग्रंथ वेदा, आप न पावै नांनं भेदा।

संध्या तरपन अरु षट करमां, लागि रहे इनके आशरमां।

गायत्री जुग चारि पढाई, पूछौ जाइ कुमति किनि पाई।।

सब में राम रहे ल्यों सींचा, इन थे ओर कही को नीचा।

अति गुरु गरब करै अधिकाई, अधिकै गरब न होई भलाई।

कहकर पण्डितों की अधोगति का उल्लेख किया है।

कबीर दास जी छुआछूत और जाति व्यवस्था को समाज में भेदभाव फैलाने वाले तत्व के रूप में स्वीकारते हैं। छुआछूत और जाति-पाति को फैलाने वाले पण्डितों और मौलवियों दोनों को उन्होंने फटकार लगाई है। इनकी दृष्टि में जन्म से कोई व्यक्ति न तो ऊँचा होता है और न ही नीचा, अपितु जाति व्यवस्था की देन ईश्वर की न होकर समाज के अभिजात वर्ग द्वारा निर्मित की गई है। इसी सम्बन्ध में कबीर दास कहते हैं -

जो तौहि करता बरन बिचारा, जनमत तीनि दण्ड अनुसार।

जन्मत सूद्र मुए पुनि सूद्रा, ध तम जनेउ डारि जग मुद्रा।

जो तुह तुरक तुरकिनी जाया, पेटे काहे न सुनति न आया।

कारी पियरी दुधू गाई, ताकर दुध देहु बिलगाई।

सन्त कबीर ने हिन्दू और मुसलमानों द्वारा समाज में फैलाई जाति व्यवस्था का ही विरोध नहीं किया है अपितु समाज में व्याप्त अनेक धर्मों - शैष, शाक्त और वैष्णव के भेद को भी रेखांकित किया है। उन्होंने शाक्त से भला सुअर को माना है जो गाव की सफाई रखता है। शाक्त की संगति को काले मटके के समान मानकर त्याज्य माना है -

साषत संगु न कीजिए, दूराहि जइसे भागु।

बासन कारो परसिये, तरु कछु लागे दागु।।

अतः स्पष्ट है कि सन्त कबीरदास जी ने समाज निर्मित जाति को नकारते हुए ईश्वरीय जाति को स्वीकार किया है। इनकी साधना का प्रधान लक्ष्य था कि मनुष्य इन जाति बन्धनों से छुटकारा पाकर ईश्वरत्व को स्वीकार करे और समाज में फैली विभिन्न जातियों को नकार कर के प्रेम का मार्ग अपनाएँ एवं एक दूसरे के सहयोग से जीवन यापन करे।

सामाजिके व्यवस्था और विश्वास के प्रति दृष्टिकोण :-

प्रत्येक समाज की अपनी संस्कृति होती है, जो अपने ही रीतियों एवं विश्वासों पर आधत होती है। लोकजीवन में लोक विश्वासों और लोक मान्यताओं की विशेष महत्ता है। जिस जाति का सांस्कृतिक आधार जितना पुराना होगा, उसमें प्रचलित कुकर्मों के लिए नरक की प्राप्ति होती है। संसार में वे मनुष्य ही इस नरक से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, जो ईश्वर की अराधना करते हैं, उसके नाम का स्मरण करते हैं:-

कहै कबीर दोउ गये नरक महँ,

जिन हरदम राम न जाना।।

मूर्तिपूजा -

सन्त कबीर दास ने अपने युग में व्याप्त मूर्तिपूजा का विरोध किया है, क्योंकि ईश्वर की प्राप्ति मन से की जाती है न कि मूर्तियों की पूजा करने से। मूर्तियों पर उपहास करते हुए कबीर ने कहा है - 'पाथर पूजे हरि मिलै, तौ मै। पुजुँ पहार।' उन्होंने उन लोगों का भी विरोध किया है जो मूर्ति पूजा में ही अपना ध्यान रमाये बैठे रहते हैं और सत्कर्म से मुहँ मोड़ चुके हैं।

पाण केरा पूतला, करि पुजै करतार।

हि भरोसे जे रहे, ते बूड़े काली धार।।

सन्त कबीर ने हिन्दुओं को ही फटकार नहीं लगाई है, अपितु मुसलमानों की भी भर्त्सना की है।

कांकर-पाथर जोरि कै, मस्जिद लई चुनाय।

ताँ चढ़ि मुल्ला बाँग दें, बहिरा भया खुदाय।।

अन्धविश्वास -

भारतीय समाज में सामान्यतः लोगों की मान्यता रही है। कि गेरुए वस्त्र पहन कर, गले में माला धारण करके, तीर्थ स्थानों पर स्नान करके, जप-तप से ईश्वर को प्राप्त किया जाता है, परन्तु सन्त कबीर दास ने गेरुए वस्त्र माला तीर्थ स्थान तिलक, जप-तप आदि को मिथ्या माना है। उन्होंने वस्त्रों के सन्दर्भ में कहा है कि -

मन न रंगाये, रंगार्ये जोगी कपड़ा।

आसन मारि मन्दिर में बैठे, नाम छाँड़ि पूजन लागे पत्थर।

कनवा फडाय जोगी जटवा बढोले, ददिया बढाय बनि मै लै बकरा।

माला के सम्बन्ध में -

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहि।

मनुवाँ तो चहुँ दिसी फिरैं, सो तो सुमरन नाँहि।।

तीर्थ स्थान के सम्बन्ध में -

जल कै मंजनि जे गति होई, नित-नित मँडुक नावाहि।

जैसे मँडुक तैसे ओइ नर, फिर-फिर जोनी आवहि।।

जप-तप के सम्बन्ध में -

जप तप दीसै थोथरा, तीरथ ब्रज बेसास।

सूवें सँबल सेविया, यों जग चल्या निरास।

इस प्रकार हिन्दू समाज के जिस जिस क्षेत्र में आडम्बर एवं अन्धविश्वास था, कबीर ने उनका विरोध किया है।

नारी विषयक चिन्तन :-

सन्त कबीर की कविताओं, नारी विषयक चिन्तन का सर्वथा अभाव दिखाई पड़ता है, क्योंकि उनकी कविताओं का लक्ष्य ईश्वर महिमा का गायन करना था न कि नारी विषयक चिन्तन प्रस्तुत करना। फिर भी उनकी कविताओं में नारी के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। सन्त कबीर ने नारी के दो रूपों की अवतारणा की हैं - एक तो कामिनी रूप की और दूसरे सती रूप की।

नारी के कामिनी रूप में कबीर दास ने नारी के निन्दनीय रूप को चित्रित किया है, क्योंकि उनकी दृष्टि में नारी नरक का द्वार है और ईश्वर प्राप्ति में बाधक भी। नारी के संसर्ग से साधकको ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

नारी की झाँड़ पड़त, अन्धा होत भुजंग।

कबिरा तिनकी मौन गति, जो नित नारी के संग।।

कह कर नारी के साहचर्य की आलोचना की है और साधुओं को सचेत करते हुए कहा है।

जोगिया खेलियों बचाय के नारि नैन चलैं बान।

सिंगी की भिंगी करी डारि, गोरख के लिपटान।।

कामदेव महादेव सतावै, कहा कहा कशै बखान।

आसन छोड़ मच्छन्दर भागे, जल में मीन समाना।।

इस कामिनी नारी की शक्ति के सामने बड़े-बड़े शक्तिशाली व्यक्तित्व वाले श्रंगी ऋषि, गोरखनाथ, महादेव, मत्स्येन्द्रनाथ सरीखे देवर्षि भी नहीं बच पाये हैं।

सन्त कबीर दास जहाँ एक ओर कामिनी नारी की कठोरता के साथ भर्त्सना करते हैं, उसे त्याज्य मानते हैं, उसके साहचर्य से दूरी चाहते हैं, वहीं दूसरी तरफ पतिव्रता नारी को वे बड़ा मान सम्मान प्रदान कर गौरवान्वित करते हैं। पतिव्रता नारी न केवल अपने पति के ही प्रति अपनी भावनाओं को उद्वेलित करती है। अपितु वह माता बनकर समाज का निर्माण भी करती है। वह अपने सहकर्मों से अपने पुत्र समाज को प्रेरणा प्रदान करती हैं। इतना ही नहीं, वह नाना गुणों से अन्वित होती हैं।

कबीर का यह पद दृष्टव्य है:-

हरि जननी मैं बालक तेरा, काहे न औगुण बकसहु मेरा।

सुत अपराध करै दिन केते, काहे न औगुण बकसहु मेरा।।

कर गहि केस करै जो घाता, तरु न हेतु उतारै माता।

कहै कबीर एक बुधि बिचारी, बालक दुखी दुखी महतारी।

इसलिए नारी के बाह्य रूप की अपेक्षा कबीर ने उसके आन्तरिक पक्ष निर्मलता, कोमलता, एवं शुद्धता की ओर उन्होंने ध्यान दिया है। बाह्य गुणोंके स्थान पर आन्तरिक गुणों का विशिष्ट महत्व स्वीकार किया है। इसलिए सन्त कबीर दास जी कहते हैं

पतिबरता भैली भली, काली कुचित कुरूप।

अतः कबीर ने अपने काव्य के माध्यम से जहाँ कामिनी नारी की भर्त्सना की है, वहीं दूसरी तरफ पतिव्रता नारी को पूज्य माना है और नारी समाज का आह्वान किया है कि नारी पतिव्रता का धर्म ग्रहण करे।

सामाजिक नैतिकता की प्रतिष्ठा :-

सन्त कबीरदास न जहाँ समाज में व्याप्त पाखण्डों और अन्धविश्वासों का खण्डन किया है वहीं समाज सुधार के लिए उन्होंने नैतिक आदर्शों का भी प्रतिपादन किया है। उन्होंने मानव जीवन को परिष्कार हेतु काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि को निन्दनयी मानकर उसे त्यागने का सन्देश दिया है, वहीं सत्य, दया, प्रेम परोपकार, संतुसंगति एवं अहिंसा आदि का भी महत्व प्रतिपादित किया हो। इन नैतिक आदर्शों को ग्रहण करके ही कोई व्यक्ति सच्चे अर्थों में सामाजिक प्राणी कहला सकता है। उन्होंने नीति के निम्न तत्त्वों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है

सन्त कवि कबीरदास ने सत्य से बड़ा कोई धर्म ही नहीं माना है। सत्य के आधार पर ही साधारण मनुष्य भी उच्चता को ग्रहण कर सकता है। इसके विपरित यदि कोई व्यक्ति झूठ का सहारा लेता है तो उसका शरीर अनेक बुराईयों से युक्त हो जाता है। अतः जो मनुष्य झूठ बोलता है वह पापी है और पापी व्यक्ति का संसार में कोई हितैषी नहीं होता है।

सांच बराबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप।

जाकै ह दय सांच हैं, ताके ह दय आप।।

स्पष्ट है कि ईश्वर भी उसी व्यक्ति की सहायता करता है जो सत्यता के मार्ग पर चलता है। सन्त कबीर का विश्वास है कि जो मनुष्य झूठ बोलता है, वह लाख प्रयत्न करने पर भी अपना भला नहीं कर सकता है। अतः मनुष्य सत्यता जैसे गुण को ग्रहण करने पर भी अपना भला नहीं कर सकता। उसके सुख, समृद्धि का आधार तो केवल मात्र सत्यता है। अतः मनुष्य

सत्यता जैसे गुण को ग्रहण करना चाहिए तभी उसके जीवन की सार्थकता सिद्ध हो सकेगी।

सबही ते सांचा भला, जो दिल साँचा होय।

सांचा बिन सुख नाही है, कोटी करै जो कोय।।

कबीर दास ने दया को सार तत्व के रूप में स्वीकार किया है। प्राणी का धर्म है कि वह अपने अधीन प्राणियों पर दया करे, इसी से उसका जीवन उपलब्धिमय हो सकेगा। इसके विपरीत जिस मानव में दया धर्म नहीं है, उसका जीवन नीरस है। सन्त कबीर का मत है कि जो दूसरों के दुख को देखकर उस दुख को दुखी होता है। और उन पर अपनी दया दृष्टि करता है, वह इस संसार में पीर तुल्य है।

कबिरा सोई पीर है, जो जाने पर पीर।

जो पर पीर न जानई, सो काफिर बेपीर।।

सन्त कबीरदास ने प्रेम का जीवन में विशेष महत्व स्वीकार किया है। इनका पूरा काव्य प्रेम के ओत प्रोत है। उन्होंने मनुष्य के प्रेम के साथ जीवन जीने का सन्देश दिया है तथा उन लोगों के जीवन को निष्काम मानते हैं जो प्रेम नहीं करते हैं।

जिहिं घटि प्रीति न प्रेम रस, पुननि रसना नहिं राम।

ते नर इस संसार में उपजि षये बैकाम।।

कबीर ने समाज में व्याप्त अनेक धर्म और धर्म के आधार पर बटें हुए लोगों तथा उनकी जातियों पर भी व्यंग्य किया है। उनकी दृष्टि में जन्म से कोई व्यक्ति ज्ञानस्वान् नहीं कहला सकता है, बल्कि वही व्यक्ति ज्ञानी है। जिसने प्रेम के महत्व को स्वीकार कर लिया है। इसीलिए कबीर जी कहते हैं:-

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।

ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़े सो पण्डित होय।

मनुष्य जीवन पर संगति का विशिष्ट प्रभाव स्वीकारते हुए उन्होंने कुसंगति का त्यागने और संतसंगति को ग्रहण करने के लिए कहा है। क्योंकि कुसंगति मनुष्य से सदैव बुरे कर्म करवाती है। वहीं दूसरी तरफ कुसंगति मनुष्य से सदैव बुरे कर्म करवाती है, वहीं दूसरी तरफ संतसंगति से मनुष्य जीवन का परिष्कार होता है। इसलिए मनुष्य को सदैव सज्जन पुरुषों के साथ रहना चाहिए क्योंकि ये मनुष्य की बुरी प्रवृत्तियों को दूर करके सद्गुणों का विकसित करते हैं।

कबीर संगति साध की , बेंगि करीजै जाई।।

दुरमति दूरी गवाइंसी, देसी सुमति बताइ।।

इस प्रकार से सन्त कबीर दास ने नैतिक दृष्टि से लोगों में चेतना जागृत की है तथा विश्वास व्यक्त किया है कि सद् प्रवृत्तियों से ही मनुष्य अपने ही आचरण में सुधार कर सकता है। अतः मनुष्य को पाशविक प्रवृत्तियों को छोड़कर सात्विक प्रवृत्तियों को ग्रहण करना चाहिए। इस भावना को ग्रहण करने से मनुष्य तन, मन, आचार, विचार, कथनी और करनी से निर्दोष और निर्मल हो जाता है, तथा उसका चरित्र आदरणीय एवं अनुकरणीय हो जाता है।

कबीर की सामाजिक विचारधारा पर विचार करने के बाद कहा जा सकता है कि कबीर सच्चे समाज सुधारक थे। उनकी सामाजिक चेतना बड़ी स्वच्छ और सर्मथ थी। इसलिए उन्होंने अपनी बाणियों से समाज के लिए निम्नलिखित कार्य किया

1. बाह्याचार और बाह्याडम्बर का निषेध
2. निगुर्ण निराकार ब्रह्म की स्थापना
3. सत्याचरण की प्रतिष्ठा

4. सामाजिक विषमताओं और व्यवस्थाओं का खण्डन
5. सहज और मानव हितकारी व्यवस्थाओं को खण्डन।
6. सामाजिक समता का संक्षेप
7. **धार्मिक सौहार्द स्थापन**

इस सारी स्थितियों को कबीर ने बड़ी तार्किकता से विवेचित किया है। निष्कर्ष रूप में हम गोविन्द त्रिगुणायत के शब्दों में कह सकते हैं :-

इस प्रकार कबीर की सद्समाज प्रियता उनकी विचारधारा में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित दिखलाई पड़ती है। उन्होंने परम्परागत अन्धविश्वासों, प्रथाओं और संस्थाओं का मूलोच्छेदन करके धर्म दर्शन और समाज सभी क्षेत्रों में बुद्धिवादी साम्यवाद प्रतिष्ठित किया था। अपने लक्ष्य की पूर्ति उन्होंने इसमें कोई भी संन्देह नहीं, बड़ी कटुता के साथ की है। यह कटुता कहीं कहीं अपने अतिरूप में दिखलाई पड़ती है। इनको देखकर ऐसा मालूम होता है कि कबीर किसी प्रकार की पक्षपात पूर्ण दुर्भावनाओं से प्रेरित थे, किन्तु हमारी समझ में इस की कट आलोचनाओं के मूल में उनकी अखण्ड प्रकृति बहुत थी। पक्षपात पूर्णता बहुत कम। वास्तव में उनका साम्यवाद भारत के लिए एक मौलिक देन है। इसी के आधार पर चलकर आज भी भारत का उद्धार हो सकता है।

5. कबीर का रहस्यवाद

हे अन्नत रमणीय! कौन तुम?

यह मैं कैसे रह सकता?

कैसे हो? क्यों हो? इसका तो

भार विचार न सह सकता

-प्रसाद

वस्तुतः-

कामायनी के उपर्युक्त छन्द में रहस्यवाद की लगभग समस्त मान्य अवधारणाएँ अन्तर्निगूढित हैं। सामान्यतः रहस्यवाद के अर्थ एवं स्वरूप को आकारित करना अत्यन्त दुरुह एवं निगूढ कार्य है, फिर भी आचार्यों; विद्वानों ने उसे शब्दायित करने का प्रयास किया है। हिन्दी साहित्यान्तर्गत रहस्यवाद को एक विशुद्ध साहित्यिक धारा के रूप में मान्यता मिली है। यह शब्द 'रहस्य' और 'वाद' दो शब्दों से बना है। 'रहस्य' शब्द का तात्पर्य है गुप्त, निगूढ या छिपी बात तथा 'वाद' एक विशिष्ट धारा, प्रवृत्ति अथवा शैली की अभिव्यंजना करता है। इस प्रकार रहस्यवाद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हुआ वह काव्यधारा जिसका उत्स अज्ञात, गुप्त और निगूढ सत्ता का अनुभावन है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि परमेश्वर ही ऐसी सत्ता हैं। रहस्यवाद की स्वरूपगत निगूढता को ध्यान में रखते हुए विद्वानों ने रहस्यवाद की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं। कतिपय प्रसिद्ध परिभाषाओं की प्रस्तुति इस प्रकार की जा सकती है।

स्पर्जन के अनुसार -“रहस्यवाद वास्तव में एक प्रकार की मनोदशा है, सिद्धान्त नहीं; एक प्रकार का आध्यात्मिक वातावरण है, कोई दर्शन-पद्धति नहीं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार -“चिन्तन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है भावना के क्षेत्र में वहीं रहस्यवाद है।”

डा० गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार -“संक्षेप में हम रहस्यवाद को ब्रह्म के आध्यात्मिक स्वरूप से आत्मा की भावात्मक ऐक्यानुभूति के इतिहास का प्रकाशन कह सकते हैं।”

उक्त परिभाषाओं की मीमांसा करने पर रहस्यवाद के स्वरूप के सन्दर्भ में निम्नलिखित तथ्य प्राप्त होते हैं:-

1. रहस्यवाद काव्य की एक विशिष्ट धारा है।
2. रहस्यवाद अद्वैतवाद के हृदय से निकला है।
3. रहस्यवाद आत्मा-परमात्मा के तादात्म्य की गाथा हैं, इसमें आत्मा-परमात्मा के प्रणय का प्रस्फुरण होता है।
4. आत्मा-परमात्मा के तादात्म्य में प्रकृति अनुरागमयी बनकर मिलन के माध्यम का स्वरूप ग्रहण कर लेती है।

सारांशतः कहा जा सकता है कि उस अज्ञात परम सत्ता के प्रति जिज्ञासा प्राप्ति की उत्कट लालसा तथा तदनुरूप हो जाने की कामना का नाम रहस्यवाद है।

सन्तों की कविता में पर्याप्त मात्रामें रहस्य की भावना वर्तमान है। सन्त कबीर भी इसके अपवाद नहीं हैं। उनके काव्य में निहित रहस्यवादी चेतना का अध्ययन इस प्रकार किया जा सकता है:-

कबीर के रहस्यवाद की अवस्थाएँ

रहस्यवाद के चिन्तकों ने रहस्यवाद की कई स्थितियाँ मानी है। मिस अन्डरहिल ने रहस्यवाद की निम्नलिखित अवस्थाएँ बतायी है-

1. जाग ति की अवस्था
2. परिष्करण की अवस्था
3. अंशानुभूति की अवस्था
4. विधनावस्था
5. मिलनावस्था

इनके अतिरिक्त, विद्वानों ने रहस्यवाद की एक अवस्था और भी स्वीकार की है। इस प्रकार रहस्यवाद की छः अवस्थाएँ हो जाती हैं। कबीर के काव्य में रहस्यवाद की इन विविध दशाओं का सुन्दर निरूपण मिलता है। उसका वर्णन निम्नवत है-

1. **जाग ति की अवस्था :-** रहस्यवाद के अन्तर्गत जाग ति या जागरण की अवस्था उसे कहते हैं जिसमें आत्मा परमात्माविषयक चर्चा को सुनकर जग जाती है। जागरण सम्बन्धी यह कार्य कोई ज्ञानी गुरु ही करता है। उसकी प्रेरणा से साधक में ज्ञान का उन्मेष हो जाता है और वह इस मिथ्या संसार के प्रति विरागी बन जाता है। उसकी सारी चेतना ब्रह्म की ओर उन्मुख हो जाती है और परमसत्ता के लिए उसके मन में जिज्ञासा और लालसा की भावना भर उठती है। अन्तर्ज्ञान की उत्पत्ति और जागरण की अवस्था के कारण कवि कबीर भी बड़े व्यग्र दिखाई देते हैं। वे जानना चाहते हैं कि जिस परमात्मा का न कोई वेष है, न रूप है, न रंग है, वह कैसा है? क्या है? म त्तु के पश्चात् प्राण कहाँ जाते हैं, मरा जीव किसमें समा जाता है? आदि आदि। कबीर का यह पद इस दृष्टि से द्रष्टव्य है -

सो कछू विचारहु पंडित लोई, जाकै रूप न रेष वरण नहीं कोई।।

उपजै त्यंड प्रान कहाँ थैं आवै मूवा जीव जाई कहाँ समावै।

इंद्री कहाँ करिहि विश्रामा, सो कल गया जो कहता रामा।

पंचतत तहाँ सबद न स्वांद, अलख निरंजन विद्या न बांद।

कहै कबीर मन मनहि समानाँ, तब आगम निगम झूठ करि जानाँ।।

जाग ति की अवस्था वह दशा है जो साधक को अपने मन्तव्य की प्राप्ति के लिए ऊर्जा प्रदान करती है।

2. **परिष्करण की अवस्था :-** गुरु से ज्ञान प्राप्त करके साधक परमात्मा को प्राप्त करने के लिए, साक्षात्कार के लिए व्याकुल हो उठता है और जब वह उसका दर्शन प्राप्त नहीं कर पाता है तब साधना की तरफ उन्मुख हो जाता है। साधना की यही ईश्वरोन्मुखता परिष्करण कहलाती है। परिष्करण की इस प्राजल अवस्था को सन्त कबीर तो बड़ी गहराई से अनुभव करते हैं। कतिपय दोहे इस दृष्टि से विशेष संलक्ष्य है -

सतगुरु मार्या वाण भरि, धरि धरि सूधी मूठि।

आंग उघाड़े लागिया, गई दवा सूँ फूटि ।।

सतगुरु लाई कमाँण करि, वाहण लागा तीर।

एक जु बाह्य प्रीत सूँ, भीतरि रह्या सरीर।।

3. **अंशानुभूति की अवस्था :-** अंशानुभूति की दशा ऐसी अवस्था है जिसमें साधक साध्य की सत्ता स्वरूप की अनुभूति करता है। इस अनुभव की क्रिया से साधक का हृदय भाव विभोर हो जाता है। इस भाव विभोरता का चरमोत्कर्ष पर पहुँचने में स्मरण नाम-जप आदि साधना (भक्ति) की पद्धतिया बड़ा योगदान देती है। कबीर ने इस भावना की बड़ी मार्मिक अभिव्यंजना की है -

मेरा मन सुमिरै राम कूं मेरा मन रमहि आप
अब मन रामहि हवै रह्या सीस नवाँऊ काहि ।।

तथा -

तू तू करता तू भया मुझसे रही न हूँ।
बारी फेरी बलि गई जित देखू तित तू ।

4. **विघ्नावस्था :-** साधक और साध्य के मिलन में जो तत्त्व अवरोध बनते हैं, उन्हें विघ्न कहा जाता है। भारतीय धर्म, साधना और साहित्य में इसे माया की संज्ञा दी जाती है। हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत इस माया का सविस्तार वर्णन सन्तों, भक्तों, कवियों ने किया है। सन्त कबीर ने माया को बहुत बड़ी 'ठगिनी' बताया है। वह माया बहुत मधुर है। उसे छोड़ा नहीं जा सकता है। वह अज्ञानी मनुष्यों का भक्षण करती है -

मीठी मीठी माया तजी न जाई।
अग्यानी पुरुष को भोली - भोली खाई ।।

तथा -

कबीर माया पापणी, हरि सूं करे हराम।
मुखि कड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम।।

5. **मिलन और तादात्म्यीकरण की अवस्था :-** रहस्यवाद की अन्तिम अवस्था मिलन और तादात्म्यीकरण की अवस्था मानी गयी है। सन्तों और कवियों ने इस अवस्था के बड़े ही उत्तेजक और हृदयस्पर्शी चित्र उकेरे हैं। कबीर आत्मा-परमात्मा के भावानमय लोक का मधुर रूप रूपायित करते हुए लिखते हैं -

दुलहनी गावहु मंगलाचार,
हम घरि आए हो राजा राम भरतार ।। टेक।।
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ पंचतत बराती।
रामदेव मोरैं पाँमुनै आये मैं जीवन मैं माती।।
सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा वेद उचार।
रामदेव संगि भावरी लैहूँ, धनि धनि भाग हमार ।।
सुर तेतीसूं कौतिग आये, मुनिवर सहस अठयासी।
कहै कबीर हंम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी।।

कबीर के रहस्यवाद के भेद प्रभेद :- भारतीय एवं पश्चिमी विचारकों ने रहस्यवाद के भेद प्रभेद पर अलग अलग दृष्टिकोण से विचार किया है। अध्ययन की सुविधा के लिए इसको निम्नलिखित भेदों में बाँट सकते हैं जो रहस्यवाद के अन्यान्य भेदोपभेदों को अपने अन्तर्ग में निहित किए हुए हैं -

1. भावात्मक रहस्यवाद
2. साधनात्मक रहस्यवाद
3. प्राकृतिक रहस्यवाद
4. अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद

1. **भावनात्मक रहस्यवाद :-** जब जीवात्मा और परमात्मा की सजल रागिक रंगभयता को साहित्य में शब्दाकार प्रदान किया जाता है तब भावात्मक रहस्यवाद की व्यंजना होती है। रहस्यवादी कवियों ने इस भावना से आन्दोलित होकर उस निर्गुण निराकार परमतत्व को कही पति रूप में माना है, तो कहीं प्रियतमा-पत्नी के रूप में अंगीकार किया है।

कबीरदास ने दामपत्यमूलक रहस्यवाद की बड़ी मार्मिक वर्णना की है। वस्तुतः दामपत्य भाव ही रहस्यवाद का मूलाधार है। कबीर का अपने ब्रह्म के साथ सम्बन्ध दामपत्य परक है। प्रेमगत ऐसी ही दिव्य- पवित्र अनिर्वचनीयता को स्वरूपित करते हुए कबीर लिखते हैं कि -

अब तोहि जान न देहुं राम पियारे, ज्यूं भावै त्यूं होहु हमारे ॥टेक॥

बहुत दिनन के विछुरे हरि पाये, भाग बड़े घरि बैठे आये ॥

चरननि लागि करौं वरियायी, प्रेम प्रीति राखीं उरझाई।

इत मन मंदिर रहौ नित चोषे, कहे कबीर करहु मति घोषे ॥

2. **साधनात्मक रहस्यवाद :-** साधनात्मक रहस्यवाद को यौगिक रहस्यवाद के भी नाम से जाना जाता है। साधनात्मक तथ्यों का वर्णन जब भाव और काव्य के धरातल पर किया जाता है, तब वह साधनात्मक रहस्यवाद की संज्ञा अधिगत करता है। सिद्धों, नाथों, सन्तों तथा छायावदी कवियों ने साधनात्मक रहस्यवाद से सम्बन्धित पुष्कल छन्दों को रचा है। सन्त कबीर ने साधनात्मक शब्दावली के सहारे वैराग्य की स्थितियों - दशाओं को इस प्रकार शब्द बद्ध किया है -

जग में सोइ वैराग कहावै

आसन मारि गगन में बैठै, दुर्मति दूर बहावै ॥

भूख प्यास और निद्रा साधे, जियतहि तनहि जरावै।

भौसागर के भरम मिटावै, चौरासी जिति आवै।

कहै कबीर सुना भई साधो, भाव भक्ति मन लावै ॥

3. **प्राक तिक रहस्यवाद :-** कबीर की कविता में प्राक तिक रहस्यवाद के अनेक रूप दिखाई पडते हैं। कबीर की रहस्यभावना की व्यंजना में प्रक ति ने बड़ी सहायता की है। इस दृष्टि से यह जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया गया है।

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है,

बाहर भीतर पानी।

फूटा कुम्भ जल जलहि समाना

यह तत कथहु गियानी।

आदै गगनों अंतै गगना,

मधे गगनों माई।

कहै कबीर करम किस लागे,

झूठी संक उपाई ॥

4. **अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद :-** रहस्यवादी कवियों ने सह दय समाज को चमत्क त करने के लिए अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद को माध्यम बनाया है। रहस्यवाद की यह कोटि सन्तों में बड़ी व्यापकता के साथ दिखायी पडती है। हिन्दी साहित्य में, विशेषतः रहस्यवादी कवियों के काव्य में अभिव्यक्ति मूलक रहस्यवाद का व्यवहार निम्न रूपों में दिखायी पडता है :

1. रोचक, किन्तु असाधारण शैली
2. उलटवासियों के माध्यम से आध्यात्मिक तथ्यों का प्रतिपादन
3. पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग ।

दार्शनिक चेतना को साहित्य के माध्यम से व्याख्यायित करना एक दुरूह कार्य है। कबीर ने, रहस्यवादी कवियों ने इस निगूढ चिन्तन को सहज बनाने के लिए अभिव्यक्तिगत अनेक उपादानों का सहारा लिया है। कबीर का यह उदाहरण देखें जिसमें कवि ने सामान्य तथ्य को असामान्य किन्तु रोचक शैली में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है:

हरि के षारे बडे पकाये, जिनि जारे तिनि पाये।
 ग्यान अचेत फिरै नर लोई , ता जनमि जनमि डहकाए।।
 धौल मंदलिया बैल रबाबी, कऊवा ताल बजावै।
 पहरि चोलना आदम नाचै, भैसाँ निरति कहावै।।
 स्यंघ बैठा पान कतरै, धूस गिलौरा लावै।
 उँदरी बपुरी मंगल गावै, कछु एक आनंद सुनावै
 कहै कबीर सुनहु रे संतो, गडरी परवत खावा
 चकवा बैसि अँगारे निगले, समंद अकासा धावा ।।

कबीर ने अपने प्रतिपाद्य के निरूपण में साधनात्मक शब्दावली का भी व्यवहार बेझिझक किया है। इन व्यवहृत शब्दों को देखकर ऐसा आभास होता है कि मध्ययुगीन साधना, धर्म और दर्शन ने ऐसे शब्दों को बड़ी उदारता के साथ कबीर को दिया है। ऊँ, अन्तःकरण, अजपा जाप, आत्मा, इन्द्री, इड़ा, ऊँट, कुँआँ, दीपक, दुलहिन, ध्यान, निरति, बाती, हिंडोलना, मानसरोवर, बिन्दु, विसाहणा, हाट आदि असंख्य ऐसे शब्द हैं। कबीर का एक पद इस दृष्टि से द्रष्टव्य है :

हिंडोलनाँ तहाँ झूलै आतम राम।
 प्रेम भगति हिंडोलना, सब संतन कौ विश्राम।।
 चंद सूर दोइ खंभवा, बंक नालि की डोरि।
 मूलै पंच पियारियाँ, तहाँ झूलै जीय मोर।।
 द्वादस कम के अंतरा, तहाँ अम त कौ ग्रास।
 जिनि यह अम त चाबिया, सो ठाकुर हम दास ।।
 सहज सुँनि कौ नेहरौ गगन मंडल सिरिमोर।
 दोऊ कुल हम आगरी, जो हम झूलै हिंडोल।।
 अरथ उरध की गंगा जमुना, मूल कवल कौ घाट।
 षट चक्र की गागरी, त्रिवेणी संगम बार।।
 नाद ब्यंद की नावरी, राम नाम कनिहार।
 कहै कबीर गुण गाइ ले, गुर गँमि उतरौ पार।।
 कबीर के रहस्यवाद की प्रवृत्तियाँ :-

रहस्यवाद में प्रणय और विचार तत्व का सम्मेलन है। एस०के०स्पेन्सर ने प्रणय और विचार को रहस्यवाद की कुंजी माना है। इस धारणा के कारण रहस्यवाद न तो विशुद्ध दर्शन ही बनने पाया और न तो प्रेम की गहनता से स्वच्छन्द ही होना पाया है। इसमें अनुभूति और विचार का अदभुत सामंजस्य है। रहस्यवाद की अवस्थाएँ, उसके भेद प्रभेद आदि को अपने अवधान में रखने की प्रवृत्तियों को इस प्रकार निरूपित किया जा सकता है :

1. आनुभूतिक गहनता :- रहस्यवादी कविता की सबसे प्रमुख विशेषता आनुभूतियात्मकता है। रहस्यवादी अनुभूतियाँ प्रणयोन्मुखी हैं। उनका यह प्रणय दामपत्य मूलक किन्तु आध्यात्मिक है। कबीर प्रेम के अनन्य कवि हैं। वे प्रेम के 'ढाई आखर' के ज्ञाता को पंडित मानते हैं। प्रेम उन्हें ईश्वर - तुल्य प्रतीत होता है। कबीर के काव्य में प्रेम के नाना आयाम प्रस्तारित हैं। कहीं माँ-बेटे का प्रेम है, कहीं प्रेयसि-प्रियतम का और कहीं भक्त-भगवान का, लेकिन इस सन्दर्भ में ज्ञातव्य है कि विस्तार प्रेयसि-प्रियतम वाले प्रेम को अधिक प्राप्त हुआ है। सन्तों का यह प्रियतम स्वयं ब्रह्म है। कबीर प्रेयसि-प्रियतम के मधुर-प्रणय भावना को शब्दाकार प्रदान करते हुए लिखते हैं कि -

देखि कबीर का रूप मगन भइ। निरखि सेज पर आप चढ़ी।।

करत विलास प्रिया अपने संग । पौढि सेज पर प्रेम भरी।।

सुख सागर से विलसन लागी। विधुरे पिय धन मिलि जो गई ।।

कहै कबीर मिलि पिय से। जनम जनम को अमर भई।।

2. दार्शनिक चेतना की विवृति :- कविता के माध्यम से जब उस परम तत्व को चिन्तन मूलक स्वरूप अभिव्यंजित होता है, तब दर्शन सम्बन्धी रहस्यवाद को रूपाकार प्राप्त होता है। कबीर की रहस्यवादी चेतना में दार्शनिकता का योग दिखाई पड़ता है। वे जीव, ब्रह्म, माया जगत आदि के सम्बन्ध में अपने बुद्धि और ज्ञान का सहारा लेते हैं। इस आयोजन के सम्बन्ध में ध्यातव्य है कि यह शुष्क और निरस ही नहीं है, वरन् इसमें भावना की सजलता भी निहित है। दार्शनिक रहस्यवाद में भावना और बुद्धि का सुन्दर सम्मेलन परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ :

न कछु रे न कछू राम बिनां।

सरीर धरे की रहै परमगति, साध संगति रहनां ।।

मंदिर रचत मास दस लागै, विनसत एक छिनां ।

झूठे सुख के कारनि प्रांनी, परपंच करता घना।।

तात मात सुख लोग कुटुंब, मैं फूलयो फिरत मनां।

कहै कबीर राम भजि वौरे, छाडि सकल भ्रमनां ।।

3. आध्यात्मिक भावना का निरूपण :- हिन्दी के रहस्यवादी कवियों ने लौकिक वर्णन के माध्यम से, पार्थिव उपादानों से, अलौकिक और अपार्थिव चेतना की अभिव्यंजना की है। कवियों ने अपने कथ्य में जीवन और जगत सम्बन्धी नित्य मान्यताओं को संजोया है। कबीर का पूरा काव्य आध्यात्मिक भावना की अनुगूँज है। इस दृष्टि से यह पद द्रष्टव्य है:

बातहा आव हमारे गेहु रे, तुम्ह बिन दुखिया देह रे।।

सब को कहै तुम्हारी नारी, मोकौ इहै अदेह रे।

एकमेक है सेज न सोवे, तब लग कैसा नेह रे।।

आन न भावै नीद न आवै, ग्रिह बन धरै न धीर रे।

ज्युं कामी कौ काम पियारा, ज्युं प्यासे कूं नीर रे।।

है कोई ऐसा परउपगारी, हरि सूं कहै सुनाइ रे।

ऐसे हाल कबीर भये है, बिन देखे जीव जाइ रे।।

4. जिज्ञासा, आकर्षण और मिलन के प्रति प्रयत्न की भावना :- कहने की आवश्यकता नहीं है कि उस परम सत्ता के प्रति जिज्ञासा, आकर्षण और मिलन के प्रयत्न की भावना ही रहस्यवाद के उद्गम का मूल हेतु है। रहस्यवादी कवियों के अन्तस् में ऐसी भावना बड़ी गहराई के साथ विद्यमान है। सामान्यतः ये कवि ब्रह्म के अरूप, निर्गुण, निराकार रूप के उपासक हैं, फिर भी उसकी सत्ता और व्याप्ति को कण-कण में स्वीकार करते हैं। उस सत्ता की सर्वव्याप्ति को अंगीकार करनेके कारण वे उसके रहस्य को जानने के लिए सचेत, तत्पर और व्याकुल दिखाई पड़ते हैं। परोक्ष सत्ता के प्रति यह आकर्षण, जिज्ञासा और मिलन की भावना कबीर के साहित्य में भी बड़ी व्यापकता के साथ उन्मिषित हुई है। चूंकि रहस्यवाद ईश्वरीय साधना एवं अर्चना का साहित्यिक रूप है और कबीर ईश्वर के साधक थे ही, इसलिए उनके साहित्य में ऐसी भावना और चेतना का मिलन सहज ही है। कुछ पंक्तियाँ इस दृष्टि से द्रष्टव्य हैं :

विरहनि ऊभी पंच सिरि, पंछी बूझै छाइ ।

एक सबद कहि पीव का, कब रे मिलेगे आइ।।

आंइ न सकौ तुझ पे, सकूं न तूझ बुझाइ।

जियरा योही लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ।।

अन्तस् प्रेम की दिव्यता यहाँ दीपित हो रही है।

5. धार्मिक भावना का निरूपण :- रहस्यवादी कविताओं का कथ्य अनेक धार्मिक भावनाओं से अनुप्राणित है। जब साहित्य युग चेतना का प्रतिबिम्ब हुआ करता, तब रहस्यवाद में नाना धर्मों के सिद्धान्तानुरूप धार्मिकता का स्फुरण क्यों न हो ! भारतीय रहस्यवाद पर दोनो धाराओं - औपनिषदिक और यौगिक का प्रभाव तो है ही। औपनिषदिक प्रभाव के कारण ही इसमें आध्यात्मिकता, अद्वैतता, पवित्रता तथा यौगिक धारा के फलतः हठयोग, तन्त्रमत, बौद्धमत आदि का प्रस्फुरण दिखाई पड़ता है। कबीर का रहस्यवाद तो भारतीय और सूफी मत का सेतु है।

6. नाना सम्बन्धों की सर्जना :- कबीर ने उस परमसत्ता से नेह के नाना रिश्तों-नातों को स्थापित किया है। कण-कण में व्याप्त उस विराट-व्यापक ब्रह्म को अनेक रूपों में मानना समीचीन है। सन्त कबीर ने उन्हें जननी, पति, प्रियतम् आदि कई रूपों, सम्बन्धों में मान प्रदान किया है। वे हरि का जननी तथा अपने को बालक मानकर अपने अपराधों से मुक्ति की कामना करते हैं।

हरि जननी मैं बालक तोरा

काहे न अवगुन बखसुं मोरा।

वे कहीं अपने को उस अद श्य की विरहिणी मानते हैं :

विरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंछी बूझै छाइ।

एक सबद कहि पीव का, कब रे मिलेगे आइ।।

7. आत्मसमर्पण की सजल भावना :- आत्म समर्पण और रहस्यवाद का आधारधेय सम्बन्ध है। सन्तों से लेकर छायावादी सुकवियों तक यह प्रवृत्ति अत्यन्त विस्तार के साथ दिखाई पडती है। आत्मसमर्पण की इस भावना में दीनता भी निहित है। कबीर और निराला जैसे प्रबल दृढ आत्म विश्वासी रचनाकार भी इस दैन्यमूलक आत्मसमर्पण शीलता से आगे नहीं निकल पाए हैं। कबीर तो अपने को उस अविनाशी राम का कूता मानते हैं वे कहते हैं कि :

कबीर कूता राम को, मुतिया मेरा नाउँ।

गलै राम की जेवडी, जित खैचूँ तित जाँऊ।।

8. मुक्तक और संगीत शैली :- रहस्यवादी कविता में मुक्तक और संगीत शैली का आश्रय लिया गया है। चूँकि रहस्यवादी कविता एकाकी, धनीभूत और व्यष्टिगत अनुभूतियों की उपज है, इसीलिए मुक्तक और संगीत शैली में ही उसे खुलकर अवसर प्राप्त हुआ है। सामान्यतः इस कविता का विस्तार मुक्तक काव्यों में ही ज्यादा है, प्रबन्ध काव्यों में नहीं। सन्तों की बानियों, छायावादी कवियों की गीतियों में रहस्यवाद का समग्र लालित्य बिखरा पड़ा है। कबीर का एक पद देखें :

कब देखूँ मेरे राम सनेही।

वा बिन दुःख पावै मेरी देही।।

हूँ तेरा पंथ निहारूँ स्वामी।

कवरू मिलिहुगे अन्तर्यामी।।

जैसे जल बिनु मछली तलफै।

ऐसे हर बिन मेरा जिय कलपै।।

निसि दिन हरि बिन नीद न आवै।

दरस पियासी राम क्यों सचु पावै।।

महँ कबीर अब विलम्ब न कीजै।

अपनो जानि मोहि दर्शन दीजै।।

9. प्रतीक-विधान :- प्रतीकात्मकता कबीर की अभिव्यक्ति का मूलाधार है। प्रतीक ही कबीर का वह साधन-माध्यम है जिसमें वे उस अज्ञात हरि की कथा को अत्यन्त मनोमय एवं अटपटी वाणी में प्रस्तुत करते हैं। सन्तों की रहस्यमूलक प्रतिक योजना की विवेचना के सन्दर्भ में डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने इसके कई भेद स्वीकार किये हैं जो कबीर की प्रतीकात्मकता पर भी अपनी सार्थकता सिद्ध करते हैं। डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत का विभाजन इस प्रकार है -

सांकेतिक प्रतीक

पारिभाषिक प्रतीक

संख्यामूलक प्रतीक

रूपात्मक प्रतीक

विरोध प्रतीक

भावात्मक प्रतीक

उक्त भेदों के आलोक में कबीर की प्रतीकात्मकता का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है उदाहरणार्थः

आकासे मुखि आँधा कुआँ, पाताले पनिहारि।

ताका पांणी को हंसा पीवै, विरला आदि विचारि।।

यहाँ पर 'अकासे' सहस्रार, 'आँधा कुआँ' ब्रह्मरन्ध्र, परिहारि - कुण्डलिनी 'हंसा' सिद्ध व्यक्ति साधक के प्रतीक-रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

विरोधमूलक प्रतीक का एक उदाहरण और देखिए :

समंदर लागी आग, नदिया जली कोइला भई।

देखि कबीरा जागि, मंछी रूषां चढ़ि गईं॥

यहां समन्दर-ब्रह्म आग-वियोग, नदियों-कुत्सित व तियों, मछली-आत्मा का प्रतीक है।

अन्त में कहा जा सकता है कि कबीर का रहस्यवाद अपनी अप्रासंगिकता के बावजूद बहुत भावनामय है, संवेदनशील है और शिल्प की दृष्टि से बड़ा सशक्त है। वह सह दयों को उद्वेलित करने में समर्थ है।

6. कबीर की प्रासंगिकता

'हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता' - अनन्त हरि और अनन्ता हरिकथा को श्रुति सन्तों ने भाँति-भाँति से गाया-ध्याया है। किसी ने श्री हरि के मधुर मनोहर, कठिन-कठोर, भव्य-भयंकर रूप स्वरूप की अवतारणा करके उसे पूजा है और किसी ने उसके अरूप, अनिर्वध, निर्गुण-निराकार रूप को मन ही मन भावित करके आराधा है। हरि के अरूप, अनिर्वय, निर्गुण, निराकार रूप की भावना-अनुभावना करने वाले साधु-साधकों को निर्गुणिए भक्त, निर्गुण कवि, सन्त आदि नाना अभिधानों से जाना-बखाना जाता है। सन्त प्रवर कबीरदास जी इसी परम्परा के श्रेष्ठ कवि-सन्त हैं। वास्तव में, कबीर देशकालजयी हैं।

आज जब आये दिन पुरातन कवियों की प्रासंगिकता का प्रश्न उठाया जाता है, तब कबीर की प्रासंगिकता का प्रश्न न उठे-ऐसा कैसे हो सकता है? सूत्र-रूप में, विषय प्रवर्तन के रूप में यह सहज रूप से स्थापित किया जा सकता है कि कबीर का काव्य हमारे समाज और हमारे राष्ट्र के लिए पूर्णतः प्रासंगिक है। यद्यपि कबीर को पैदा हुए साढ़े पाँच सौ वर्ष बीतने को हैं, फिर भी कबीर के प्रतिपाद्य की प्रासंगिकता क्षीण नहीं होने पायी है। या यों भी कहा जा सकता है कि धरती पर जब तक मानव पर अत्याचार होते रहेंगे, जाति-धर्म-अर्थ के नाम पर मानव और मानव मूल्यों की घिनौनी हत्याएँ होती रहेंगी, मानव सद्भावना सहज जीने का अभ्यासी नहीं होगा। आदर्श मानव की संकलपना अधूरी रहेगी, तब तक, निस्संदेह, कबीर की वाणी प्रासंगिक रहेगी। ऐसे सन्त कवियों की प्रासंगिकता इस प्रकार अवलोकनीय है -

- अ) दार्शनिक दृष्टि से
- आ) सामाजिक दृष्टि से
- इ) नैतिक दृष्टि से
- ई) आर्थिक दृष्टि से
- उ) अभिव्यक्ति की दृष्टि से
- ऊ) दार्शनिक दृष्टि से

सन्त कबीर अध्यात्म पथ के प्रसन्न पथिक थे। ब्रह्मानुध्यान, ब्रह्मानुचिन्तन तथा उस अकथ का भाव-व्यंजन ही उनका सर्वस्व था। अपनी इसी सर्वस्व चेतना को वे समाज में फैला देने के अभिलाषी थे। अवधेय है कि कबीर के समय में ईश्वर के स्वरूप को लेकर नाना मत और नाना धारणाएँ प्रचलित थी, लोग अपने अपने धर्मानुसार-मतानुसार अकथ ईश्वर का कथन कर रहे थे, अपने ही पूज्य ब्रह्मा की सर्वश्रेष्ठता का बखान-वर्णन कर रहे थे ईश्वर-विषयक इस स्थिति को लक्षित करके कबीर का चित्त व्यथा और विक्षोभ से विचलित हो उठा। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि जो ब्रह्मा सर्वदा और सर्वथा एक है, उसको कुरान और पुराण, पोथी और पण्डित, मुल्ला और मौलवी कैसे-कैसे और किन-किन रूपों में रूपायित करते हैं तथा समपूर्ण समाज का लक्ष्य-अष्ट और विवेक विनष्ट करके अपने अपने स्वार्थ का सम्पोषण और मत का प्रचार करते हैं। इस सन्दर्भ में कबीर का अभिमत है कि वह राम (अर्थात् कबीर का राम) हिन्दुओं के राम और मुस्लिमों के खुदा से अलग है उसके प्रकृत स्वरूप को कोई नहीं जानता है -

जस तूँ तोहि कोइ न जान, लोग कहै सब आनहि आँन।।

चारि वेद चहुं मत का विचार, इति भ्रंमि भूलि परयौ संसार।

सुरति सुम ति दोई कौ बिसवास, बाझि परयौ सब आसा पास।।

ब्रह्मादि सनकादिक सुन नर, मैं बुपरौ धूँका मैं का कर।

तिहि तुम्ह तारौ सोई पै तरई, कहे कबीर तांतरवोहयो मरई।।

कबीर ने सम्पूर्ण समाज को एक राह पर लाने के लिए, मत-मत में एकमत स्थापित करने के लिए ऐसे ब्रह्म की संकल्पना की जो सभी जातियों एवं धर्मावलम्बियों को स्वीकार हो। उन्होंने उस ब्रह्म का नाम राम प्रस्तावित किया, लेकिन कबीर के राम वो राम नहीं जो तीनों लोकों में दशरथ-सुत के रूप में विख्यात हैं। कबीर के 'राम' निर्गुण-निराकार हैं, वाणी और व्यंजना से ऊपर है, सर्वत्र व्याप्त और सबसे न्यारा है, वह तो केवल ध्यानगम्य व अनुभव गम्य है -

निरगुण राम निरगुण राम जपहु रे भाई।

अविगति की गति लखी न जाई।

चारि वेद जाकै सुक त नौ व्याकरनां मरम न जाँनां।।

चारि वेद जाकै गरड समोनां, चरन कवल कवोलां नहीं जाँनां।।

कहे कबीर जाकै थेदे नाँही, निज जन बैठे हरि की छाहीं।।

फिर भी, उसके नाना नाम हैं। वही राम है और वही रहीम है, वही अल्लाह है और वही भगवान है। उसी परमसत्ता से मोटी महीन सारी सत्ताएँ स्वरूपित आकारित हुई हैं, उसी परमात्मा से सारी आत्माएँ निकली हैं। समस्त जीवों में वही परमतत्त्व नाना रूपों में विद्यमान है। ऐसे व्यापक-विशिष्ट परमतत्त्व के माध्यम से कबीर ने सम्पूर्ण समाज और संसार को यह ज्ञान दिया कि सभी लोगों का ईश्वर एक है। उसके नाम पर विद्वेष और निग्रह, कलह और कोलाहल अज्ञानता का बोधक है। कबीर उस अपरम्पार के अनन्त नामों और अनन्त गुणों को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं-

अलह अलख निरंजन देव, किहि विधि करौं तुम्हारी सेव।।

विश्व सोई जाको विस्तार, सोई क स्न जिनि कीयौ संसार।।

गोव्यंद ते ब्रह्मड गहै, सोई राम जे जुगि जुगि रहै।।

अलह सोई जिनि उमति उपाई, दस दर खोले सोई खुदाई।

लख चौरासी रब परवरै, सोई करीम जे एती करै।

गोरख सोई ग्यान गमि गहै, महादेव सोई मन को लहै।

सिध सोई जो साधे इती, नाथ सोई जो विभुवन जती।।

सिध साधु पैकंबर हूवा, जपे सु एक भेष है जूवा।

अपरम्पार का ननाउ अनंत, कहे कबीर सोई भगवन्त।।

कबीर ने धार्मिक विद्वेष, धार्मिक संघर्ष तथा धार्मिक भेदभाव का कारण ईश्वर की सगुणता को स्वीकार किया है। चूँकि सगुण ईश्वर को लोग नाना रूपों में स्थापित करते हैं, नाना शारीरिक धर्मों से जोड़ते हैं, नाना साधनों से उपाजते और भजते हैं, इसीलिए नाना बुद्धि, अनेक भेदों, अनेक रूपों, अनेक अवस्थाओं - अवधारणाओं को उत्पन्न करती है। वास्तव में, यही अनेकता, अनेक भेदभावों को, अनेक मतों-पंथों को अनेक दृष्टियां-दर्शनों को पैदा करती है और व्यक्ति नाना भेद में फँसकर उलझकर, उनमें आसक्त होकर जीवन के मूल मर्म को भूल जाता है। वह अपनी सारी चेतना बाह्य क्रियाव्यापारों में केन्द्रित कर देता है और इन्हीं के माध्यम से जीवन की सत्यता का साक्षात्कार करना चाहता है। वस्तुतः उनकी यह चाहना-कामना धोखा है। कबीर को इस धोखे का पूरा ज्ञान था, इसीलिए उन्होंने बाह्याचारों के स्थानपर आन्तरिक उपासना को प्रमुखता प्रदान की। कबीर ने सर्वत्र बाह्याडम्बरों बाह्याचारों को मिथ्या मानकार पूजा-पाठ, जप-तप, नमाज-अजाना, तीर्थ-स्नान, छापा-माला-तिलक आदि आदि को व्यर्थ करार दिया। मन्दिर-मस्जिद को एक बताया तथा भौति-भौति के बाहरी उपादानों से ईश्वर का साक्षात्कार असम्भव कहा। कबीर ने उस ब्रह्म को काया-काशी में, अन स-अयोध्या में, मन-मथुरा में

दिल द्वारका में दर्शन करने का परामर्श दिया -

मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जाँणि।

दसवाँ द्वारा देहरा, तामै जोति पिछोणि।।

-तथा अन्तस्- अनुभूति के पथ को और अधिक प्रशस्त-निरापद बनाते हुए कबीर ने उपदेश दिया कि संसारिक भ्रम को तज कर, अंहकारहीन बनकर, आत्मतत्त्व-बोध से मुक्त होकर भक्ति करने वाला भक्त भगवान् के समान हो जाता है-

ते हरि आवेहि किहि काँमां, जे नहीं चीन्है आतम रॉमां।।

थोरी भगति बहुत अंहकारा, ऐसे भगता मिलैं अपारा।

भाव न चीन्हैं हरि गोपाला, जनिक अरहट के गलि माला।

कहै कबीर जिनि गया अभिमाना, सो भगता भगवन्त समोना।।

जहाँ भाँति-भाँति की उपासना-प्रणालियाँ मानव-मानव में अन्तर उत्पन्न करती हैं, वहीं माया भी नर और नारायण के मध्य भेद डालती है। वही जीव को ब्रह्म की समीपता प्राप्त नहीं होने देती है। माया अपनी मोहिनी सूरत के पाश में जीव को फँसाये रहती है। जो व्यक्ति गुरु की शरण में पहुँच जाता है और क पा का सम्बल प्राप्त कर भगवान की अराधना करता है, उसकी भक्ति में माया बाधा नहीं डालती। गुरु की इसी विलक्षण सामर्थ्य का अनुभव करके कबीर ने उसमें ईश्वर तत्त्व का समावेश किया है, इतना ही नहीं कहीं-कहीं तो वे गुरु की उदारता से परम भावुक होकर उसे नारायण से अधिक महत्त्व देते हुए दिखाई पड़ते हैं। क्योंकि उनकी अकम्प आस्था है कि गुरु ही ज्ञानदाता है, वही शब्द-वाणों से ईश्वर के प्रति प्रणय और विरह पैदा करता है, वही ईश्वरीय सत्ता की आनन्दमयी प्रतीति कराता है।

इस प्रकार कबीर ने अपने दार्शनिक चिन्तन के माध्यम से सर्वस्वीकार्य ब्रह्मोपासना को प्रस्तावित किया है और इस ब्रह्मोपासना को समस्त सुखों तथा सद्भावों का विधायक-नियामक माना है।

हम वासी उस देश को, जाति वरन कुल नाहिं।

शब्द मिलावा होय रहा, देह मिलावा नाहिं।।

(आ) सामाजिक दृष्टि से :

साहित्यकार अपने साहित्य में बसता है और साहित्य में समाज का निवास है, इसीलिए समाज, साहित्यकार और साहित्य को अलग-अलग करके देखा नहीं जा सकता है। तीनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जिस समाज में साहित्यकार का शारीरिक और मानसिक विकास होता है, साहित्य, साहित्यकार प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः अपने साहित्य में समाज के भिन्न-भिन्न सरोकारों को ही शब्दायित करता है।

यद्यपि कबीर ज्ञानमार्गी सन्त थे, उनका लक्ष्य आध्यात्मिक जगत का भावन और वर्णन था, लेकिन उन्होंने अपनी सारग्राही दृष्टि से संसार और समाज में व्याप्त भाँति-भाँति के आचारिक और मानसिक विकारों को विनष्ट करके आदर्श मानव और आदर्श समाज की संरचना ही कबीर की कामना थी। कबीर की इसी कामना और साधना के कारण समीक्षकों ने उन्हें समाज-सुधारक की भी संज्ञा प्रदान की है। अवधेय है कि कबीर समाज-सुधारक भले ही न हो, लेकिन वह अच्छे समाजद्रष्टा तथा सच्चे वक्ता अवश्य थे। उनका यह भी विश्वास था कि सामाजिक व्यवस्थाएँ और परम्पराएँ मानवीय एकता की विनाशक हैं। इसी धारणा के कारण सन्त प्रवर कबीर ने अविवेकी सामाजिक व्यवस्थाओं और परम्पराओं का तिरस्कार किया। कबीर मनुष्य को मनुष्य मानते हैं। वे मानव के जाति धर्म को स्वीकार नहीं करते, इसीलिए वे आदमी-आदमी के बीच विद्यमान भेद को मिटाना चाहते हैं। उल्लेख है कि कबीर ने सभी को एक ही परम स्रष्टा का तत्त्व स्वीकार किया है। इसी स्वीकारभावना के कारण कबीर ने यह माना है कि जातीय बन्धन, जातीय व्यवस्था, आर्थिक स्थिति सब लौकिक लोक की दी हुई हैं। समाज के ठेकेदारों ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए समाज में ऐसा वर्ग-भेद फैलाया है। कबीर ने इस वर्ग भेद में भागीदार ब्राह्मणों,

हिन्दुओं-मुसलमानों आदि की तीव्र भर्त्सना करके एक जाति, एक वर्ग, एक धर्म को प्रस्तावित किया। वह जाति, वह वर्ग, वह धर्म ईश्वर का है -

अब्वल अल्लह नूर उपाया कुदरत के सब बंदे।
 एक नूर ते सब जग उपज्या कौन भले कौन मंदे।।
 लोगा भरमि न भुलहु भाई।
 खालिक खलक खलक महिं खालिकु पूरा रहयो सब ढाई।।
 माटी एक अनेक भाँति करि साजी साजन हारे।
 ना कुछ पोच माटी के भाँणे ना कुछ पोच कुँमारे।।

सन्त कबीर तत्ववेत्ता थे, इसीलिए उन्होंने उसी को सत्य स्वीकारा जिसका उन्होंने साक्षात्कार कर लिया। इसी धारणा के कारण कबीर ने अनेक स्थानों पर आत्मज्ञान-तत्वज्ञान हीन पण्डित और पुस्तक की व्यर्थता का प्रतिपादन किया है।

पोथी पढि पढि जग मुवा, पंडित भया न कोइ ।
 एकै आखिर पीव का, पढ़ै सु पंडित होइ ॥

समाजोत्कर्ष की दृष्टि से कबीर का योगदान अनोखा है। उन्होंने अपनी अकखड-फक्कड बानी से हिन्दुओं और मुसलमानों में व्याप्त विद्रोह और संघर्ष को शान्त करने का प्रयास किया दोनों के थोथो दम्भ अहंकार और आचार पर प्रहार मिया, ब्राह्मणों के वर्ग को चकनाचून करते हुए ब्राह्मण-शूद्र को बराबर बताया। नाना धर्मों नाना मतों- नाना सम्प्रदायों की तात्त्विक विवेचना करते हुए सर्वधर्म समन्वय की स्थापना करके उत्कृष्ट मानवतावादी कवि-विचारक-सन्त के रूप में अपनी प्रशंसनीय छवि अंकित की। कहने की आवश्यकता नहीं है कि कबीर ने बाह्यचारों की मिथ्या का प्रतिपादन कर, बाह्याडम्बरों को दिखावा बताकर, ब्राह्मण-शूद्र तथा हिन्दू-मुसलमान में एक ही प्रभुता का कथन कर समाज का बड़ा उपकार किया है। इस प्रकार कबीर ने ऐसे समाज का स्वरूप प्रदान किया जिसमें न कोई शूद्र हो, न हिन्दू और न कोई मुसलमान, न कोई धनवान है और न कोई निर्धन और न उस समाज का कोई मन्दिर-मस्जिद जाता है, न व्रत और रोजे रखता है, न काबा-काशी जाता है, न छापा-माला-तिलक धारण करता है तीर्थापन और न तीर्थों में स्नान ही करता है, वह सब में और सभी जगह अपने निर्गुण प्रिय की निराली लाली का भावन करता है उसी लाली की लालिमा के कारण उसे प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जीव अतिप्रिय लगता है क्योंकि सभी जीवों की आत्मिक-तात्त्विक एकता ही कबीर का वरेण्य है-

लाली मेरे लाल की, जित देखों तिल लाल।
 लाली देखन में गई, मैं भी भई निहाल।।

(इ) नैतिक दृष्टि से :

कबीर काव्य का मूल स्वर आचारिक और मानसिक निर्मलता है। उन्होंने आन्तरिक पवित्रता के प्रभाव को भावित करके ही सारा साहित्य रचा है। चूंकि कबीर तत्वदृष्टा सन्त थे, इसीलिए उन्होंने बाह्य साधना के स्थान पर अन्तर-साधना पर बल दिया और अन्तर-साधना की सिद्धि नैतिकता से स्वीकारी। उल्लेखनीय यह है कि नैतिकता कोई सभ्यता नहीं है जो सीखकर-देखकर धारण की जा सके। नैतिकता तो हमारी आन्तरिक चेतना है और यही चैतन्य भावधारा कबीर के चित्त का मूल मर्म है।

कबीर की नैतिक चेतना के अनेक आयाम हैं। प्रेम, दान, दया, अहिंसा, सत्संगति, सदाचार, सत्यता, पतिव्रता, परोपकार, अपरिग्रह, अस्तेय, क्षमा, शौच, निन्दात्याग, अभिमानहीनता, कर्म आदि नीति के पक्ष हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि कबीर की कविता मानव-जीवन की आनन्दमयी आचार-संहिता है, इसीलिए वह मानव को तत्वज्ञान देती है कि ऊँचे कुल में जन्म महत्वपूर्ण नहीं है, वरन् ऊँचा कर्म माननीय है -

ऊँचे कुल क्या जनमियाँ, जे करणी ऊँच न होइ ।

सोवन कलस सुरे भर्या, साधू निंघा सोइ ।।

कबीर का संदेश है कि कर्म परमार्थ केन्द्रित होना चाहिए, क्योंकि परमार्थ से बड़ा धर्म और पुण्य दूसरा नहीं है। इसी के लिए ही तो तरुवर, सरोवर, सन्त और मेध ने रूप धरा। सन्त कबीर ने नीति को और स्पष्ट करने के लिए संगति, निष्ठा, प्रेम, सद्भाव, कथनी-करनी की एकता आदि नीति-मूलक तत्वों का सविस्तार वर्णन किया है।

सार रूप में अवधेय है कि कबीर की नैतिक चेतना सद्भावना और सदाचार का सन्देश देती है। वह मानवीय चित्त को आत्मविश्वास से आनन्दित करती है, क्योंकि कबीर की बानी में भावुकता की दीनता-हीनता नहीं है, वरन् उसमें सहज आत्मविश्वास का समावेश है। यह आत्मविश्वास सबल और स्वस्थ समाज के लिए बड़ा उपकारक है। वास्तव में कबीर की नैतिक भावना ओढ़ी हुई चीज नहीं है, वरन् वह उनके चित्त का व्यक्त प्रकाश है। वह भावना मंगलविधायिनी ही नहीं मानवता विधायिनी भी है। सचमुच, कबीर की नीति में आदर्श नागरिकता के समस्त तत्व समाहित हैं। इस प्रकार, वह हमें आदर्श नागरिकता की शिक्षा देती है।

(इ) आर्थिक दृष्टि से :

यद्यपि कबीर के सोच विचार का संसार ईश्वर का संसार था, फिर भी उन्होंने लोक की दगध-दाहकता को अनदेखा नहीं किया। उन्होंने लौकिक पीठिका पर ही ईश्वरीय संसार का प्रासाद रचा। ध्यान देने योग्य है कि लोक में आर्थिक व्यवस्था की अपनी विशिष्ट महत्ता और अनिवार्यता है। वह हमारे जीवनके नाना संदर्भों को प्रभावित करने के साथ उसे रूपांचित भी करती है। कबीर अर्थ की इस महत्ता और वास्तविकता से परिचित थे, इसीलिए उन्होंने भगवान से, उत्पन्न विनत हो, जीविका के लिए प्रार्थना की है। कबीर को यह साफ तौर से मालूम था कि भूख की पीड़ा बड़े बड़े सन्तों को भी अपने पथ से विचलित कर देती है, इसलिए किसी भी कार्य सिद्धि हेतु 'रोटी' की निश्चिन्तता सर्वथा अपेक्षित है। इस भावसत्य को कबीर के इस पद में भावित किया जा सकता है -

भूखे भगति न कीजै। यह माला अपनी लीजै।।

हौ माँगो संतन रेनां। मैं नाही किसी का देना।।

माधव कैसी बनी तुम संगे। आपि न देउ बहु मंगे ।।

दुइ सेर माँगौ चूना। पाव घीउ संग लूना।।

अधसेर माँगौ दाले। मोको दोनों बखत जिवा ले।।

खाट माँगौ चौपाई। सिरहाना और तुलाई।।

ऊपर कौ माँगौ सीधा। तेरी भगति करै जनु बीधा।।

कबीर जहाँ अर्थ की अनिवार्यता से परिचित थे, वहीं वे उसकी दूषणता को भी जानते थे। उन्हें मालूम था कि धन सामाजिक विषमता का कारण है। यह धन, यह अर्थ नाना प्रकार के अनर्थों को पैदा करता है, निर्धन को मानहीन बना देता है -

निर्धन आदर कोई न देई। लाख जतन करै ओहु चित न धरेई।।

जो निर्धन सरधन कै जाई। आगै बैठा पीठ फिराई।।

जो सरधन निर्धन कै जाई। दीया आदर लिया बुलाई।।

निर्धन सरधन दोनों भाई। प्रभु की कला न मेटी जाई।।

कह कबीर निर्धन है सोई। जाकै हिरदै नाम न होई।।

इतना ही नहीं, अर्थभाव व्यक्ति को अपनी सन्तानों को भी बेचने पर विवश करता है। इस संताप जनक स्थिति से बचने के लिए कबीर अपने प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु, इतना धन तो दे ही दीजिए जिससे परिवार और साधु की सेवा हो सके -

साईं इतना दीजिए, जितना कुटुम्ब समाय।

ता मैं भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय ॥

विचारणीय है कि कबीर ने जीवन निर्वाह के लिए तो धन की अनिवार्यता मानी है, लेकिन वे धन-संग्रह को उचित नहीं मानते हैं। इसी भावना के कारण जब उन्हें यह ज्ञात होता है कि उनका पुत्र धन-सम्पदा के चक्कर में पड़ा है तब उन्हें बड़ा आघात लगता है, क्योंकि वे तो अर्थ संग्रह को बड़ा पाप मानते हैं। कबीर ने धन को अनित्य मानते हुए धन-संग्रह करने वाले व्यक्तियों की बड़ी कदर्थना की है -

आसा जीवै जग मरै, लोग मरे मरि जाइ ।

सोइ मूवै धन संचते सो उबरे जा खाइ ॥

कबीर सो धन संचिए, जो आगै न होइ ।

सीस चढाए पोटली, ले जात न देख्या कोइ ॥

पहले कथित अर्थ विषयक अनिवार्यता तथा संग्रह के माध्यम से स्पष्ट हो जाता है कि कबीर शताब्दियों पहले अर्थ की जो व्यावहारिक रूपरेखा समाज को दी थी, वह आज भी चरितार्थ होती है। सरकार, समाज और संविधान की भाषा में वह काला धन, सफेद धन, आयकर की चोरी आदि भिन्न भिन्न रूपों में व्यक्त विव त हो रहा है।

(उ) अभिव्यक्ति की दृष्टि से :

अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी कबीर की प्रासंगिकता को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। उल्लेख्य है कि अभिव्यक्ति का मूल मर्म सहज-निर्बोध प्रेषणीयता है। कबीर की चेतना अभिव्यक्ति के इसी मूल मन्त्र को लेकर व्यक्त हुई है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से कबीर का एक ही उद्देश्य था- वह था - अपने दृष्टिकोण का, अपने विचार का प्रतिपादन और उस प्रतिपादन का सहज सम्प्रेषण। लोक जिस शैली से, जिस भाषा से, जिन शब्दों से अभिभूत हो, वे सब कबीर को सहज ग्राह्य-स्वीकार्य थे। कबीर का सारा ज्ञान लोक सापेक्ष अनुभवजनित था और वे अपने ज्ञान को अपने तक सीमित रखना चाहते थे, इसीलिए उन्हें सहज सम्प्रेषण के माध्यमों की तलाश थी और वह वही तलाश उनकी सहज भाषा के रूप में रूपित हुई है।

कबीर की भाषा जैसी सहज और जनतान्त्रिक है, वैसी ही उनकी अभिव्यंजना की अन्य भंगिमाएँ भी सहज हैं। कबीर को किसी भी भाषा के शब्दों से परहेज नहीं है, बशर्ते वह सामान्य-जन की समझ में आ जाये। कबीर ने कही पर भी अभिव्यक्ति-उपादानों का साथास व्यवहार नहीं किया है। अभिव्यक्ति के सारे उपादान लोक और वह भी अतिसाधारण गँवई-गाँव से लिये गये हैं। कबीर का यह कथन उनकी लोक' आस्था और लोक-सम्प्रकता का प्रस्फुट व्यंजक है। देखें -

कबिरा संस्क त कूप जल, भाषा बहता नीर।

भाषा सतगुरु सत्य है, संतमत गहर गंभीर।।

चूँकि कबीर भक्त थे, सन्त थे, विचारक थे, धार्मिक नेता उपदेष्टा थे, वे अपनी बात को बिना लाग-लपेट के कहना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने लोक-सापेक्ष भाषा-शैली में अपने वक्तव्य को जनता के सामने रखा है। वास्तव में, कबीर का यह जनतान्त्रिक दृष्टिकोण आज के युग में अत्यन्त उपयोगी है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कबीर की कविता अपने काल में भले ही कम उपयोगी रही हो, लेकिन आज तो बड़ी प्रासंगिक है। शताब्दियों पहले कबीर ने जिस भावनात्मक एकता के लिए जाति धर्म विहीन मानवता की कामना की थी, वही कामना आज हमारी राष्ट्रीय कामना है, राष्ट्रीय संवैधानिक व्यवस्था है। सूत्र रूप में, कबीर - काव्य की प्रासंगिकता

इस प्रकार से पुनः भावनीय-विचारणीय है -

1. कबीर का काव्य किसी धर्म, किसी सम्प्रदाय, किसी जाति विशेष का आख्यान नहीं है। वास्तव में वह जाति धर्म निरपेक्षता की महावाणी है। स्वतन्त्रता के बाद हम जिस धर्म निरपेक्षता की आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं, और उस अनुभव को व्यावहारिक बनाने के लिए अनेक व्यवस्थाएँ प्रदान कर रहे हैं, सन्त कबीर शताब्दियों पहले हमें उस व्यवस्था की जानकारी दे गये थे।
2. कबीर की वाणी नैतिकता से ओतप्रोत है। वह हमें शारीरिक और मानसिक परिष्कार की शिक्षा देती है। आधुनिक शब्दावली में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि कबीर की कविता नैतिक शिक्षा की कविता है। वह हमें आदर्श नागरिकता का पाठ पढ़ाती है।
3. कबीर ने अर्थ संग्रह की निंदा करते हुए उसे त्याज्य बताया है, साथ ही साथ अर्थ से उत्पन्न अनर्थों की भी व्यंजना की है। इस प्रकार, कबीर की कविता में हमारे संविधान की अर्थगत नीतियों का संकेतक रूप यत्र-तत्र देखने को मिलता है।
4. भाषा की दृष्टि से भी कबीर की प्रासंगिकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। अवधेय है कि कबीर का मुख्य प्रयोजन था सहज निर्बाध सम्प्रेषण, अभिव्यक्ति के उपादानों के प्रति उनकी कोई विशिष्ट प्रतिबद्धता नहीं थी। कबीर की इसी उदारता के कारण उनके काव्य में किस्म किस्म के शब्द व्यवहृत हुए हैं जो कबीर की भाषिक उदारता और एकता को स्वरूपित करते हैं। वास्तव में, कबीर का शब्द विधान, उनका भाषा व्यवहार भाषायी विवाद की समाप्ति का प्रेरक बन सकता है।

निःसंदेह, कबीर की सम्पूर्ण कविता प्रासंगिक है। व्यक्ति के लिए, समाज के लिए, राष्ट्र के लिए, साहित्य के लिए तथा मानवता के उत्थान के लिए कबीर का योगदान बार-बार विचारणीय, भावनीय, उल्लेखनीय एवं सराहनीय है।

7. कबीर की उलटवासियाँ

‘उलटबासी’ सन्त साहित्य का बड़ा प्रिय स्वरूप है। सन्त साहित्य के आलोचकों ने इसको अनेक नामों-रूपों से संबोधित किया है-

उलटबाँसियाँ - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

उल्टबाँसी - डॉ० राम कुमार वर्मा

उलटबाँसी- रांगेय राघव

उलटबाँसी- परशुराम चतुर्वेदी

गोरखबानी में इस शैली के लिए ‘उलटी चर्चा’ और ‘उलटी कामना’ शब्दों का प्रयोग किया गया है। वहां कहा गया है -

गगरी कौ पाँणी कूई आवै, उलटी चरचा गोरष गावै।

तथा

निगुरी पिरथी परलै जाती लायें, हम उल्टी थापना थापी।।

हाथरस वाले सन्त तुलसी साहब ने इसको ‘उलटवाँस’ तो कहा ही है, साथ ही साथ इसमें प्रयोग के निहितार्थ को भी स्पष्ट किया है। उन्होंने अपनी रचना कर रामायण में लिखा है -

उलटी चाल संत की बोली। बिन परचै को परदा खोली।

उस उलटी उन रही अगूढा। पंडित भेष न जाने मूढा ।।

तथा -

उलटबाँस संतन में भाखी। जाकी समझ सूर कोई राखी।।

सुलटी को उलटी कर बूझा। उलटी सुलटी समझ न सूझा ।।

अब याकौ इस शब्द सुनाऊँ। उलटि सुलटि वोहि माहि दिखाऊँ।।

सन्त कबीरदास ने उलटबाँसियों को उलटि वेद कहा है। एक साखी में वे लिखते हैं -

हे कोई जगत गुरु ग्यानी उलटि वेद बूझै।

पाणी में अग्नि जरै, अंधेरे को सूझै।

‘उलटवासी’ के प्रयोग के बारे में जानने योग्य है कि इस नाम का प्रयोग पुरातन न होकर, आधुनातन है। संतों की, विशेष रूप से कबीर की, अटपटी अभिव्यक्ति को किस आधार पर उलटवासी कहा गया, इसका कोई प्रामाणिक निर्णय संभव नहीं। संत परम्परा की गद्दियों पर ‘अटपटी बानी’, को ‘उलटवासी’ या इसके निकटवर्ती नाम से पुकारने की परम्परा का अवलोकन साहित्यकारों ने किया है और समप्रदाय से चलकर शैली विशेष के लिए, साहित्य में उलटबाँसी नाम प्रचलित हुआ है। (डॉ० रमेश चन्द्र मिश्र)

मानक हिन्दी शैली में उलटवासी के स्वरूप को ध्यान में रखकर किया गया है कि उलटबाँसी - उलट + वासी, साहित्य

में ऐसी उक्ति या कथन (विशेषतः पद्यात्मक) जिसमें असंगति, विचित्र, विभावना, विषम, विशेषोक्ति आदि अलंकारों से युक्त कोई ऐसी विलक्षण बात कही जाती है जो प्राकृतिक नियम या जाँच नियम का लोक व्यवहार में विपरित होने पर भी किसी गूढ तत्त्व से युक्त होती है।

सन्त साहित्य के अनेक आचार्यों ने भी उलटवासी पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। इनमें से कुछ विद्वानों के विचार अवश्य द्रष्टव्य हैं। जिससे उलटवासी का स्वरूप स्पष्ट हो सकेगा।

डॉ० पीताम्बर दत्त बडरवाल के अनुसार :-

आध्यात्मिक अनुभव की अनिश्चितता के कारण साधक को कभी कभी परस्पर विरोधी उक्तियों द्वारा व्यक्त करने का ढंग अपनाना पड़ता है, जैसे चन्द्रविहीन चाँदनी, सूर्यविहीन सूर्यप्रकाश आदि और उसके आधार पर ऐसे गूढ प्रतीकों की सृष्टि हो जाती है, जिन्हें 'उलटवासी या विषयक कहते हैं।

डॉ० सरनाम सिंह शर्मा के अनुसार -

'परमपद' या अध्यात्म लोक में रहने वाले का निवास वास्तव में 'उलटवासी' है। इससे सम्बन्धित वाणी 'उलटवासी' वाणी कहला सकती है। आध्यात्मिक अनुभूतियों लोक-विपरीत अनुभूतियाँ होती हैं और उन अनुभूतियों को व्यक्त करने वाली वाणी लोक दृष्टि से उलटी प्रतीत होती है, वास्तव में उलटी नहीं होती।'

उलटवासीयों की कुछ विद्वानों ने सन्ध्या भाषा से जोड़ने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। सन्ध्याभाषा को स्पष्ट करते हुए पंडित हर प्रसाद शास्त्री ने कहा है कि सन्ध्या भाषा वह है, जिसका कुछ अंश समझ में आया और कुछ अस्पष्ट रहे; अर्थात् अन्धकार और प्रमाण में बीच की सी भाषा सन्ध्या भाषा है।

उलटवासी पदों की अपनी विशेषताएँ होती हैं। उनकी व्यंजना इस प्रकार की जा सकती है -

1. उलटवासी पदों के वर्ग को समझ लेने पर एक प्रकार मानसिक तत्त्व की अनुभूति होती है। वास्तव में इन पदों का वर्णन आध्यात्मिक होता है। यह दृष्टि पहली, दृष्टिकूट पद, समस्यापूर्ति, बुझोवल, मुकरी आदि शैलियों में रचित रचनाओं से पृथक् होती है।
2. उलटवासी पदों में रहस्य, चमत्कार और अदभुत तत्त्व विद्यमान होते हैं। इसमें निहित आध्यात्मिक अनुभव सूक्ष्म होते हैं। वस्तुतः यह अनुभव अनिर्वचनीय होता है।
3. उलटवासी में प्रयुक्त छन्द विधान भी महत्वपूर्ण होता है। सबद, साखी, सवैया में इनका विधान देखा जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि जो उलटवासीयों पदों में रचित हैं, उनका प्रभाव सह दय पर ज्यादा है।
4. गेयता थी उलटवासी पद की प्रधान विशेषता है। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने उलटवासी की कुछ अनिवार्य और कुछ सामान्य विशेषताओं की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है -

उलटवासी में अनिवार्य तत्त्व -

1. विरोधाभासी असम्बद्ध पद योजना
2. प्रतीक प्रधान शब्द वैचित्र्य
3. साधनात्मक अथवा वैचारिक अनुभूति का होना

उलटवासी के सामान्य तत्त्व-सामान्य विशेषताएँ -

1. विचित्र प्रकार की अभिधा का होना
2. प्रायः सम्बोधन का होना
3. प्रायः चुनौती जैसे स्वर की प्रतीति

4. बूझै, विचारै, अरथावे आदि विशिष्ट क्रियाओं का होना
5. पारिभाषिक एवं सांकेतिक प्रतीम शब्दावली की योजना
6. प्रयोक्ता की आत्मविश्वासमयी ध्वनि
7. विस्मय सृष्टि
8. प्रतिपक्ष की परिकल्पना
9. असम्भव प्रमाणों के माध्यम से रूढ़ि अथवा लोकमार्ग का व्यक्तिक्रम
10. गेयत्व की प्रधानता
11. रूप व तत्व की योजना
12. व्यंग्य और वक्रता की विशेष चमक

उलटवासियों के प्रयोग की दृष्टि से कबीर का व्यक्तित्व बेजोड़ है। यद्यपि उन्होंने उलटवासियों का प्रयोग विधान अपनी परम्परा से ग्रहण किया है, लेकिन उसकी प्रस्तुति में उनका विलक्षण व्यक्तित्व जगह-जगह व्यंगित हुआ है। कबीर ने अनेक उलटवासियों की रचना की है। डॉ० स्नातक ने इस विषय में लिखा है कबीर की रचनाओं के लिए कबीर ग्रन्थावली (सम्पादक: श्यामसुन्दर दास), कबीर बीजक (सम्पादक: विचारदास शास्त्री) अभी भी प्रामाण्य कोटि में गिने जाते हैं। इनकी पडताल करने से पता चलता है कि ग्रन्थावली के साखी भाग में लगभग पचास साखियाँ तथा पदावली भाग में लगभग नब्बे पद उलटबॉसी शैली के तत्वों पर खरे उतरते हैं।कुल मिलाकर कबीर के उलटबॉसी पदों की संख्या सन्त साहित्य में सर्वाधिक है।

कबीर ने अनेक प्रकार की उलटबॉसियों का प्रयोग किया है। वह कहीं रूपकमूलक है और कहीं विरोध मूलक, प्रतीक मूलक तथा अदभुत रस मूलक अध्ययन की सुगमता की दृष्टि से इनको निम्नलिखित वर्गों में विवेचित करना ठीक होगा -

1. रूपक मूलक उलटवासी
 2. प्रतीक मूलक उलटवासी
 3. विरोध मूलक उलटवासी
 4. अदभुतरस मूलक उलटवासी
1. रूपकमूलक उलटवासी -

कबीर रूपकों के विधान में बड़े सिद्ध हैं, इसलिए उनकी रचनाओं में अनेक रूपक मूलक उलटवासियों दिखायी पड़ती हैं। इनकी अधिकता को देखकर ही राहुल सांक त्यापन ने कबीर की सारी उलटवासियों को रूपक मूलक कहा था। और इसमें सन्देह नहीं है कि कबीर ने अनेक रूपक मूलक उलटवासियाँ रची हैं। कुछ कुछ उदाहरणों से इन्हें समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ-

हरि के षारे बड़े पकाये, जिनि जारे तिनि पाये।

ग्याँन अचेत फिरँ नर लोई, ता जनमि जनमि डहकाए।।

धौल मंदलिया बैल रबाबी, कऊवा ताल बजावै।

पहरि चोलना गारह नाचै, भैसाँ निरति करावै।।

स्पंघ बैठा पान कतरै, धूस गिलौरा लावै।

उंदरी बजुरी मंगल गावै, कछु एक आनंद सुनावै।।

कह कबीर सुनहुं रे संतौ, गडरी परवत खावा।

चकवा बैसि अंगारे निगले, समंद अकासा धावा ।।

ध्यान देने योग्य बात है कि इस पद में कबीर ने उलटवासी के माध्यम से परमात्मा के साक्षात्कार का भाग दर्शाया है। जिनि जारे तिनि पाये यह एक विचित्र प्रयोग है, लेकिन इसका अर्थ यह है कि जिस साधक ने अपनी पारखिक प्रवृत्तियों को जला दिया है, वही प्रभु को प्राप्त कर सकता है। समंद अकासा धावा भी ऐसा ही विचित्र प्रयोग है। लेकिन जब व्यक्ति यह समझ लेता है कि चिन्त रूपी नदी सामान्य नदी की तरह केवल ऊपर से नीचे की ओर नहीं अती है। वह भीतर ओर बाहर दोनों ओर बहती है। जब वह अज्ञान मार्ग (नीचे की ओर) गामी होती है, तब वह कल्याण हो जाती है। रूपक मूलक ऐसा ही एक उदाहरण और द्रष्टक है -

हिंडोलना तहाँ झूलेँ आतम राम।

प्रेम भगति हिंडोलनाँ, सब संतनि कौ विश्राम।।

चंद सूर दोइ खंभवा, बंक नालि की डोरि।

झूलेँ पंच पियारियों, तहाँ झूलेँ जीय मोर।।

कबीर ने हिंडोलना के रूपक द्वारा यह बतलाया है कि प्रेम भक्ति रूपी झूले में आत्मा रूपी राम झूल रहे हैं। इतना ही नहीं, इस झूले में पंचप्राणों (प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान) के साथ आत्मा झूल रही है। एक उदाहरण और -

उक्त साखी में कबीर ने गंगा, यमुना को इड़ा, पिंगला घाट को सहज-शून्य, भयमानी से ब्रह्मरन्ध्र के रूप में प्रस्तुत करके समाधी की अवस्था का वर्णन किया है।

2. प्रतीक मूलक उलटवासी -

कबीर के रूपक मूलक उलटवासियों के साथ प्रतीक मूलक अनेक उलटवासियों की रचना की है। वस्तुतः उलटवासियों के संसार में कबीर का बड़ा नाम है। यद्यपि वे पढ़े-लिखे न थे, पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी, जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य चमत्कारपूर्ण बातें निकलती थी। इन उक्तियों में विरोध और असम्भव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था। (आचार्य शुक्ल)

यथा-

कैसे नगरि करौँ कुटवारी, चंचल पुरिष बिचपन नारी।

बैल बियाइ गाइ भई बाँझ, बछरा दूहै तीन्युँ सांझ ।।

मकड़ी धरि माषी छछि हारी, मांस पसादि चील्ह रखवारी।

मूस खेवट नाव बिलइया, मीडक सीवै सांप पहरइया।।

नित उठि स्याल स्यंघ सूँ सूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै ।।

उक्त अवतरण में नगरि - मानव शरीर, कुटवारी - रक्षक, पुरिष - मन, नारी - इन्द्रिय, बैल - सदोष मन, बियाइ - उत्पन्न करता है, गाइ - इन्द्रिय, बछरा - सदोष मन के आश्रित इन्द्रियों, मकड़ी - माया, मूसा - चंचल व ति वाला मन, बिलइया - दुष्टमति, मीडक - भ्रम में पड़ा मन, सर्प - संगय, स्याल - मति जीवात्मा, स्यंघ - काल के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इनके आधार पर उक्त अवतरण का संकेतित अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है। सन्त कबीर कहते हैं कि शरीर रूपी नगर की सुरक्षा कैसे की जाए? इसमें मन रूपी पुरुष तो अत्यन्त चंचल है तथा इन्द्रिय रूपी उसकी नारियाँ बड़ी विदग्ध हैं। साधना रूपी रक्षा का उपक्रम करने पर कुछ विचित्र स्थितियाँ पैदा हो गयी हैं तथा व ति रूपी गाय नैरात्क्य दशा को प्राप्त कर बंध्या हो गयी है। शुद्ध मन रूपी

बछड़ा अब तीनों समय चित रूपी बैल को दुहता है। माया रूपी मकड़ी के गह को स्वच्छ रखने वाली व तियाँ रूपी मक्खियाँ ही स्वच्छ होकर परित्र करने वाली हो गयी हैं अर्थात् वासनाओं से और अधिक आक्रान्त होने से बचा रही हैं। मन रूपी चूहा अब मल्लाह बन गया है तथा मन रूपी चूहे को मारने वाली शुद्ध बुद्धि रूपी बिल्ली ही उसको सहस्रार तक पहुँचाने वाली नाव के रूप में हो गयी है। मन रूपी मेंढक को साधना का फल प्राप्त हो गया है और कुण्डलिनी रूपी सर्पिणी जगकर उसकी रक्षा कर रही है। इसके फलस्वरूप साधक रूपी श्र गाल निर्भय होकर काल रूपी सिंह से संग्राम करता है।

3. विरोध मूलक उलटवासी -

कहने की आवश्यकता नहीं है कि कबीर की भक्ति में विरोध मूलक उलटवासियों की अधिकता है। यद्यपि ऐसी उलटवासियाँ उलटी दिखायी देती हैं, पर वे वैसी हैं नहीं। उनके सांकेतिक अर्थ खुल जाने पर वे बिलकुल सीधी-सुलटी दिखाई देने लगती हैं। उदाहरणार्थ -

आकासे मुखि आँधा कुवाँ, पाताले पनिहारि।

ताका पांणी को हंसा पीवै, बिरला आदि विचारि।।

सामान्य रूप से इसमें विरुद्ध बातें दिखाई पडती हैं।

लेकिन जब यह पता चल जाता है कि आभाष गगन मण्डल का, आँधा मुख ब्रह्मरन्ध्र का, पाताल मूलाधार चक्र और पनिहारि कुण्डलिनी का संकेतक है तब भी सारी दुविधा नष्ट हो जाती है।

एक साखी और -

आँगणि बेलि अकासि फल, अण व्यावर का दूध।

ससा सींग की धुनहड़ी, रमै बाँझ का पूत ।।

4. अदभुत रसमूलक उलटवासी -

कबीर की कुछ उलटवासियाँ अदभुत, अलौकिक और विचित्र हैं। इस बारे में द्वारिका प्रसाद सक्सेना ने लिखा है कि कबीर की कुछ उलटवासियाँ अदभुत और अलौकिक वर्णनों से युक्त होने के साथ अदभुत रस से भी परिपूर्ण हैं। इन उलटवासियों में कबीर ने प्रतीकों का आश्रय तो अवश्य लिया है, परन्तु इनके द्वारा कवि ने ऐसे ऐसे अदभुत चित्रों को अंकित किया है जिसको देखते ही आश्चर्य भक्ति रह जाना पडता है, और जिनका अर्थ सरलता से समझ में नहीं आता है। ये उलटवासियाँ गोयन शैली में लिखी गयी हैं। और इनमें कबीर की गहन एवं अनिवार्यतता अनुभूति का ही प्राधाल है। उदाहरणार्थ -

एक अचंभा देखा रे भाई,

ठाढा सिंध चरावै गाई ।।

पहलै पूत पिछे भई माँझ, चेला के गुरु लागे पाई।

जल की मछली तरवर ब्याई, पकरि बिलाई मुरगै खाई।।

बैलहि डारी गुनि धरि आई, कुत्ता कूँ लै गई बिलाई।।

तलकरि साखा ऊपरि करि मूल, बहुत भाँति जड़ लागे फूल ।।

कहै कबीर या पद को बूझै, ताँकू तीन्हूँ त्रिभवन सूझै।।

यहाँ पर सीधे सीधे अर्थ में बहुत विषमताएँ हैं लेकिन अब यह ज्ञात हो जाता है कि -

सिंध - त्रीव का, गाई - इन्द्रिय का, पूत - साधक का, माई - साधना का, चेला - साधक का, गुरु - अन रात्मा का, मछली

= कुण्डलिनी का, तरवर = सुषुम्ना का, कुत्ता = विषय भोग का, बिलाई = अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का, गुनि = मन का, मूल = ब्रह्मरन्ध्र का, फूल = मोक्ष, आनन्द का संकेतन है,

- तब सारी विषमताएँ और अदभुतताएँ नष्ट हो जाती हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उलटवासियों की रचना में कबीर बड़े सिद्ध हैं। इनमें उनकी अनुभूतियों के अनेक सन्दर्भ वर्तमान हैं, लेकिन वे हैं बड़े सूक्ष्म। आध्यात्मिक अनुभूति कर्णों को देखने के लिए सूक्ष्म दृष्टि चाहिए। अन्त में यही कहा जा सकता है -

तुम्ह जिनि जानों गति है, यहु निज ब्रह्म विचार।

केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे ॥

8. कबीर का काव्य शिल्प

कला की चरम परिणति का नाम अभिव्यंजना है। अभिव्यंजना ही कला की अस्मिता है। अभिव्यंजित कला ही शाश्वतता को अधिगत करती है, यही कला लोक की प्रेरिका-पथप्रदर्शिका भी बनती है। कबीर कोई कलाबाज (चमत्कारी कवि-कलाकार) नहीं थे, प्रदर्शन न तो उन्हें प्रिय था और न वे समाज के लिए ही उसे मंगलकारी मानते थे; इसलिए उन्होंने अपनी सहज साधु 'बानी' में अपने अन्तस् के सहज-सरल उद्गारों को बिना किसी बनाव ठनाव के कह दिया है। तथापि इस सहजता की स्थिति में भी लय है और गहन प्रभावमयता भी। चूँकि कबीर का काव्य ईश्वराधन था, उनका काव्य व्यक्ति-व्यक्ति के भेद की निर्मूलित करके प्रेमाधारित समाज की रचना था, इसलिए उन्होंने अपने भावोद्गारों को व्यक्त किया। कबीर की साधना नितान्त एकान्तिक आत्मनिष्ठ नहीं थी, वह समाजोन्मुखी थी, सम्प्रेषणोन्मुखी थी। कबीर की 'वानियों' का उद्देश्य सम्प्रेषण था। सम्प्रेषण इसलिए, क्योंकि वह अपने उपदेश को जनसामान्य तक पहुँचाना चाहते थे। इस कामना से उनकी 'वानियों' में अनायास भाषा विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है -

(क) कबीर की भाषा में प्रयुक्त शब्दावली -

जैसे व्यक्ति-व्यक्ति से समाज स्वरूपित होता है, वैसे ही शब्द-शब्द से भाषा भी स्वरूपित होती है। कबीर की काव्य भाषा की शब्दावली संसृति का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों में किया जा सकता है :-

1. पौराणिक शब्दावली -

कबीर ने अपनी प्रस्तुति को प्रबल तथा प्रस्फुट बनाने के लिए अनेक पौराणिक शब्दावली का प्रयोग अनेक सन्दर्भों में किया है। कबीरदास ने राम, शिव, सनकादिक, नारद, सनक, ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण, शेष, शुक्र, गोरख, भर्तृहरि, गोपीचन्द, रहीम, केशव, आदम, कुबेर, कष्ण, गणेश, नारद, सुदामा, हनुमान, काली, दुर्गा, पार्वती, राधा आदि अनेक पौराणिक शब्दों नामी स्थानों का प्रयोग करके भाषा के सांस्कृतिक पक्ष को व्यंजित किया है।

2. प्राकृतिक शब्दावली -

कबीर द्वारा प्रयुक्त प्राकृतिक मूलक शब्दावली के अन्तर्गत स्थलीय, जलीय, पवनीय, पावकीय, आकाशीय आदि समस्त प्रकृति रूप संलक्ष्य है। कबीर ने जीव जन्तुओं में मछली, मेंढक, मगर, कछुआ, सिंह चीता, हाथी, शूकर, बन्दर, गाय, बैल, भैंसा, कुत्ता, कौआ, चील, उल्लू, गरुड़, बगुला, हंस, मोर, कोयल, अललपक्षी, तीतर, मुर्गा, मुर्गी, सर्प, चूहा, अजगर, गोरिल्ला आदि वनस्पति जगत् के अन्तर्गत मालती वन, नीम वक्ष, आम्र, पीपल चन्दन, अरण्ड, बाँस, आक, सेमल आदि का, फलों में कमल, गुलाब, आदि का, पर्वतों में स्वर्ण पर्वत, मलयपर्वत आदि का, देश-ग्राम-नगर में कच्छदेश, बांगड़देश, जम्बूद्वीप, मालवादेश, मथुरा, द्वारका, काशी आदि का, नदियों - सरोवरों में गंगा, यमुना, गोदावरी, मानसरोवर आदि का तथा और भी अन्यान्य प्रकृति-प्रतिरूप को प्रकट शब्दायित किया है।

3. सामाजिक शब्दावली -

सामाजिक शब्दावली अपनी परिधि में एक व्यापक अर्थवत्ता को समाविष्ट किये हुए है। अस्तु, इसके अन्तर्गत वे सारे शब्द आ जाते हैं जो मानव के सामाजिक जीवन से सम्बद्ध हैं। कबीर ने सम्बन्धों की व्यंजना के लिए कंत, जननी, दुलहिनी, दूलह, सती, भर्तृहरि, पति, साइयाँ, प्रिय, देवर, ननद, सास, ससुर आदि का, खाद्य और पेय में आमिख, दूध, दही, मेवा, पान, नारियल, मिठाई, खीर, खँड, घत आदि का, गहस्थी के लिए उपयोगी वस्तुओं में चन्दन, पलंग, चैर, गागरि, चरखा, दीपक आदि का तथा अन्यान्य वस्त्राभूषणों का उल्लेख-व्यवहार किया है।

4. आर्थिक शब्दावली -

आर्थिक शब्दावली के अन्तर्गत कबीर ने कृषि, व्यापार तथा आर्थिक जीवन से सम्बन्धित अन्यान्य शब्दावली का प्रयोग किया है। कतिपय विशिष्ट व्यापक व्यवहृत शब्द द्रष्टव्य हैं। यह शब्द हैं - किसान, रहट, डेकुली, मोट, लोहारी, सोनारी, कुम्हारी, बढईगीरी, बनजारा, साह, तौल, नफा, बजार आदि शब्दों के साथ व्यापाराधारित नाना जातियों (अहीर, कसाई, कोरी, जुलाहा, खेवट, गुजरी, चमार, बनिया, मालिन) का यथास्थान व्यवहार किया है। इन शब्दों के प्रयोग से उस समय के आर्थिक परिप्रेक्ष्य का परिचय प्राप्त हो जाता है।

5. राजनीतिक शब्दावली -

कबीर की राजनीतिक शब्दावली के अन्तर्गत बादशाह (राजा), दीवान, कोतवाल, अढल, कचहरी, फौज, लश्कर, गढ़, तीर, बाण, धनुष, तलवार, बरछी, बन्दूक, तोप, गोला, युद्धक्षेत्र, यौद्धा आदि पर्याप्त शब्द देखे जा सकते हैं।

6. साधनामूलक शब्दावली -

कबीर काव्य की साधना मूलक या योगपरक शब्दावली के अन्तर्गत निम्नलिखित शब्दों की गणना होती है। ये शब्द हैं - अजपा जाप, अनहद या अनहद नाद, अम्रित, सहस्रार, अष्टकमल, आतम, इडा, उनमनि, खसम, गाइत्री, ओं, पिंगला, इंगला, निरंजन, निरति, बिन्दु, सहज, सुखमन आदि। कतिपय बहुशः प्रयुक्त शब्दों का संक्षिप्त अनुशीलन इस प्रकार किया जा सकता है।

अजपा जाप -

अजपा जाप बिना किसी बाह्य उपादान के आन्तरिक जाप है। जब श्वास-प्रश्वास के साथ जप की यह क्रिया सहज रूप से निरन्तर चलने लगती है, तब अजपा जाप की स्थिति होती है। साधक 'हं' ध्वनि के साथ श्वास को बाहर निर्गमित करता है और 'स' ध्वनि के साथ ग्रहण। इस प्रकार वह 'हंस' का जाप करता है। यही सोहमं भी कहलाता है। यह जप माला से विरहित बिल्कुल आत्मिक होता है। सन्त कबीर ने इस स्थिति को अनुभवते हुए लिखा है कि -

सुरति समांणी निरति मैं, अजपा मांहे जाप।

लेख समांणां अलेख में, यूं आपा मांहे आप ।।

अनहद नाद -

संसार में कानों के माध्यम से जो नाद सुनाई पड़ता है वह 'आहत नाद' है, जो अखण्ड नाद जगत के अन्तस्तल और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ध्वनित हो रहा है, उसी की शरीर में स्थित कुण्डलिनी को उद्बुद्ध करके अपने अन्तर्गत सुनना ही 'अनहद नाद' वा 'अनाहत नाद' है। 'अनाहत नाद' का मौलिक केन्द्र 'अनाहत चक्र' है। योगी-साधक अपनी अन्तरीण चेतना को अनाहत चक्र में समाहित करके 'अनाहत नाद' का भावन करता है। योगियों से प्रभावित होकर कबीर ने 'अनहद नाद' का व्यापक प्रयोग किया है।

यथा -

अनहद बाजै नीझर झरै, उपजै बहच गिआन ।

चक्र -

सामान्य रूप से शरीर में छः चक्र माने गये हैं और एक चक्र सिर के उपर शुन्य में बताया गया है जिसे सहस्रार, शुन्य, शुन्यमण्डल, गगन आदि कहा गया है। योगी छह चक्रों (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत या हृदय चक्र, विशुद्ध, आज्ञा चक्र या आकाश चक्र) को भेद कर ही ज्ञान की प्राप्ति करता है।

कुण्डलिनी -

मूलाधार चक्र के अधोभाग में स्थित सर्पिणी के आकार की एक शक्ति।

अम त -

अम त को नाथपंथियों ने अमीरसु, महारस, रसायन आदि की भी संज्ञा प्रदान की है। उनकी धारणा है कि इस रस को चखने के पश्चात साधक अमर हो जाता है। इस रस का स्रवण सहस्रार में विद्यमान चन्द्र से होता है जिसे योगी प्राणायाम या खेचरी मुद्रा द्वारा चखता है।

अवधू -

अवधू या अवधूत को पाप-प्रक्षालित करने वाला योगी बताया गया है। कबीर के सन्दर्भ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि कबीर दास का अवधूत नाथपंथी सिद्ध योगी है।

उक्त शब्दों के विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट रूप से भासित हो जाता है कि कबीर को नाना क्षेत्रों-स्थितियों-वर्गों की व्यापक शब्दावली तथा उनके विधान की सम्यक जानकारी थी।

शब्दावली संयोजन और विधान के पश्चात जब हम कबीर की भाषा पर पड़ताल करते हैं तब पता चलता है कि कबीर की भाषा में अनेक प्रकार के शब्दों के अतिरिक्त अनेक भाषाओं के शब्द भी देखे जा सकते हैं। राजस्थानी, पंजाबी, उर्दू, फारसी आदि आदि। इसीलिए आचार्य शुक्ल ने कबीर की भाषा पर टिप्पणी करते हुए लिखा था कि "कबीर की भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी, पंजाबी मिली खड़ी बोली है। पर रमैनी और शब्द में गाने के पद हैं। जिसमें काव्य की ब ज भाषा और कहीं पूर्वी बोली का व्यवहार है।"

ज्ञातव्य है कि कबीर की भाषिक रचना में अनेक प्रकार के शब्द हैं। उसमें प्रतीमाँ, अलंकारों, अप्रस्तुतों के साथ संगीतत्व और मुहावरे, लोकोक्तियों की भी विद्यमानता है। कबीर दास ने अनेक लोकोक्तियों एवं मुहावरों का कलात्मक प्रयोग करके अपनी भाषा को समृद्ध किया है। कतिपय उदाहरण दृष्ट हैं -

मीजै हाथ - हाथ मीजना

पारी बाट - बिगाड डालना

मुख में पडियारेत - अपमानित होना

स्वान की पूँछ गहलो - कमजोर का सहारा लेना

बहि-बहि मर्यो - भटकता हुआ, नष्ट होना आदि-आदि ।

(ख) कबीर का प्रतीक विधान :-

किसी शब्द, संख्या, नाम, गुण या सिद्धान्त आदि के सूचक चिन्ह को प्रतीक माना जाता है। इसका अंगरेजी रूपान्तर 'सिमबल' (symbol) है। जिसका तात्पर्य बताते हुए कहा गया है कि प्रतीक किसी विचार, भाव या अनुभव का दृश्य या श्रव्य चिन्ह या संकेत है जो उन तथ्यों को स्पष्ट करता है जो केवल मस्तिष्क, द्वारा ही ग्रहण किये जाते हैं। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने प्रतीक के स्वरूप को भावित करके जो लिखा है, वह नितान्त रेखांकनीय है। वे लिखते हैं कि प्रतीक से अभिप्राय किसी वस्तु की और इंगित करने वाला न तो संकेतमात्र है न उसका स्मरण दिलाने वाला कोई चित्र या प्रतिरूप है यह उसका एक जीता जागता एवं पूर्णतः क्रियाशील प्रतिनिधि है, जिस कारण इसे प्रयोग में लाने वाले को इसके ब्याज से उसके उपयुक्त सभी प्रकार के भावों को सरलतापूर्वक व्यक्त करने का पूरा अवसर मिल जाया करता है।

अस्तु, कहा जा सकता है कि प्रतीक, अलक्ष्य, अप्रस्तुत, अमूर्त के सकल आकार-प्रकार, गुण-धर्म का प्रस्तुत और मूर्त रूप है।

काव्य के अन्तर्गत प्रतीकों के व्यवहार की महत्ता निर्विवाद है क्योंकि रचनाकार प्रतीकों के माध्यम से ही जटिल, सूक्ष्म, अमूर्त अवस्थाओं को शब्दाकार प्रदान करता है। कबीर ने भी अपने अतिशय सूक्ष्म और अनिर्वचनीय प्रभु को व्यंजित करने के लिए प्रतीकों का सहारा लिया है। उनकी कविता में प्रतीकों के निम्न रूप परिलक्षित होते हैं-

1. पारिभाषिक प्रतीक

2- सांकेतिक प्रतीक

- | | |
|-----------------------|---------------------|
| 3. संख्या मूलक प्रतीक | 4. रूपकात्मक प्रतीक |
| 5. विरोधात्मक प्रतीक | 6. भावात्मक प्रतीक |

1. पारिभाषिक प्रतीक :-

कबीर ने पारिभाषिक प्रतीकों का प्रयोग अपनी हठयोगिक साधना की व्यंजना के लिए किया है। सन्तों के पारिभाषिक प्रतीकों पर सिद्धों और नाथों का प्रस्फुट प्रभाव पड़ा है। इन पारिभाषिक प्रतीकों में इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, अमीरस, कुण्डलिनी, गगन-गुफा, सजि, खसम, निरंजन, त्रिवेणी, आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

कबीर ने 'गगन गुफा' का प्रयोग ब्रह्मरन्ध्र के लिए किया है। कबीर की आस्था है कि जब साधना से ब्रह्मरन्ध्र उन्मीलित हो जाता है, तब अम तरस झरने लगता है।

कबीर कहते हैं -

रस गगन गुफा में अजर झरै।

अजपा सुमिरन जाप करै।।

जो साधक ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच जाता है, वह आवागमन से मुक्त हो जाता है।

2. सांकेतिक प्रतीक :-

आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्रायः गूढ एवं अनिर्वचनीय होती हैं। हमारी बैखरी वाणी उनकी अभिव्यक्ति में स्वयं को असमर्थ पाती है। फिर भी, प्रत्येक कवि या चिन्तक उन्हें व्यक्त अवश्य करना चाहता है। इसके लिए वह लोक जीवन के उन रूपों, चित्रों, वस्तुओं एवं सम्बन्धों का चयन करता है, जिनमें उनकी अनुभूति का साम्य हो और जो सामान्यतः लोक-परिचित तथा लोक प्रचलित भी हो। (डॉ० ब्रह्मीत गौतम) इस प्रकार सांकेतिक प्रतीक का विधान होता है।

सांकेतिक प्रतीकों तथा उनके द्वारा सांकेतिक भावों में सादृश्य के पाँच आधार-रूप, धर्म, क्रिया, स्वर, प्रभाव माने गये हैं। यहाँ यह शब्दायित करने की आवश्यकता नहीं है कि कबीर की बानियों में पर्याप्त सांकेतिक प्रतीक दृष्टिगत होते हैं। सन्तों ने अम्बर, आकाश, ऊँचा टीबा, ऊँचा व क्ष, गगन, गढ, शिव नगरी, शुन्य आदि को शुन्य चक्र के, अनल, कोल्हू, गोरी, जोनडी, नागिनी, नारी, मछली, राँड, अमंद आदि को कुण्डलिनी के, औँधा कुवाँ, कँवल कुवाँ, देहुरा, बनारस गाऊँ, भँवर गुफा आदि को ब्रह्मरन्ध्र के, अमरबेलि, घनबरषि, छाछ, नीर, पानी, महारस आदि को अमर वारुणी के, घंटा, जंत्र, झीझी, जंतर, दमामा, नटवर बाजा, मंदला, सींगी आदि को अनहद नाद के सांकेतिक के रूप में प्रयुक्त किया है। सांकेतिक प्रतीकों के माध्यम से कबीरदास चित्र बताते हुए लिखते हैं -

“ सरवर तटि हसणी तिसाई ।

जगति बिनां हरि जल पिया न जाई ।।

पीया चाहे तौ लै खग सारी, उडि न सके दोऊ पर भारी।

कुभलीयें ठाडी पनहारी, गुण बिन नीर भरे कैसे नारी ।।

कहै कबीर गुर एक बुधि बताई, सहज स्वभाव मिलै राम राई।।

यहाँ पर सखर-सहस्रार, हंसिनी-आत्मा, खग-कुण्डलिनी, पनहारी-कुण्डलिनी, गुण-सुषुम्ना नाडी का सांकेतिक है। अस्तु, पूरे अवतरण में सांकेतिक प्रतीक है।

3. संख्या मूलक प्रतीक :-

संख्याओं (एक, दो, तीन, पाँच, छः आदि) से जिन प्रतीकों की सर्जना होती है, वे संख्यामूलक प्रतीक कहलाते हैं। सन्त कबीर ने 'एक नारी' को माया के लिए, 'एकै पुरुष' को ब्रह्म के लिए, 'एकै अषिर' ऊँ के लिए, 'एक कुंभरा' विधाता के लिए,

‘एक दुआरा’ ब्रह्मरन्ध्र के लिए प्रयुक्त किया है।

संख्यामूलक प्रतीकों में एक के बाद कबीर ने पाँच का बड़ा व्यापक व्यवहार किया है। यह पाँच ज्ञानेन्द्रियों (हाथ, पाँव, वाणी, मल तथा मूत्रद्वार), पाँच विकारों (काम, क्रोध, मद, लोभ, तथा मोह) के लिए व्यवहृत किया गया है। कबीर ने इन्हीं सन्दर्भों में पाँच का प्रयोग किया है।

उदाहरणार्थ :

पंच संगी पिव पिव करे,

कहै कबीर जो पंचों मारै, आप तिरैं और कूँ तारे।

यहाँ पंच संगी - पाँच ज्ञानेन्द्रियों के तथा पंचौ-पाँच विकारों के प्रतीक हैं।

कबीर के काव्य में छः का प्रयोग मन, तान्त्रिक षट्कर्म (मारण, उच्चाटन, स्तम्भन, वशीकरण, शांति, विदूषण), सर्वजन विदित षट्कर्म (स्नान, सन्ध्या, पूजा, तप, तर्पण, होम), योग सम्बन्धी षट्कर्म (धोति, वस्ति, नेति, त्राटक, मौलिक, कमाल आदि) सन्दर्भों में किया गया है। कबीर काव्य का प्रयोग मुख्यतः नवधा भक्ति, शरीर के नवद्वार (दो आँख, दो कान, दो नासा-विवर, मुख, मलद्वार तथा मूत्रद्वार), नौ नाडियों (इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिवह्या, पूषा, पयस्विनी, लकुहा, अलम्बुसा), नौ गुण (शम, दम, शोच, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य) के लिए, दस का व्यवहार दस वायु (प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, नाग, कर्म, क कर, देवदत्त, धनंजय), शरीर के दस छिद्र (दो आँख, दो कान, नासा-विवर, मुख, मलद्वार, मुत्राधार) के लिए, बारह का द्वादशदल कमल (अनाहत चक्र) के लिए, चौदह का चौदह भुवन (भू, भुवः स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य, अतल, सुतल, वितल, तलातल, महातल, रसातल, तथा पाताल) के लिए, सोलह का विशुद्ध चक्र तथा सोलह श्रंगार (उबटन, स्नान, सुन्दर वस्त्र धारण, बाल सँवारना, काजल, सिंदूर, महावर, तिलक, चिबुक पर तिल, मेंहदी, सुगन्धि, आभूषण, पुष्प माला, मिस्सी, पान, होठ रचना आदि) के लिए, पच्चीस तत्त्वों (पाँचों तत्त्वों की पाँच-पाँच प्रकृतियाँ, आकाश- काम, क्रोध, लाभ, मोह, भय; वायु - चलन, बलन, धावन, प्रसारण, संकोचन; अग्नि - क्षुधां, तषा, आलस, निद्रा, मैथुन; जल - लार, रक्त, पसीना, मूत्र, वीर्य; पृथ्वी - हाड़, माँस, त्वचा, रीम, नाडी) के लिए, चौसठ देवा चौसठ कलाओं के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

संख्यामूलक प्रतीकों के अन्तर्गत एक, पाँच, नौ, दस, पच्चीस आदि के लिए कबीर का ‘मेरे जैसे बनिज सौं कवन काज’ वाला पद अवलोकनीय है।

उदाहरणार्थ -

मेरे जैसे बनिज सौं कवन काज,

मूल घटैं सिरि बधै ब्याज

नाइक एक बनिजारे पाँच, बैल पचीस कौ संग साथ।

नव बहियाँ दस गौनि आहि, कसनि बहतरि लागै ताहि ॥

सात सूत मिलि बनिज कीन्ह, कर्म पयादौ संग लीन्ह।

तीन जगति करत शरि, चलयौ है बनिज वा वनज झारि॥

बनिज सुटानौं पूंजी दूटि, षाडू यह दिसि गयौ फूटि।

कहै कबीर यहु जन्म बाद, सहजि समौनु रही लादि ॥

4. रूपकात्मक प्रतीक :-

रूपकात्मक प्रतीक केवल रूपक अलंकार तक ही सीमित न होकर, काफी विस्तार को लिये हुए है। कबीर ने दर्शन की जटिलता को सरल बनाने के उद्देश्य से रूपकों की रचना की है। कबीर रूप की के अप्रस्तुत कार्य और परिस्थिति के

सम्पूर्ण बिम्ब को उतारने में अत्यन्त सफल हुए हैं। सन्त कबीर रूपकात्मक प्रतीक की आयोजना करते हुए लिखते हैं कि -

काहे री नलिनी तूँ कुमिलांनी ।
तेरै ही नालि सरोवर पांनी ॥
जल में उतपति जल में बास, जल में नलनी तोर निवास
ना तलि तपति न उपर आगि, तोर हेतु कहु कासनि लागि
कहै कबीर जे उदिक समांन, ते नहीं मूए हमारे जान।

यहाँ पर नलिनी - आत्मा, सरोवर पानी तथा जल - हरि के उपमान के रूप में आकार दार्शनिक जटिलता को बड़ी सरलता और स्पष्टता के साथ व्यंजित करने में समर्थ हुए हैं ।

5. विरोधात्मक प्रतीक :-

विरोधमूलक प्रतीक उक्ति चमत्कार पर आश्रित होते हैं। इन्हीं के अन्तर्गत अलटवासियाँ आती हैं। उदाहरण द्रष्टव्य है -

“आंगणि बेलि अकासि फल, अण व्यावर का दूध ।
ससासीग की धुनहड़ी, रमें बाँझ का पूत ॥”

आशय यह है कि माया उस लता के समान है जो संसार रूपी आंगन में लगी है, जिसका फल आकाश में लगता है। वह माया बिना ब्याई हुई गाय के दूध के समान है, खरगोश की सींगकी ध्वनि के समान है। वह बंध्या के पुत्र की क्रीड़ा के समान है। अर्थात् ये विरुद्ध बातें हैं।

6. भावात्मक प्रतीक :-

भावात्मक प्रतीकों के अन्तर्गत प्रेमी और प्रियतमा के प्रतीक आवेंगे। निर्गुण कवियों ने ब्रह्म को अपना ‘पीव’, ‘प्रीतम’, ‘कंत’ आदि मानकर अपनी भावानात्मक समीपता व्यक्त की है। भावात्मक प्रतीक विधान के अन्तर्गत प्रणय के दोनों रूप दृष्टिगत होते हैं। इसके अन्तर्गत कहीं तो मिलन के आनन्द का महासागर तरंगयित हो रहा है और कहीं व्यथा की अपार ‘पीर’ चिह्न को चीर रही है। कबीर की आत्मा जब उसे अपने घट के भीतर प्राप्त कर लेती है, तब उस ‘पीव’ को न जाने देने के लिए कटिबद्ध हो जाती है -

अब तोहिं जान न दैहूं रांम पियारे।
ज्यों भावै त्यों होहु हमारे।।
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाए। भाग बड़े घर बैठे आए ॥
चरननि लागि करौं बरिआई। प्रेम प्रीति राखौं उरझाई ॥
आज बसौं मन मन्दिर चोखै। कहै कबीर परहु मति धोखै ॥

सारांशतः कहा जा सकता है कबीर का प्रतीक कोष बड़ा व्यापक है। उनके अधिकांश प्रतीक प्रकृति-जगत से लिये गये हैं। उनकी प्रतीक योजना पर नाथों और सिद्धों का प्रभाव है, लेकिन वह पिष्टपेषण मात्र नहीं हैं। कबीर ने अपनी प्रतीक-योजना को एक नया सन्दर्भ प्रदान किया है। उन्होंने एक-एक भाव-स्थिति के लिए कई-कई प्रतीकों का आयोजन किया है।

(ग) कबीर का अप्रस्तुत विधान :-

कबीर के अन्तर्गत अप्रस्तुतों की महत्ता निर्विवाद है। अप्रस्तुत उत्तम काव्य के अनिवार्य उपादान है। अप्रस्तुतों को ही उपमान की भी संज्ञा प्राप्त है। आलंकारिक योजना के मुख्य दोनों तत्वों उपमेय और उपमान में उपमान या अप्रस्तुत योजना

ही मुख्य है। यह काव्य का प्राण है, कला का मूल है और कवि की कसौटी है। यही काव्य में प्रभाव उत्पन्न करती है, प्रेषणीयता लाती है, भावों को विशद बनाती है और रसनीयता को वर्द्धिता करती है। जो कविता अप्रस्तुत योजना से शुन्य होती है वह उतनी ह दयाकर्षक नहीं होती, अमन्द आनन्द के दान में समर्थ नहीं होती। (राम दहिन मिश्र)

वास्तव में अप्रस्तुत रूप, गुण और धर्म को लक्षित करके कल्पना के आधार पर लाया गया तत्व है। यह अप्रस्तुत भिन्न-भिन्न अलंकारों में भिन्न भिन्न स्वरूप को लेकर समाहित रहता है। अलंकारों की सृष्टि ही अप्रस्तुतों की पीठिका पर होती है और अलंकाररहित काव्य की कल्पना दुरुह होती है। इसलिए काव्य, कवि और सह दय सभी के लिए अप्रस्तुतों की पहचान आवश्यक है, सभी इसकी प्रभा और प्रभाव से अनुप्राणित हैं।

सामान्य रूप से तो अप्रस्तुत-विधान का विभाजन साम्यमूलक, अतिशय मूलक, विरोधमूलक (वैषम्यमूलक) आदि रूपों में किया जाता है, लेकिन जिन अलंकारों में अप्रस्तुत को खेलने का खुलकर अवसर मिलता है, वे अलंकार अधोलिखित हैं - उपमा, रूपक, दृष्टान्त, अन्योक्ति, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, उल्लेख, भ्रान्तिमान, तद्गुण, अतद्गुण, विशेषोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, लोकोक्ति, प्रतीक, विशेषोक्ति, भेदकातिशयोक्ति आदि आदि। कतिपय प्रधान अलंकारों के परिप्रेक्ष्य में कबीर के अप्रस्तुत विधान का अनुशीलन इस प्रकार किया जा सकता है -

उपमा :-

सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा की प्रमुखता असंदिग्ध है। कबीर ने अपने अभीष्ट को प्रस्तुत स्पष्ट बनाने के लिए अप्रस्तुतों का आनयन किया है। कबीर माया को 'मीठी खाँड' के समान बताते हुए कहते हैं -

कबीर माया मोहिनी, जैसी मीठी खाँड।

सतगुर की क पा भई, नहीं तौ करती भाँड।।

यहाँ पर उपमा के चारों अंग उपमेय, उपमान, साधारण-धर्म और वाचक शब्द विद्यमान हैं, अस्तु पूर्णोपमा है।

रूपक :-

कबीर ने अपनी संधारणा और संदृष्टि को सुरेखित करने के लिए अनेक स्थलों पर रूपक अलंकार का सुन्दर प्रयोग किया है। रूपक अलंकार में उपमान उपमेय पर आरोपित रहता है। रूपकाश्रित उपमान की कतिपय छवियाँ संलक्ष्य हैं। सन्त कबीर का 'ज्ञान की आँधी' वाला सांगरूपक साहित्य जगत में बहुचर्चित है। कबीर का अभिमत है कि अज्ञान के आवरण से ही ज्ञान की ज्योति का उन्मेष होता है और भक्ति का उदय भी। इस भाव-सत्य को कबीर ने छप्पर, आँधी और वर्षा की रूपक-रचना के द्वारा व्यंजित करने का प्रयास किया है। वे कहते हैं कि -

संतो भाई आई ग्यान की आँधी रे।

भ्रम की टाटी सबै उडाँगी, माया रहै न बाँधी ।।

हिति चित की द्वै थूनीं गिरांनी, मोह बलिंडा तूटा ।

त्रिस्ना छाँनि परि घर उपरि, कुबधि का भाँडाँ फूटा।।

जोग जुगति करि संतों बाँधी, निरचू चुवै न पाँगी ।

कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जाँगी।।

आँधी पीछें जो जल बूठा, प्रेम हरि जन भीना।

कहै कबीर भान के प्रगटे उदित भया तम पीनों ।।

कबीर ने अन्यत्र भी मन के लिए मथुरा, दिल के लिए द्वारका, काया के लिए काशी तथा ब्रह्मरन्ध्र के लिए देवालियों का रूपक प्रस्तुत किया है। यथा -

मन मथुरा, दिल द्वारिका, काया कासी जांणि।

दसवां द्वारा देहरा, तामें जोति पिछांणि ॥

द ष्टान्त :-

कबीर ने अपने मत की पुष्टि के लिए अनेक द ष्टान्तों का प्रयोग किया है। सन्त कबीर ने सुन्दरी नारी की भयंकरता तथा दाहकता को उद्दिष्ट करके उसे अग्नि के द ष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया है। यथा -

सुन्दरि थै सूली भली, विरला बंचे कोइ ।

लौह निहाला अग्नि में, जलि बलि कोइला होइ ॥

उदाहरण :-

चूँकि कबीर का पूरा साहित्य सामान्य जन के उद्बोधन के लिए रचा-लिखा गया है, अस्तु वहाँ कथन को स्पष्ट एवं बोधगम्य बनाने के लिए पर्याप्त उदाहरणों का प्रयोग द ष्टिगत होता है। सन्त कबीर ने कामी व्यक्ति की स्थिति का बोध कराने के लिए निद्राभिभूत व्यक्ति का उदाहरण दिया है -

कौमी लज्जा नाँ करे, मन माँह अहिलाद ।

नीद माँगै साँथरा, भूष न माँगै स्वाद ॥

उक्त कतिपय अलंकारों में समाहित अप्रस्तुत-विधान को लक्षित करके कहा जा सकता है कि कबीर का अलंकार विधान अनायास और आनन्दात्मक है। वह उनकी कविता पर आरोपित नहीं है। उदाहरण दे देकर सारे अलंकारों को सविस्तार समझाया जा सकता है, लेकिन इस कार्य से अनावश्यक विस्तार हो जायेगा। इसलिए, इस सन्दर्भ में यही ज्ञातव्य है कि कबीर ने अपने अप्रस्तुतों का चयन लौकिक और प्राकृतिक जगत से किया है। उन्होंने औपम्यमूलक उपमानों का प्रयोग कथ्य को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए तथा रूपकमूलक उपमान का प्रयोग प्रतिपाद्य को विश्वसनीयता प्रदान करने के लिए किया है।

(घ) कबीर की उलटवासियाँ -

सन्त साहित्य के आलोचकों ने उलटवासी के लिए अनेक रूपों-नामों-उलटबाँसियाँ, उलटबाँसी, उलटबासी, उलटबाँसी, को प्रस्तावित किया है। सन्तों ने इस शैली के लिए 'उलटी चरचा', 'उलटी थापना', 'उलटि बेद', 'उलटा ख्याल' आदि नाम भी प्रदान किये हैं। इस सन्दर्भ में ज्ञातव्य है कि उलटवासी नाम प्रयोग पुरातन न होकर, आधुनातन है। संतों की, विशेषरूप से कबीर की, अटपटी अभिव्यक्ति को किस आधार पर 'उलटवासी' कहा गया इसका कोई प्रामाणिक निर्णय संभव नहीं। संत परम्परा की गदिदियों पर 'अटपटी बानी' को 'उलटवासी' या इसके निकटवर्ती नाम से पुकारने की परम्परा का अवलोकन साहित्यिकों ने किया है और सम्प्रदाय से चलकर, शैली विशेष के लिए, साहित्य में 'उलटबाँसी' नाम प्रचलित हुआ है। (डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र) ।

'मानक हिन्दी कोश' में उलटवासी के स्वरूप को संलक्षित करके कहा गया है कि उलटवाँसी = उलट + बासी, साहित्य में ऐसी उक्ति या कथन (विशेषतः पद्यात्मक) जिसमें असंगति, विचित्र, विभावना, विषम, विशेषोक्ति आदि अलंकारों से मुक्त कोई ऐसी विलक्षण बात कही जाती है जो प्राकृतिक नियम या लोक नियम या लोक-व्यवहार से विपरीत होने पर भी किसी गूढ़ तत्त्व से युक्त होती है।

उलटवासी के स्वरूप के सन्दर्भ में सारतः कहा जा सकता है कि जहाँ पर अध्यात्म की भावना है और उस भावना में विरोधाभास होता है और इस आभास के माध्यम से कवि साधक अपने अभिप्रेत को लुप्त रखना चाहता है, इस उद्देश्य से कि सामान्य व्यक्ति उसके मन्तव्य को न समझ सके, वहाँ पर उलटवासी की सत्ता होती है। डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित ने लिखा है कि संतों ने उलटवासियों में अत्यन्त दुरुह तथा गूढ़ योजनाओं को व्यक्त किया है।

उलटवासियों के संसार में कबीर का बडा नाम है। यद्यपि वे पढ़े लिखे न थे, पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी, जिससे

उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य चमत्कारपूर्ण बातें निकलती थी। इन उक्तियों में विरोध और असम्भव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था।

उदाहरणार्थ : (आचार्य शुक्ल)

कैस नगरि करौ कुटवारी, चंचल पुरिष विचषन नारी ।
 बैल बियाइ गाइ भई बाँझ, बछरा दूहै तीन्यू साँझ ॥
 मकड़ी धरि भाषी छछिहारी, मांस पसारि चील्ह रखवारी।
 मूसा खेवट नाव बिलइया, मीडक सौवै सांप पहरइया।
 नित उठि स्याल स्यंध सूं झूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै ॥

उक्त अवतरण में नगरि मानव-शरीर, कुटवारी-रक्षा, पुरिष-मन, नारी-इन्द्रिय, बैल-सदोषमन, बियाइ-उत्पन्न करता है, गाइ-इन्द्रिय, बछरा-सदोष मन के आश्रित इन्द्रियों, मकड़ी-माया, मूसा-चंचल व ति वाला मन, बिलइया-दुष्टमति, मीडक-भ्रम में पड़ा मन, सर्ष-संशय, स्याल-भीत जीवात्मा, स्यंध-काल के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इनके आधार पर उक्त अवतरण का संकेतित अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है। सन्त कबीर कहते हैं कि शरीर रूपी नगर की सुरक्षा कैसे की जाए? इसमें मन रूपी पुरुष तो अत्यन्त चंचल है तथा इन्द्रिय रूपी उसकी नारियाँ बड़ी विदग्ध है। साधना रूपी रक्षा का उपक्रम करने पर कुछ विचित्र स्थितियाँ पैदा हो गई हैं तथा व ति रूपी गाय नैरात्म्य दशा को प्राप्त कर वंध्या हो गयी है। शुद्ध मन रूपी बछड़ा अब तीनों समय चित रूपी बैल को दुहता है। माया रूपी मकड़ी के ग ह को स्वच्छ रखनेवाली व तियों रूपी मक्खियाँ ही स्वच्छ होकर पवित्र करने वाली हो गयी हैं अर्थात् वासनाओं से और अधिक आक्रान्त होने से बचा रही हैं। मन रूपी चूहा अब मल्लाह बन गया है तथा मन रूपी चूहे को मारने वाली शुद्ध बुद्धि रूपी बिल्ली ही उसको सहस्रार तक पहुँचाने वाली नाव के रूप में हो गयी है। मन रूपी मँडक को साधना का फल प्राप्त हो गया है और कुण्डलिनी रूपी सर्पिणी जगकर उसकी रक्षा कर रही है। इसके फलस्वरूप साधक रूपी श्र गाल निर्भय होकर काल रूपी सिंह से संग्राम करता है। कबीर का एक उदाहरण और -

समंदर लागी आगि, नदियों जलि कोइला भई।

देखि कबीरा जागि, मंछी रूषां चढि गई ॥

यहाँ पर 'समंदर' मूलाधार चक्र, 'नदियों' इड़ा, पिंगला, मंछी - कुण्डलिनी, रूषां - मेरुदण्ड का बोधक है।

(ड.) कबीर काव्य में संगीतात्मकता :-

साहित्य के अन्तर्गत संगीत की संस्थिति निर्विवादित है। काव्य की छन्द-बद्धता को संगीत की सत्ता से प थक नहीं किया जा सकता है। आज जब मुक्त छन्द का व्यापक प्रचार-प्रसार है, इसमें रचित साहित्य की प्रचुरता है, तब भी उसके लयतत्व में संगीत की संस्थिति है। कविता का रूप-स्वरूप परिवर्तित हो सकता है, पर वह संगीततत्व से कदापि विरहित नहीं हो सकता, क्योंकि कविता के अन्तर्गत संगीततत्व से आशय रमणीय अर्थ के साथ स्वर को मधुरता, समरसता तथा लयात्मकता के सघात से है। इस प्रकार, संगीत के तीन उपजीव्य तत्व-नाद, छन्द, लय-अंगीकार किये जा सकते हैं।

काव्यकला का आधार भाषा है जो नाद का ही विकसित रूप है, (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी) नादतत्व को शब्दाकारित करने में शब्दालंकारों का विशेष महत्व होता है। इनमें से अनुप्रास का प्रधान स्थान है। वास्तव में शब्दविधि आन-कौशल, लय-माधुर्य आदि से गीत सुदृढ स्निग्ध, चमकीले रेशमी तारों से बुने हुए सिल्कसा उतरता है। (डॉ० रामेश्वर लाल खण्डेलवाल)

अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में भले ही मतभेद हों, परन्तु छन्द (नाद-लय) के प्रभाव को अस्वीकार करना सबके लिए कठिन है। काव्य में छन्द समर-सता और एकता का विधायक होता है वह सौन्दर्य तथा प्रभाव को प्रादुर्भूत करता है और कविता को गति एवं प्रति प्रदान कर उसे प्रवहमान् बनाता है।

संगीत का अगला तत्व लय है। छन्द और लय में बड़ा गहरा सम्बन्ध है। आचार्य शुक्ल ने व्यंजित किया है कि छन्द वास्तव में बँधी हुई लय के भिन्न भिन्न ढाँचों का योग है जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता है।

अस्तु, संगीत के तीनों तत्वों (नाद, छन्द, लय) में लय का विशेष महत्व है। यदि कविता से लय को निकाल लिया जाये तो वह गद्य बन जायेगी। लय के परिप्रेक्ष्य में या यों कहें कि संगीततत्व के सन्दर्भ में जहाँ तक कबीर साहित्य का प्रश्न है, उस सन्दर्भ में ज्ञातव्य है कि कबीर की सभी बानियाँ छन्दबद्ध हैं। उनके छन्दों का अध्ययन करने पर अनुभव होता है कि उन्होंने अधिकतर उन्ही छन्दों का प्रयोग किया है जो उन्हें सरल या प्रभावोत्पादक प्रतीत होते थे या जो उन्हें लोक परम्परा से प्राप्त हुए थे।

कबीर ने छन्दों पर अपना अवधान केन्द्रित नहीं किया था, इस उदासीनता का कारण दृष्टिकोण की भिन्नता थी। उनका मनोरथ विश्वमानव को एक सूत्र में बाँधते हुए हरि-स्मरण करना था। फिर भी कबीर ने साखी, सबद और रमैनी का व्यवहार किया है। साखी तो दोहे का आध्यात्मिक नाम है और सबद (शब्द) तो गेय पद है। चूँकि कबीर के चेतना सम्प्रेषणोन्मुखी थी, वे अपनी बात को आसानी से लोक तक पहुँचाना चाहते थे, इसीलिए कबीर ने सारी परम्पराओं की अवमानना करते हुए लय-तत्व को बड़ी गहराई के साथ स्वीकार किया है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि कबीर के 'सबद' गेय ही नहीं, अनेक रागों पर भी खरे उतरे हैं। उनका यह खरापन उनकी सांगीतिक संदृष्टि का परिचायक है। 'गुरुग्रन्थसाहिब' में संकलित कबीर के अनेक पद अनेक रागों (सिरी, गउडी, आसा, गूजरी, सोरटि, घनासरी, तिलंग, सूही, विलावलु रागु) में विभक्त हैं। यद्यपि यह वर्गीकरण कबीर के द्वारा सम्पादित नहीं हुआ है, फिर भी, संगीतात्मकता के अभाव में वर्गीकरण की यह सम्भावना नहीं की जा सकती थी।

(च) कबीर के काव्य रूप :-

कबीर की सारी रचनाओं का एक ही उद्देश्य था - भवसागर से जीव की मुक्ति। वे कहते हैं -

हरि जी यहै विचारिया साखी कहीं कबीर ।

भौ सागर में जीव है जे कोई पकड़े तीर ॥

वैसे तो कबीर की अनन्त रचनाएँ मानी गयी हैं -

जेते पत्र बनसपति औ गंगा की रेन ।

पंडित विचारा का कहै, कबीर कही मुख बैन ॥ कबीर बीजक

- लेकिन प्रामाणिक तीन्ही हैं। इन तीनों रचनाओं के आधार पर उनकी रचनाओं के निम्नलिखित काव्यरूप दिखायी पडते हैं।

1. साखी	2. सबद (पद)	3. रमैनी
4. चौंतीसा	5. बावनी	6. विप्रभतीसी
7. वार	8. थिंती	9. चौंचर
10. वसन्त	11. हिंडोला	12. बेलि
13. कहरा	14. विरहुली	15. उलटबाँसी

साखी 'ज्ञान की आँख' हैं। वे उपदेश मूलक हैं। सबद या पद गीतात्मक हैं। ये लौकिक और पारलौकिक भावों से युक्त हैं। रमैनी में चौपाई-दोहा छन्द का प्रयोग है। इसमें परमतत्व, भक्ति, संसार आदि पर विचार किया गया है। 'चौंतीसा' का काव्यरूप बीजक में वर्तमान है कबीर बीजक में ही विप्रभतीसी, चौंचर, हिंडोला, कहरा, विरहुली, बलि आदि काव्यरूप देखे जा सकते हैं। आदिग्रन्थ में बावनी, वाद तथा थिंती काव्यरूप वर्तमान हैं। 'वसन्त' काव्यरूप सर्वत्र देखा जा सकता है।

स्पष्ट है कि कबीर दास ने लोक में प्रचलित, नाथों-सिद्धों द्वारा प्रयुक्त काव्यरूपों को ग्रहण किया है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कबीर की 'बानी' केवल उपदेशमूलकता के लिए ही सराहनीय नहीं है, वरन् उनमें काव्यशिल्प के अनेकों उपादानों का सुन्दर तथा प्रभावशाली संयोजन देखा जा सकता है।

9. कबीर के साहित्य में प्रयुक्त कुछ पारिभाषिक शब्द

(1) अजपा जाप

अजपा जाप में दो शब्द हैं : अजपा और जाप। यहाँ पर 'अजपा' जाप का विशेषण नहीं हैं, वरन् वह संज्ञा पुंल्लिग है और तांत्रिकों का हंस नामक मंत्र है जिसका जप श्वास-प्रश्वास के साथ चलता रहता है। 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' में इस मंत्र (हंस) के स्वरूप और महत्व के विषय में कहा गया है कि साधक 'ह' ध्वनि के साथ श्वास बाहर निकालता है और 'स' ध्वनि के साथ श्वास भीतर खींचता है। इस क्रिया से जीव प्रति पल 'हंस-हंस' करते हुए इस मन्त्र का जाप करता रहता है। यह गायत्री मंत्र मोक्षप्रदायी है और समस्त विद्या ज्ञान और जप में सर्वश्रेष्ठ भी हैं :-

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।

हंसहंसेत्ययं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी।

अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते।।

अनया सद शी विद्या अनयसा सद शो जपः।

अनया सद शं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति।।

-गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह

भक्ति भेदों में जप का, 'सुमरिन का महत्व सर्वोपरि है। इसी भावसत्य को भावित करके गोस्वामी जी ने बड़े विश्वास के साथ घोषित किया था कि 'भाव कुभाव अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ।।' लेकिन जब यह जत स्थूल -आडम्बर बन जाता है, तब बड़ा अमंगलमकारी हो जाता है। चूँकि साधना की ह्रासोन्नमुखता के कारण यह श्रेष्ठ कर्म भी क्षरित हो गया, जप केवल आडम्बर बन गया, इसलिए नाथों ने इनका विरोध करते हुए मानसिक जप 'अजपा जाप' को प्रस्तावित और व्यवह त किया। चूँकि कबीर भी आडम्बर -विरोधी थे, इसीलिए उन्होंने इसको बड़ी प्रसन्नता के साथ अंगीकार किया।

सन्त कबीरदास ने अपनी अनेक साखियों में इस 'अजपाजाप' की महत्ता का वर्णन किया है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि व्यक्ति यदि साधक अजपाजाप के द्वारा साधना की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् वह (आत्मतत्त्व) परमतत्त्व के स्वरूप में लीन हो जाता है। इस स्थिति को इन साखियों के द्वारा समझा जा सकता है :-

सुरति समानी निरति मैं, अजपा माहें जाप।

लेख संमाना अलेख मैं, यौं आया माहे आप।।

तथा -

मेरा मन सुमिरै राम कूँ, मेरा मन रामहिं आदि।

अब मन रामहिं है रहया, सीस नवखौं काहि।।

तूँ तूँ करता हूँ भया, मुझ मैं रही न हूँ।

बारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित हूँ।।

अजयाजाप की इसी श्रेष्ठता के कारण कबीर 'मालाजाप' का विरोध करते हैं। वे जानते हैं कि अजयाजाप ही निरन्तर और निर्विरोध चल सकता है। दूसरे प्रकार के जप से तो अनेक प्रकार की विघ्न बाधाएँ हैं। अपनी एक साखा में उन्होंने कहा है कि मन की माता (अजयाजाप) से ही संसासर प्रमाणित होता है -

माला पहरेँ मनुमुषी, ताथे कछू न होइ।

मन माला कों फरताँ, जुग उजियारा सोइ।।

वास्तव में, 'अजयाजाप' ईश्वर की आराधना की उत्कृष्ट अवस्था है। यह साधन और आडम्बर निष्पक्ष हैं, लेकिन प्रीति-स्मृति और चित की स्थिरता साक्षेप है। साधन हीन होकर शूल की साधना कोई संकल्प व्रती अन्ततः असाधारण साधक ही कर सकता है। कबीर ऐसे ही साधक संत थे।

(2) अनहदनाद

अनहद या अनाहद का बहुशः प्रयोग कबीर साहित्य में मिलता है। कबीर ने भी इसका अनेक बार प्रयोग किया है। 'अनहद' या 'अनाहद' अनाहत का तद्भव है। 'आ' उपसर्गयुक्त 'हन्' धातु से 'क्त' प्रत्यय होने पर आहत शब्द और उसका 'न' समास में 'न' लोप हो जाने पर अनाहत शब्द बना है। संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभस पृ. 57। जिसका कोशगत अर्थ है जिस पर आघात न हुआ हो। कबीर साहित्य में इसका प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है।

योग में शब्द के दो भेद आहत और अनाहत-बताये गये हैं। आहत को ही बैखरी वाणी (शब्द) कहा गया है। आहत शब्द वे शब्द हैं जो उच्चारण अवयवों के संसर्ग संघर्ष के परिणामतः उच्चारित होते हैं और अनाहत वे शब्द हैं जो उच्चारण अवयवों के घात प्रतिघात के बिना ही सुनायी पड़ते हैं। आहत शब्द तो सभी सुनते हैं - सुन सकते हैं, लेकिन अनाहत शब्द (अनहद नाद) योगी साधक ही सुन पाता है। जब तक व्यक्ति सांसारिक प्रपंचों में लिप्त रहता है। तब तक उसे अनहद नाद नहीं सुनायी पड़ता है, लेकिन जब वह अपनी चित्रव तियों को सांसारिक प्रपंचों से विमुख करके अन्तर्मुखी बना देता है तब वह बड़ी स्पष्टता के साथ अनहदनाद सुनने लगता है। डा० राजदेव सिंह ने लिखा है कि उन्मनी अवस्था में पहुँचने पर यही अनाहत नाद शंख, दुंदुशी, मेघगर्जन आदि के ऊँचे स्वर की तरह सुनाई पड़ने लगता है। यह अनाहत नाद या शब्द देशकाल की सीमाओं से अतीत है। न इसका आदि है न अन्त। इसके ठीक विपरीत आहत शब्द हैं जो पैदा होता है और फिर विलीन हो जाता है। स्पष्ट है कि अनाहत नाद असीम है और आहत नाद ससीम।

अनहदनाद कुण्डलिनी जागरण के पश्चात् सुनायी पड़ता है। पहले यह नाद स्थूल होता है, फिर सूक्ष्म हो जाता है। साधक का चित सूक्ष्मनाद का श्रवण करता है। इस श्रवण से मन की सारी चंचलता नष्ट हो जाती है, चित एकाग्र हो जाता है। 'अनहदनाद' के परिप्रेक्ष्य में जहाँ तक कबीर का प्रश्न है, उस बारे में उल्लेखनीय है कि सन्त कबीर योग की इस प्रक्रिया से अज्ञात नहीं थे। उन्होंने अपने अनेक पदों में 'अनहदनाद' की अनुभूति की चर्चा की है। एक जगह कहते हैं कि जब राशि (इड़ा) और सूर्य (पिंगला) का योग होता है तब सुषुम्ना नाड़ी खुलती है और कुण्डलिनी चक्रों का भेदन करती है, वह शून्य में समाविष्ट होती है। तभी अनहद नाद सुनायी पड़ता है। यथा -

ससि हरि सूर दूर दूरंतर, लागी जोग जुग तारी।

उलटे पवन चक्र षट बेधा, मेर डंड सरपूरा।।

गगन गरजि मन सुनि समौनाँ, बाजै अनहद तूरा।

कुछ पंक्तियाँ और विचारणीय हैं जिसमें कबीर दास ने विचित्रनाद (अनहदनाद) का निरूपण किया है। उन्होंने लिखा है कि अनहदनाद में चित्त की अनुरक्ति से तन्माओं से मुक्ति मिल जाती है।

अवधू ग्यान लहरि धुनि मांडी रे।

सबद अतीत अनाहद राता, इहि बिधि त्रिष्णों षाँडी।।

ऐसे ही भाव से युक्त यह साखा भी देखिए -

अनहद बाजै नीभर थरे, उपजे ब्रह्म गियान।

अविगति अंतरि प्रगटै, लागै प्रेम धियान।।

3. उनमन

उनमनि, उनमनी या उनमन संस्कृत के उन्मनसी (उत्+मनस्+ङीय्) शब्द से बना है। इसका सामान्य अर्थ है -अन्यमनस्क, संसार से उदासीन, निर्लिप्त। यानि मन की वह दशा जब वह सांसारिक विषयों से पराङ्मुख होकर ईश्वरोन्मुख हो जाती है, उनमन दशा होती है। 'द श्लोक प्रदीपिका' में इसे मनोन्मनी अवस्था कहा गया है :-

एकं सष्टिमयं बीजं, एका मुद्रा च खेचरी।

एको देनो निरालम्बः, एकावस्था मनोन्मनी।।

वहीं पर यह भी बताया गया है कि उन्मन दशा में वायु का संचरण अन्दर की ओर होता है, मन चंचलता रहित होकर स्थिर हो जाता है। वास्तव, में मन की यही अवस्था मनोन्मनी अवस्था है -

मारुते मध्ये संचारे, मनः स्थैर्यं प्रजायते।

यो मनः सुस्थिरी भावः सैवावस्था मनोन्मनी।।

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने भी इस शब्द पर विचार किया है। उन्होंने लिखा है कि यह शब्द उस अवस्था की ओर निर्देश करता है जब मन और प्राण दोनों एक हो जाते हैं और इसके फलस्वरूप स्थिरता आ जाती है।

कबीर ने भी उन्मनी अवस्था पर विचार किया है। कबीर के अनुसार वही योगी है। जो उन्मनी दशा को प्राप्त कर लेता है - 'सो जोगी जो धरै उन्मनी ध्यान' इसी संदर्भ में कबीर ने उन्मनी अवस्था का हृदयहारी वर्णन किया है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं जिसमें कबीर ने बताया है कि परमात्मा की प्राप्ति उन्मनी स्थिति में ही हो सकती है -

बाहरि षोजत जनम गँवाया,

उनमनीं ध्यानँ घट भीतरि पाया।

एक उदाहरण और देखिए जिसमें उन्मन अर्थात् भागवती चेतना का सुन्दर निरूपण कबीर ने किया है।

अवधु मेरा मन मतिवारा।

उनमनि चढ़ा मगनरस पीवै, त्रिभुवन भया उजिआरा।

पूरा मिला तबै सुख उपज्यो, तन की तपनि बुझानी।

कहै कबीर भवबंधन छूटै, जोतिहि जोति समानी।।

एक साखी और द्रष्टव्य है जिसमें ईश्वरीय मिलन का संकेत है -

मन लागा उन्मन सो, उनमन मनहिं विलग।

लौन विलंगा पानियां, पानी लौन विलग।।

(4) निरंजन

निर्+अंजन से निरंजन शब्द बनता है, जिसका अर्थ हैं अंजन रहित। अब प्रश्न है कि अंजन क्या है? तो अंजन का अर्थ है-काजल, स्याही, रात, माया, विकार आदि। इस प्रकार, निरंजन का अर्थ हुआ मायारहित, विकाररहित। वास्तव में, यह नाम नामरूपगुणादि लौकिक साधनों के द्वारा अग्राह्य परमतत्त्व ब्रह्म का बोधक हैं। इस संदर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत भी अवलोकनीय है। वे कहते हैं कि मध्ययुग के योग, मंत्र और भक्ति के साहित्य में निरंजन शब्द का बारम्बार उल्लेख मिलता है। नाथ-पन्थ में भी निरंजन शब्द खूब परिचित है। साधारण रूप में निरंजन शब्द निगुर्ण ब्रह्म का और विशेष रूप में शिव का वाचक हैं।

निरंजन का साक्षात्कार बहुत बड़ी साधना का सुफल होता है। यह साक्षात्कार गुरुक पा के बिना सम्भव नहीं है। पद्मपुराणान्तर्गत कपिल गीता में कहा गया है कि -

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
 तस्मिन्मध्ये स्थितं तत्त्वं प्रदर्शयति सद्गुरुः॥
 तारकं च भवेद् ब्रह्मा दण्डकं विष्णुरुच्येत।
 निरंजनस्तदतीत उत्पत्तिस्थितिकारणम्।
 दुर्लभो विषयत्योगो दुर्लभतत्त्वदर्शनम्॥
 दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणा बिना॥

-गोरक्ष सिद्धान्त-संग्रह, प० ३३

'गोरख बानी' में श्री निरंजन को परिभाषित किया गया है। वहाँ उसे नाम-रूप-उपाधि से परे सर्वव्यापी तत्त्व बताया गया है -

उदै न अस्त राति न दिन, सरबे सचराचर भावन भिन।
 सोई निरंजन डाल न मूल, सब व्यापीक सूषम न स्थूल॥

कबीर दास ने निरंजन को सबसे न्यारा बताया है और कहा है कि कोई विशिष्ट साधक ही अंजन (माया) से मुक्त होकर निरंजन (परमात्मा) से लग पात है-

रौंम निरंजन न्यारा रें,
 अंजन सकल पसारा रे॥

कहै कबीर कोई बिरला जागै, अंजन छाड़ि निरंजन लागै।

निरंजन को कबीर ने सारतत्त्व माना है। कवि ने सर्वव्यापक भी माना है -

अंजन अलय निरंजन सार,
 यहै चीन्हि नर करहुँ विचार॥
 अंजन अत्तपत्ति बरतने लोई, बिमा निरंजन मुक्ति न होई॥
 अंजन आवैं अंजन जाइ, निरंजन सब घट रहयौ समाई॥
 जोग ध्यान तप सबै विकार, कहै कबीर मेरे राम अधार॥

(5) सुरति-निरति

डॉ० राजदेव सिंह ने 'सुरति' को स्वरूपित करते हुए लिखा है कि सुरति शब्द संत-साहित्य का अतिपरिचित और

पग-पग पर प्रयुक्त होने वाला शब्द है। परिस्थिति-भेद से यह कई अर्थ भी देता है - (१) स्मृति, याद (२) श्रवण-विषय, (३) स्मृति शास्त्र, (४) अपने सच्चे स्वरूप की स्मृति, (५) परमप्रिय से अपने सम्बन्ध की स्मृति अर्थात् 'सो हमस्मि' की वृत्ति का स्मरण या उदय, (६) सुरति, अर्थात् स्त्री पुरूष, शक्ति-शक्तिमान्, माया-ब्रह्म, प्रिय-प्रिया की केलि-क्रिडा (७) प्रेम, आसक्ति, अनुरक्ति (८) सुन्दर रति या परमात्माविषयक रति, चिन्मुख प्रेम, क्योंकि सामान्य स्त्री पुरूष की, जड़ोन्मुख अर्थात् स्थूल शारीरिक सुषमाओं एवं आकर्षणों से उत्थित प्रेम अनुभूति रति है और सत् चित् चित् आनन्द रूप परमप्रिय के प्रति उत्थित प्रेम उक्त लौकिक एवं जड़ोन्मुख रति से विशिष्ट होने के कारण सुरति है, (९) सूरत (अरबी), रूप, आकृति, शक्ल, (१०) ध्यान ।

डा० राजदेव सिंह के अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी सुरति-निरति पर विचार किया है। इन विद्वानों में डा० सम्पूर्ण निन्द डा० पीताम्बर दत्त बड़ावाता, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, परशुराम चतुर्वेदी, राहुल सांक त्यामन आदि का नाम लिया जाता है। डा० सम्पूर्णनिन्द सुरति को श्रोत का तद्भव रूप मानते हैं। वे इसका अर्थ चित्रवृत्तियों का प्रवाह कहते हैं। डा० बड़थवाल सुरति को स्मृति से जोड़ते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मानते हैं कि 'सुरति' मूल रूप में स्मरण या स्मृति ही है, पर यह स्मृति अन्तर में बैठे हुए किसी परम प्रियतम की है।

'सुरति' शब्द पर डा० रामचन्द्र तिवारी ने बिल्कुल ठीक विचार किया है। उनका विचार है कि 'सुरति' की व्युत्पत्ति को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है, किन्तु इसके तात्पर्य को लेकर विशेष मतभेद नहीं है। सभी विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि 'सुरति' अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति ही है। चित्तवृत्ति सांसारिक विषयों के प्रतिप्रभावित है वह जब ईश्वरोन्मुख हो जाती है। तो उसे 'सुरति' कहते हैं। 'श्रुतिया श्रवण वृत्ति का अन्तर्मुखी होना चित्तवृत्ति का अन्तर्मुखी होना ही है।

जहाँ तक सुरति के साथ निरति का सम्बन्ध है, उस बारे में ज्ञातव्य है कि 'निरति' शब्द निःकृति' से बना है जिसका अर्थ है शून्य या आनन्द पद। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मानते हैं कि सारे बाह्य भ्रमजाल से निरत होकर अन्तर्मुख होने की प्रवृत्ति का नाम ही 'निरति' है। परशुराम चतुर्वेदी मानते हैं कि शब्द एवं सुरति का मिलकर एक हो जाना ही निरति है। सुरति और निरति का एक प्रकार से और अर्थ किया जाता है। सुरति शब्द 'सु' उपसर्ग पूर्व रम् धातु से निर्मित है। 'रम्' शब्द के दो अर्थ -रमण करना, रूक जाना हैं। सुतराम् रति सुरति है और वृत्तियों की चंचलता जिसमें रूक जायं। नितराम् रति निरति है। नितराम् का अर्थ है। पूर्ण रति। इस प्रकार -सुरति' आनन्दायी रति और निरति पूर्ण रति का वाचक है। आनन्दायी रति ही पूर्ण रति की संज्ञा प्राप्त करती है। सुरति के बाद की दशा है निरति; यह साधना की चरम अवस्था है।

कबीर दास के साहित्य में 'सुरति-निरति' का प्रयोग हुआ है। दोनों एक साक्ष्य प्रयुक्त हैं। जहाँ-जहाँ ये प्रयोग में आये हैं, वहाँ-वहाँ ये साधना की चरम अवस्था की ही प्रतीति कराते हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

सुरति समांणी निरति मैं, निरति रही निरधार।

सुरति निरति परचाभया, तब घूले स्वयं दुवार।।

तथा -

सुरति समांणी निरति मैं, अजषा माँहे जाप।

लेख समांणी अलेख मैं, मूँ आषा माँहे आप।।

(6) सहज-शून्य

कबीर आदि सन्तों के यहाँ सहज-शून्य शब्द का प्रयोग मिलता है। शून्यवाद के प्रवर्तन का श्रेय बौद्ध नागार्जुन को जाता है जिनका समय ईसा की दूसरी शताब्दी माना जाता है। उन्होंने शून्य का प्रयोग परमतत्त्व के लिए किया था। शून्य को बाद में बौद्धों ने सहज कहना शुरू कर दिया। सिद्धों और नाथों के यहाँ इस शब्द का प्रयोग समान रूप से मिलता है। सिद्ध सरहपाद को सहज साधना का प्रवर्तक बताया गया है। दोनों शब्दों का अर्थ -प्रयोग इस प्रकार है -

'सह जायेत इति सहजः'

अर्थात् जो जीव के साथ उत्पन्न हो, वह सहज है। जीव की नैसर्गिक और मौलिक विशेषताएं सहज मानी गयी हैं। लेकिन संत साहित्य में यह शब्द इस रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है। वहाँ पर शब्द इस रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है। वहाँ पर यह पारिभाषिक शब्द के रूप में व्यवहृत हुआ है।

डा० धर्मवीर भारती ने डा० प्रबोधचन्द्र बागची के मत को उद्धृत करते हुए कहा है कि वे 'सहज' शब्द को 'ताओ' शब्द का अनुवाद मानते हैं। यह प्राचीन चीनी धर्म का मूल सिद्धान्त है। 'भोग' नाम के किसी चीनी आर्चाय ने दक्षिण भारत में आकर काया की अमरता का और गुह्य साधना करना शुरू किया था। उसी से 'सहज' शब्द ग्रहण किया गया। 'विष्णु पुराण' में 'सहजासिद्धि' का उल्लेख है, जो स्वभावतः प्राप्य सिद्धि के अर्थ में प्रयुक्त है और आगे चलकर बौद्धों ने कहा कि सहज प्रज्ञा के उपाय और आगे चलकर बौद्धों ने कहा कि सहज प्रज्ञा के उपाय और सहगमन से उत्पन्न तत्त्व सहज है। बौद्ध दर्शन में ही 'शून्य' और करुणा को परस्पर पूरक बताते हुए दोनों का ऐक्य धोतित करने के लिए भी सहज शब्द का प्रयोग किया था (शशिकला पाण्डेय, संत साहित्य की पारिभाषिक शब्दावली, प ३०४ से)

'सुनि' शून्य का तद्भव रूप है जिसका अर्थ है -खाली, रिक्त, निर्जन, आकाश, ब्रह्म आदि। संत-साहित्य में शून्य ब्रह्मा का वाचक है। संतो ने शून्य शब्द सिद्धों से ग्रहण किया है और सिद्धों ने बौद्ध दर्शन से। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन तो शून्यवाद के प्रवर्तक ही थे। उन्होंने वर्णनातीत पदार्थ को शून्य माना है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं कि नाथपंथी लोग अपने सब के ऊपरी सहस्रार चक्र को 'शून्य चक्र' कहते हैं। उनके मत से जब जीवात्मा नाना प्रकार की यौगिक क्रियाओं द्वारा इस चक्र में पहुँचता है तो वह समस्त द्वन्द्वों से ऊपर उठता है। और केवल रूप में विराजता है। यह शून्यावस्था है जिसमें आत्मा को और किसी प्रकार की अनुभूति नहीं होती। न सुख की, न दुःख की, न राग की, न द्वेष की, न हर्ष की, न अमर्ष की; इन समस्त द्वन्द्वों से रहित केवलावस्था को शून्यावस्था कहना अनुचित नहीं है।

कबीर ने सहज और शून्य को परमतत्त्व के पर्याय के रूप में प्रयोग किया है। द्रष्टव्य हैं -

हिंडोलनाँ तहाँ झूले आतम रँम।

सहज सुनि कौ नेहरौ, गगन मंडल सिरमौर।

दोऊ कुल हम आगरी, जो हम फूलें हिंडोल।।

अन्यत्र भी पद में कबीर ने सहज-शून्य की अवस्था का विस्तार से वर्णन किया है। वे कहते हैं :-

कदली पुहुप दीप परकास। दिया पंकज महि लिया निवास।।

द्वादस दल अभिअंतर मंत। जहाँ पउठें श्री कवलाकंत।।

अरध उरधबिच लाइलै अकास। सुनि मंडल महि कदि परमासु।।

जहाँ सूरज नाही चंद। आदि निरंजन करै आनंद।।

जो ब्रहमांडि पिंडि सो जानु। मानसरोवर करि असनानु।।

सोहं हंसा ताकौ जाप। ताहि न लिय पुनि अस पाप।।

अमिलन मिलन घाम नहि छाँहा। दिवस नराति कछू है ताहाँ।।

हरियाँ टरे न आवै जाइ। सहज सुन्ति महि रहयो समाइ।।

कबीर ने सहज को लक्षित करके कई साखियाँ लिखी हैं। इनसे सहज के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। कुछ साखियाँ द्रष्टव्य हैं :-

सहज सहज सबकौ कहैं, सहजन चीन्हें कोइ।

जिन सहजै विषियतजी, सहज कही जै सोई॥

सहज सहज सबकै रहे, सहज न चीन्हे कोइ।

पांचू राखै परसती, सहज कही जै सांइ।

इतना ही नहीं, कबीर ने सहज समाधि (सन्तो, सहज समाधि भली) को भली माना है और उसी को जोगी बताया है जिके चिन्त में सहज भाव हैं :

सो जोगी जाकै सहज भाइ,

अमल प्रीति की भीख खाइ॥

रैयान मेथली सहज भाइ, बंक मालि कौ रस खाइ॥

(7) नाद-बिन्दु

‘नाद-बिन्दु’ तन्त्रशास्त्र के शब्द हैं। कबीर आदि सन्तों ने इनका ग्रहण तन्त्र शास्त्र से ही किया है। तन्त्रशास्त्र में बताया गया है कि शिव परमतत्त्व है। शिव से शक्ति का, शक्ति से नाद का और नाद से बिन्दु का उदय हुआ है -

निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः।

निर्गुणः प्रक तोन्यः सगुणः सकलः स्म तः॥

सच्चिदानन्द विभवात्सकलारत्परमेश्वरात्।

आसीत् शक्तिस्ततो नादो नादात् बिन्दु समुद्भवः॥

शिव शक्ति, शक्ति और नाद और नादत या बिन्दु के उक्त सम्बन्धों को ध्यान में रखकर आर्चाय हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा था कि सीधी भाषा में यों समझाया गया है कि निर्गुण शिव विशुद्ध चैतन्य है और सगुण वि उपाधियुक्त। उपाधि युक्त चैतन्य से उपाधि युक्त शक्ति उत्पन्न होती है। इन दोनों के संयोग से विश्व में जो एक विक्षोभ होता है, वहीं नाद है और उस विक्षोभ का क्रियाशील का क्रियाशील होना ही बिन्दु है। डा० राम चन्द्र तिवारी इस विषय में लिखते हैं कि नाद और बिन्दु शिव और शक्ति से ही उत्पन्न होने वाले तत्व हैं। शिव और शक्ति से ही सम्पूर्ण विश्व का अविभाव हुआ है अतः यह समय ब्रह्माण्ड नाद बिन्दू रूप ही हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि कबीर आदि सारे सन्त नाम बिन्दू के स्वरूप और रहस्य से सम्पूर्ण परिचित थे। वे यह थी जानते थे कि नाद बिन्दू रूप इसी शरीर से गोविन्द को जाना जा सकता है -

नादाहि ब्यंद कि ब्यंदहि नाद,

नादहिं ब्यंद मिलै गोब्यंद॥

तथा -

नाद ब्यंद की नाव री, रौमनाम कनिहारप।

कहै कबीर गुँण गाइ ले, गुर गँभि उतरौ पार॥

(8) औंधा कुआँ

सन्त साहित्य में दसवें द्वार या ब्रह्म रुद्र का व्यापक प्रयोग मिलता है। कबीर के यहाँ भी यह शब्द अधिकता से प्रयुक्त है। इसी के लिए औंधा कुआँ, उरध कूप, अधो कूप, उलटा कुआँ आदि शब्दों का व्यवहार मिलता है।

औंधा कुआँ की स्थिति के बारे में हठयोग साधना में कहा गया है कि शरीर के ऊपरी भाग, जिसे ब्रह्माण्ड कहा जाता

है, एक छेद हैं जिसे ब्रह्माण्ड रून्ध या कूप कहते हैं, उसका मुख नीचे की ओर रहता है। यही औंधा कुआँ है। इसी में अम त का वास है। साधक सुषुम्ना मार्ग से कुण्डलिनी के द्वारा इस औंधे कुएँ में झरने वाले अम त का पान करता है।

कबीर ने भी इस औंधे कुएँ की चर्चा एक साखी में की है। वे कहते हैं :-

आकासे मुखि औंधा कुवाँ, पातासे पनिहारि।

ताका पाँणी को हंसा पीवै, बिरला आदि बिचारि।।

अर्थात् आकाश में ब्रह्मरून्ध औंधे कुएँ की तरह है और पाताल (मूलाधार) में पनिहारिन (कुण्डलिनी) हैं। ऐसे कुएँ का पानी (अम त रस) कोई बिरला साधक ही पान कर सकता है।

खण्ड (ख)

व्याख्या खण्ड

1. साखी

गुरुदेव कौ अंग

‘गुरुदेव कौ अंग’ में गुरु से संबंधित साखियाँ समाहित हैं। स्पष्ट है कि भारत में गुरु को अभूतपूर्व महिमा प्राप्त है। ऋषियों-मुनियों, कवियों-कलाकारों ने भाँति-भाँति से गुरु की महत्ता का निरूपण किया है। महिमा-वर्णन की यह परम्परा कबीर से पहले भी मिलती है और कबीर के बाद भी विद्यमान है, लेकिन सन्त कबीर ने गुरु की महिमा की जो प्रतिष्ठा की है वह अन्यत्र दुर्लभ है। कबीर जैसा सन्त ही ऐसा लिख सकता था, वह कहता था-

सतगुरु की महिमा अनैत, अनैत किया उपगार।

लोचन अनैत उघाड़िया, अनैत दिखावणहार।

भावार्थ : वास्तव में, गुरु शिष्य को ज्ञान में अनन्त आलोक का दर्शन करता है।

सतगुरु सवाँन को सगा, सोधी सई न दाति।

हरिजी सवाँन को हितू, हरिजन सई न जाति।।१।।

शब्दार्थ: सवाँन = समान। सगा = अपना। सोधी = शुद्धि। दाति = दान, देने वाला। सई = समान। हरिजन = भक्त।

भावार्थ : सद्गुरु के समान कोई सगा (अपना) नहीं है। शुद्धि-जैसा कोई दान नहीं है। हृदय को, मन को जो निर्भल कर दे वैसे दान दूसरा नहीं है। गुरु अपने उपदेशों से शिष्यों को नाना विकारों से मुक्त कर देता है।

हरि के समान कोई हितैषी नहीं है और भक्त के समान न ही कोई जाति है। कहने का आशय यह है कि जन्म के आधार पर कोई श्रेष्ठ नहीं बनता है। वह श्रेष्ठ तभी बनता है जब वह ईश्वर की भक्ति में लीन होकर अपनपा को तज देता है।

बलिहारी गुरु आपणें द्यौं हाड़ी कै बार।

जिनि मानुष तैं देवता, करत न लागी बार।।२।।

शब्दार्थ: बलिहारी = न्योँछावर, बलिदान, उत्सर्ग। द्यौंहाड़ी = देवालय।

भावार्थ : मैं अपने गुरु पर अपने को उत्सर्ग करता हूँ, क्योंकि वे देवग ह के द्वार हैं। (अर्थात् उन्हीं की ज्ञान कृपा से स्वर्ग में प्रवेश किया जा सकता है)। जिन्होंने मुझे मनुष्य से देवता बना दिया और देवता बनाने में किसी प्रकार का विलम्ब भी नहीं किया।

विशेष : इस साखी में ‘द्यौंहाड़ी’ एक जटिल प्रयोग है। इसकी जटिलता दूसरी पंक्ति के आलोक में विचार करने पर खुल जाती है। दूसरी पंक्ति में ‘देवता’ बनने का उल्लेख है। यह भी ज्ञातव्य है कि देवता का निवास स्वर्ग है। अतः स्वर्ग के ही अर्थ में ‘द्यौंहाड़ी’ शब्द प्रयुक्त है। इस साखी पर डॉ० युगेश्वर ने ठीक ही टिप्पणी की है कि यहाँ स्वर्ग और देवता का संयोग द्रष्टव्य

है। देवता बनने पर ही मनुष्य स्वर्ग का अधिकारी होगा। क्योंकि स्वर्ग देवों का विकास लोक है। दिव का अर्थ आकाश की है। योग मार्ग में गुरु शिष्ट को आकाश जिसे शून्य या सह चक्र कहते हैं, का दर्शन कराता है।

सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।

लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार।।३।।

शब्दार्थ: अनंत = अनन्त, अपार। उपगार = अपकार। लोचन = दृष्टि, नेत्र। दिखावणहार = दर्शन कराने वाला।

भावार्थ : सतगुरु की महिमा अनन्त है, उसका किया गया उपकार भी अनन्त है। उसने अनन्त दृष्टि को खोलकर उस अनन्त का, जिसका कोई आदि-अन्त और ओर-छोर नहीं है, दर्शन कराने की अनुकम्पा की है। कहने का आशय यह है कि ईश्वर का दर्शन सामान्य दृष्टि से नहीं हो सकता है। उसके लिए ज्ञान नेत्र-अनन्त नेत्र की आवश्यकता होती है।

राम नाम के परंतरे, देबे कौं कुछ नॉहि।

क्यालेगुर संतोषिए, हौंस रही मन मॉहि।।४।।

शब्दार्थ: परंतरे = बराबरी। हौंस = हौसला, उत्साह।

भावार्थ : सद्गुरु ने राम नाम का मंत्र किया। उस मंत्र के बदले में उसके बराबर देने के लिए कुछ नहीं है। ऐसी स्थिति में गुरु को क्या अर्पित करके सन्तुष्ट होऊँ। गुरु को कुछ देने का उत्साह मन के भीतर ही रह जाता है।

विशेष : गुरु की महानता, राम नाम की अद्वितीय महत्ता और शिष्य की विन लता एक साथ संलक्ष्य है।

सतगुरु के सदकै करूँ, दिल अपनी का साछ।

कलियुग हम स्यूँलड़ि पड़्या महकम मेरा बाछ।।५।।

शब्दार्थ: सदकै = अरबी शब्द, न्यौछावर। साछ = साक्ष्य, गवाही। महकम = अरबी शब्द, मजबूत। बाछ = वांछा।

भावार्थ : अपनी आत्मा की गवाही करके अपने गुरु पर अपने को न्यौछावर करता हूँ। कलियुग मुझसे लड़ पड़ा, लेकिन मेरी वांछा (ईश्वर प्राप्ति की कामना) बड़ी मजबूत थी, इसलिए वह किसी प्रकार का व्यवधान नहीं डाल पाया।

सतगुरु लई कमाँण करि, बाँहण लागा तीर।

एक जु बाह्या प्रीति सँ, भीतरि रह्या सरीर।।६।।

शब्दार्थ: कमाँण = धनुष। बाँहण = फेंकना। बाह्या = बेधा।

भावार्थ : सद्गुरु ने शब्द रूपी धनुष से ज्ञान रूपी बाण फेंका। एक तीर जो बड़े स्नहे से चलाया, वह मेरे शरीर के भीतर बिंध गया। अर्थात् सद्गुरु के ज्ञान से भीतर का अन्धकार और भीतर की मलिनता मिट गयी।

विशेष :

1. रूप अतिशयोक्ति अलंकार।

सतगुरु साँचा सूरिवाँ, सबद जु बाह्या एक।

लागत ही में मिलि गया, पढ़्या कलेजे छेक।।७।।

शब्दार्थ: सूरिवाँ = शूरमा = यौद्धा। छेक = छेद।

भावार्थ : सद्गुरु सच्चा शूर (वरी) है। उसने शब्द-बाण फेंका। शब्द-बाण लगते ही सारा अहंकार मिट गया और कलेजे में छेद हो गया।

कहने का आशय है कि सद्गुरु का निशाना अचूक होता है और वह शब्द-बाणों से शिष्य के सारे विकारों को नष्ट करता है।

विशेष :

1. रूप अतिशयोक्ति अलंकार।

सतगुरु मार्या बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि।

अंगि उघारै लागिया, गइ दवा सूँ फूँटि।।८।।

शब्दार्थ: सूधी मूठि = सीध मूठ, सीधा लक्ष्य। उघारै = उघाड़े, नंगा। दवा = दावा।

भावार्थ : सद्गुरु ने सीधे लक्ष्य पर पूरी शक्ति से शब्द-बाण मारा। वह नंगे अंग पर लगा और दावाग्नि-सी फूट पड़ी।

कहने का तात्पर्य यह है कि नंगे शरीर पर लक्ष्य बाण बिल्कुल ठीक लगता है और वह शरीर में आर-पार समा जाता है गुरु ने जो शब्द-बाण मारा वह भी शिष्य के शरीर में बिल्कुल ठीक जगह लगा और उसके शरीर में प्रभु-दर्शन प्राप्ति की विरहाग्नि रूपी दावाग्नि जल पड़ी।

विशेष :

1. रूप अतिशयोक्ति अलंकार।

हँसै न बोलै उनमनी, चंचल मेल्हया मादि।

कहै कबीर भीतरि भिद्या, सतगुर कै हथियर ।।६।।

शब्दार्थ: उनमनी = उन्मनी, जहाँ मन की चंचलता समाप्त हो जाती है तथा मन और प्राण एकाकार हो जाते हैं। मेल्हया = बेचैन करना। भिद्या = बिंध गया

भावार्थ : कबीरदार कहते हैं कि सद्गुरु का शब्द-बाण रूपी हथियार मन में बिंध गया जिसने बेचैन मन को भार दिया। जिससे मन की सारी चंचलता (मन की संकल्पात्मक और विकल्पात्मक दशा) मिट गयी और जीवात्मा उन्मनी अवस्था में पहुँच गयी।

विशेष :

1. 'हठयोग प्रदीपिका' में 'उन्मनी' के बारे में लिखा है कि

मारुते मध्यसंचारे मनः स्येर्य प्रजायते।

यो मनः सुस्थिरी भावः सैवावस्था मनोभवी।।

हठयोग प्रदीपिका 2/42

अर्थात् जब सुषुम्ना नाड़ी में प्राणवायु का संचार होने लगता है, मन स्थिर हो जाता है, वह अवस्था उन्मनी अवस्था है।

2. अलंकार-रूपकातिशयोक्ति।

गूँगा हूवा बावला, बहरा हुआ कान।

पाऊँ थैं पंगुल भया सतगुर माद्या बाण ।।१०।।

शब्दार्थ: पाऊँ = पाँव, पैर। पंगुल = लँगड़ा।

भावार्थ : सद्गुरु के शब्द-बाण मारने से शिष्य गूँगा और बावला हो जाता है, कान से बहरा हो जाता है और पाँव से लँगड़ा हो जाता है।

यहाँ पर कबीर ने यह संकेत दिया है कि सद्गुरु के ज्ञान से ज्ञानोन्द्रियों की बाह्य वृत्ति रुक जाती है और वह अन्तर्मुखी हो जाती है। इसी अन्तर्मुखता से साधक-शिष्य अपने भीतर ईश्वर का साक्षात्कार करता है।

पीछेँ लागा जाइ था, लोक वेद के साथि।

आगेँ थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि ॥११॥

भावार्थ : लोक-वेद के साथ लगकर मैं उनके पीछे-पीछे जा रहा था, लेकिन आगे मुझे सद्गुरु मिल गये जिन्होंने मुझे ज्ञान का दीपक मेरे हाथ में दे दिया।

कहने का आशय यह है कि मैं लोक और वेद की मान्यताओं के चक्कर में पड़ा हुआ था और सच्चे मार्ग को भूल गया था और संसार में भटक रहा था, लेकिन गुरु ने ज्ञान प्रदान करके उस भटकन को समाप्त कर दिया।

विशेष :

1. रूपकतिशयोक्ति अलंकार

दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।

पूरा किया बिसाहूणां, बहुरि न आँवौ हट्ट ॥१२॥

शब्दार्थ: अघट्ट = न घअने वाली। बिसाहना = क्रय-विक्रय। हट्ट = हाट, बाजार।

भावार्थ : सद्गुरु ने प्रेम रूपी तेल से भरकर ज्ञान रूपी दीपक प्रदान किया और उस ज्ञान दीपक में कभी न घटने वाली सुरति रूपी बत्ती डाल दी जिसके द्वारा शिष्य संसार रूपी हाट में (बाजार में) जन्म-म त्यु का क्रय-विक्रय समाप्त कर लिया अतः उसे पुनः इस संसार रूपी बाजार में नहीं आना पड़ेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान प्राप्ति से मनुष्य जन्म-म त्यु के चक्कर से पार हो जाता है।

विशेष :

1. रूपकतिशयोक्ति अलंकार

2. इस साखी में साधक की जीव-भुक्ति अवस्था की ओर संकेत किया गया है।

ग्यान प्रकास्या गुरु मिल्या, सो जिनि बीसरि जाइ।

जब गोविंद कृपा करी, तब गुरु मिलिया आइ ॥१३॥

शब्दार्थ: बीसरि = बिस्मरण, भूलना। जिनि = नहीं।

भावार्थ : गुरु के मिलने से ज्ञान प्रकाशित हो गया अथवा ज्ञान का अभ्युदय हो गया। गुरु प्रदत्त उस ज्ञान को भूलना नहीं चाहिए; क्योंकि जब गोविंद (ईश्वर) ने कृपा किया तभी गुरु मिला और गुरु ने ज्ञान दिया।

कहने का आशय यह है कि शिष्य-साधक का यह कर्तव्य होता है कि वह गुरु-ज्ञान को अपनी साधना से नित्य बनाये रखे।

कबीर गुरु गरवा मिल्या, रलि गया आटैं लूण।

जाति पाँत कुल सब मिटै, नाँव धरौगे कौण ॥१४॥

शब्दार्थ: भरवा = भारी, महिमा सम्पन्न। दलि गया = मिल गया, घुल-मिल गया। लूँण = लोन, नमक।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि मुझे महिमा से सम्पन्न गुरु मिल गया। गुरु की कृपा से, गुरु के उपदेश में ईश्वर के साथ वैसे ही घुल-मिल गया जैसे आटे में नमक मिलकर एकनेक हो जाता है। प्रभु के मिलन से परिणाम यह हुआ कि मेरी जाति, पाँति कुल आदि सब कुछ मिट गया। ऐसी स्थिति में अब मेरा क्या नाम रखा जायेगा।

विशेष :

1. भक्ति के परिमत भक्त भी भगवान् रूप हो जाता है। इस साखी में इस भाव की व्यंजना की गयी है।

2. प्रतिवस्तूपामा अलंकार।

जाका गुर भी अंधला, चेला खरा निरधं।

अंधा अंधा ठे लिया, दून्यँ कूप पडंत ॥१५॥

शब्दार्थ: अंधला = अंधा। खरा = बिल्कुल। निरन्ध = घनघोर अंधा।

भावार्थ : जिसका गुरु अन्धा (अज्ञानी है और शिष्य बिल्कुल घनघोर अन्धा (बड़ा मूर्ख) है। जब अंधा अंधे को ठेलेगा अर्थात् अज्ञानी गुरु महामूर्ख शिष्य को उपदेश देगा तब वह उपदेश कारगर साबित नहीं होगा। दोनों ही संसार रूपी कुएँ में पड़कर नष्ट हो जायेंगे।

विशेष :

1. इस साखी में मूर्ख गुरु की अस्वीकृति के साथ सद्गुरु प्राप्ति का सन्देश दिया गया है।
2. समूह पाद से यह दोहा मिलाकर भी पढ़ा जा सकता है-
जावण अप्पा जाणिज्जइ, तावण सिस्स करेई।
अंधे अंध कढ़ावइ, मित वेष्ण वि कूव पड़ेइ॥

-दोहा कोष

नाँ गुरु मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव।

दून्यँ बूड़े धार में, चढ़ि पाथर की नाव ॥१६॥

शब्दार्थ: सिष = शिष्य। डाव = दाँव। दून्यँ = दोनों।

भावार्थ : न योग्य गुरु मिला न उचित शिष्य मिला। दोनों लालच के वशीभूत होकर अपना-अपना दाँव खेलते रहे। लेकिन दोनों वैसे ही भवसागर की धार में डूब गये जैसे कोई पत्थर की नाव में चढ़कर अपने को नष्ट कर देता है।

विशेष :

1. 'पत्थर की नाव' बहुत अर्थ अर्थित प्रयोग है। पत्थर की नाव से कोई जलाशय (सागर, सरिता आदि) पार नहीं कर सकता है। कारण है कि वह तैर नहीं सकती है। अर्थात् अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक विकारों से युक्त होकर कोई संसार-सागर से पार नहीं जा सकता है।

चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा माँहि।

तिहिं घटि किस कौ चानिजाँ, जिहि घटि गोबिंद नाँहि॥१७॥

शब्दार्थ: चौसठि दीवा = चौसठ दीपक, चौसठ कलाएँ। चौदह चंदा 14 विधाएँ। चानिजाँ = चाँदना प्रकाश।

भावार्थ : चाहे चौसठ कलाओं और चौदह विद्याओं के का प्रकाश हो जाये, लेकिन जिसके शरीर रूपी ग ह में गोबिंद का निवास नहीं है, उस घर में किसा प्रकाश होगा। अर्थात् जो हृदय प्रभु की भक्ति में रहित है, उससे अनेक कलाएँ और विद्याएँ भी प्रकार नहीं भर सकती है।

विशेष :

1. 14 चंदा चौदह विधाओं की प्रतीक हैं। वे हैं-
ब्रह्मज्ञान, रस ज्ञान, संगीत, व्याकरण, ज्योतिष, धनुर्विद्या, जलतरन, कोक, अश्वारोह्य, नाट्य, कृषि, वैधक।
2. चौसठि दीवा = चौसठ कलाएँ। डॉ० जयदेव सिंह और वासुदेव सिंह ने इसकी गणना इस प्रकार की है-
1. गीत, 2. वाद्य, 3. नृत्य, 4. चित्रकारी, 5. भोजनपत्र के पत्तों को तिल की आकृति में काटना, 6. पूजन के लिए चावल और कमरों को फूलों से सजाना, 8. शरीर, कपड़ों और दाँतों पर रंग चढ़ाना, 9. फर्श पर मणियों को बिछाना, 10.

शय्या की रचना, 11. उदकवाद्य, 12. जलधात, 13. मन्त्र-तन्त्रों के प्रयोग, 14. माला गूँथना, 15. शिर के आभूषणों को उचित स्थान पर धारण करना, 16. अपने को या दूसरों को वस्त्रालंकार से सजाना, 17. हाथीदाँत, शंख से अलंकारों को बनाना, 18. सुगन्धित द्रव्य तैयार करना, 19. आभूषणों से मणियाँ सजाना, 20. इन्द्रजाल की क्रीड़ाएँ करना, 21. बाजीकरण प्रयोग, 22. हाथी की सफाई, 23. भोजन बनाने का कौशल, 24. पेय पदार्थों को बनाने का कौशल, 25. सिलाई, 26. सूत से चित्र बनाना, 27. वाद्य-वादन, 28. पहेलियों को बुझाना, 29. अन्त्याक्षरी, 30. बढईगरी, 31. ग ह-निर्माण कला, 32. मणियों और रत्नों की परीक्षा, 33. धातु शोधन, 34. मणियों को रंगना, 35. व क्षायुर्वेद, 36. भेड़ा-मुर्गा आदि लड़ाना, 37. तोता-मैना पढ़ाना, 38. शरीर की मालिश की कला, 39. सांकेतिक अक्षरों का अर्थ-ज्ञान, 40. गुप्त भाषा विज्ञान, 41. विभिन्न देशों की भाषाओं का ज्ञान, 42. फूलों से रथ-गाड़ी आदि बनाना, 43. शकुन-विचार, 44-45. सस्वचालित यन्त्रों को बनाना, 46. स्मरण-शक्ति बढ़ाने की कला, 47. याद किये श्लोकों को दुहराना, 48. विक्षिप्त अक्षरों से श्लोक बनाना, 49. शब्दकोशों और छन्दों का ज्ञान, 50. काव्यालंकार का ज्ञान, 51. बहुरूपियापन, 52. वस्त्र-धारण की कला, 53. द्यूत-क्रीड़ा की कला, 54. पासा खेलना, 55. बच्चों के खेलों का ज्ञान, 56. आचार शास्त्र, 57. विजय दिलाने वाली विद्याएँ, 58. व्यायाम विद्या।

14 विधाएँ निम्नलिखित हैं:-

ब्रह्मज्ञान, रसज्ञान, कर्मकाण्ड, संगीत, व्याकरण ज्योतिष, धनुर्विद्या, जलतरन, न्याय, कोक, अश्वारोहण, नाट्य, कृषि, वैद्यक।

अथवा

6 वेदांग = शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्ति, छन्द, ज्योतिषि।

4 वेद = ऋक्, यजु, साम, अथर्वण तथा मीमसा; न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण।

निस अँधियारो कारणे, चौरासी लख चंद।

अति आतुर ऊदे किया, तरु दिष्टि नहिं मंद॥१८॥

शब्दार्थ: निस = निशि, रात। आतुर = वेग से, जल्दी-जल्दी।। ऊदे किया = दति किया। दिष्टि = दिष्टि। मंद = मुख।

भावार्थ : अँधियारी रात को प्रकाशित करने के लिए चाहें बड़े उत्साह के साथ चौरासी लाख चन्द्रमा उदित किये जायें लेकिन जिनकी बुद्धि मंद है उन्हें कुछ भी दिखायी-झुकायी नहीं पड़ सकता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि गुरु ज्ञान के बिना अन्दर की आँखे नहीं खुलती हैं। बाहर-बाहर चाहे कितना ही प्रकाश क्यों न किया जाये?

विशेष :

1. विशेषोक्ति अलंकार।

2. 'चौरासी लख चंद' पर टिप्पणी करते हुए प्रो० युगेश्वर ने लिखा है-

यहाँ 84 लाख चंद्रमा संकेत संभवतः 84 लाख योनियों से है। जीव 84 लाख योनियों में भटकता रहा, किन्तु उसे ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ। ज्ञान जब सद्गुरु की प्राप्ति हो।

भली गई जु गुर मिल्या, नहीं तर होती हॉणि।

दीपक दिष्टि पतंक ज्यँ, पड़ता पूरी जाँणि॥१९॥

शब्दार्थ: हॉणि = हानि।

भावार्थ : बहुत अच्छा हुआ जो गुरु मिल गया, अन्यथा मेरी बहुत बड़ी हानि होती। जैसे पतंग दीपक की चका चौंध में उससे

मोहित होकर उस पर बार-बार पड़ता है, वैसे मैं भी माया रूपी रूपक को ही सत्स्वरूप मान कर उस पर बार-बार पड़ता और अपने को नष्ट कर लेता।

विशेष :

1. माया को पूर्ण संमझना मिथ्या है। वास्तव में पूर्ण ही ब्रह्म है। कहा गया है-
ऊँ पूर्णभदः पूर्णभिदं पूर्णात्पूर्णभुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णभादाय पूर्णभवशिष्यते।।
2. उपमा अलंकार।

माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रमि इवै पडंत।

कहै कबीर गुर ग्यान थैं, एक आध उबरंत ॥२०॥

शब्दार्थ: भ्रमि भ्रमि = घूम-घूम कर। इवै = इसमें। उबरंत = उबरता है।

भावार्थ : माया दीपक के समान और मनुष्य पतंग के समान है। पतंग की भौंति मनुष्य माया रूपी दीपक पर घूम-घूम कर बार-बार पड़ता है।

कबीर दास कहते हैं कि गुरु दान से एक-व्यक्ति ही माया के आकर्षक से बच पाते हैं।

विशेष :

1. भावसामय-
दीपसिखा सम जुवति तन, मन जनि होसि पतंग।
भजसि राम तजि काम मद, करहि सया सतसंग।।

-रामचरितमानस

सतगुर बपुरा क्या करै, जे सिषही माँहै चूक।

भावे त्यों प्रबोधि तो, ज्युं वंसि बजाई फूक ॥२१॥

शब्दार्थ: बपुरा = बेचारा। सिषही = शिष्य में ही। चूक = दोष। वंसि = वंशी, बाँसुरी।

भावार्थ : सद्गुरु बेचारा क्या कर सकता है, यदि शिष्य में ही कोई खोट-दोष हो। जिस प्रकार कोई व्यक्ति वंशी को बजाकर बेसुरा और अप्रिय स्वर निकाल ले तो उसमें वंशी का कोई दोष नहीं होता है, उसी प्रकार अयोग्य और मूर्ख शिष्य भी गुरु के उपदेश में निहित अर्थ का अनर्थ कर डालते हैं।

विशेष :

1. गुरु के साथ शिष्य को भी सक्षम और योग्य होना चाहिए-इस साखी के माध्यम से कबीर यह संदेश दिया है।
2. उदाहरण अलंकार।

सँसै खाया सकल जग, संसा किनहुँ न बद्ध।

जे बेधे गुर अषिरां, तिनि संसा चुणि चुणि खद्ध ॥२२॥

शब्दार्थ: सँसै = संशय। खद्ध = खाया। चुणि चुणि = चुन-चुन कर।

भावार्थ : संशय ने सारे संसार को खा लिया, लेकिन संशय को किसी ने नहीं खाया। जो गुरु के अक्षरों अर्थात् ज्ञान के (उपदेश से) विद्ध (सम्पत्त) है उन्होंने ही संशय को चुन-चुन कर खाया।

स्पष्ट है कि सांसारिक युक्ति के लिए संशय से मुक्ति आवश्यक है। गीता में भी निदिष्ट है-
संशयात्मा विनश्यति।

चेतनि चौकी बैसि करि, सतगुर दीन्हौं धीर।

निरभै होइ निसंक भजि, केवल कहै कबीर।।२३।।

शब्दार्थ: चेतनि = चेतना, ज्ञान। बैसि = बैठ। निरभै = भयहीन, निर्भय।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि चेतना (ज्ञान) की चौकी पर बैइकर सद्गुरु को धैर्य प्रदान किया और उपदेश दिया कि निर्भय और निःशंक होकर प्रभु को भजो।

विशेष :

1. 'धैर्य' धर्म का, भक्ति का पहला सोपान है। बिना इसकी सिद्धि अध्यात्म की, धर्म की, परमात्मा की साधना नहीं की जा सकती है। यही इस साखी का सत्य है।

सतगुर मिल्या त का भया, जे मनि पाड़ी भोल।

पासि बिनंठा कप्पड़ा, क्या करै बिचारी चोल।।२४।।

शब्दार्थ: भोल = भूल, भ्रम। पासि = पांशु, धूल। बिनंठा = विनष्ट। चोल = मत्रीटा।

भावार्थ : सद्गुरु मिला तो क्या हुआ यदि मन में धेल विद्यमान है, धूल पड़ी हुई है। यदि धूल धूसरित कपड़ा विभष्ट हो गया है तो उसमें बेचारी मजीठ क्या कर सकती है।

कहने का आशय यह है कि जैसे धूल धूसरित कपड़े पर रंग ठीक से नहीं चढ़ाया जा सकता है वैसे ही मलिकचित्र वाले साधन पर अध्यात्म का रंग ठीक से नहीं चढ़ सकता है।

विशेष :

1. द ष्ठातं अलंकार।

बूडे थे परि ऊबरे, गुर की लहरि चमंकि।

भेरा देख्या जर जरा (तब) ऊतरि पड़े फरंकि।।२५।।

शब्दार्थ: ऊबरे = उबर गये। लहरि = ज्ञान-तरंग। भेरा = नाव। जर जरा = जीर्ण, पुराना। फरंकि = अलग मुछलकर अलग।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मैं सांसारिक पाखण्डों और मिथ्याचारों में डूबा हुआ था, लेकिन गुरु ज्ञान-तरंग के प्रकाश से मैं उन बाह्याचारों से ऊपर उठ गया। जब मैंने देखा कि बाह्याचारों की यह नाव बड़ी जीर्ण है तब उस नाव से अलग हो गया।

अर्थात् सद्गुरु के उपदेश से ही जीवन की और संसार की सत्यता प्राप्त होती है।

विशेष :

1. रूपक अलंकार।

गुरु गोविंद तो एक है, दूजा यहू आकार।

आपा मेट जीवत अरै, तो पखै करतार ।।२६।।

शब्दार्थ: आकार = शरीर, उपाधि। आपा अहंता, अस्मिता। करतार = परमात्मा।

भावार्थ : सद्गुरु और गोविंद (परमात्मा) वास्तव में एक हैं और यदि अन्तर है तो आकार का (शरीर, नाम, रूप, उपाधि आदि का) यदि कोई अपनी अस्मिता (अस्तित्व) को नष्ट कर जीते ही मर जाये (जीवन्मुक्त हो जाये) तो उसे परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है।

विशेष :

1. 'में' और 'मोर' की समाप्ति ही 'जीवत भरै' की (जीवन्मुक्त की अवस्था)
2. विरोधाभास अलंकार।

कबीर सतगुर नाँ मिल्या, रही अधूरी सीष।

स्वाँ जती का पहदि करि, घटि घटि माँगै भीष ॥२७॥

शब्दार्थ: सीष = शिक्षा, उपदेश। जती = यती, साधन। स्वाँग = वेश, कृत्रिम-बनावटी वेश।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि यदि सद्गुरु की प्राप्ति नहीं हुई और शिक्षा (उपदेश) भी अधूरी रह गयी तो शिष्य-साधक साधु का बनावटी वेश पहन कर घर-घर भिक्षा माँगने का कार्य करता है।

कबीर की दृष्टि में यह बनावटी आचरण मिथ्या और निंदनीय है, क्योंकि इस आचरण में प्रभ का साक्षात्कार नहीं प्राप्त हो सकता है।

सतगुर साँचा सूरिवाँ, तातै लोहि लुहार।

कसणी दे कंचन किया, ताई लिया ततसार ॥२८॥

शब्दार्थ: साँचा = सचमुचं सूरिवाँ = शूरवीर। तातै = तप्त, गरम। कसनी = कसौटी। ताह लिया = मूँदकर रखना, सुरक्षित।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि सद्गुरु सच्चा शूरवीर है जो शिष्य रूपी लोहे को साधना रूपी आग में तपाकर जैसा चाहता है वैसा बना देता है।

कबीरदास कहते हैं कि सोनार जिस प्रकार कसौटी पर कसकर सोने की शुद्धता का मूल्यांकन करता है वैसे ही सद्गुरु साधना की कसौटी पर साधक-शिष्य को कसकर उसके भीतर विहित तत्त्वसार को सुरक्षित करता है।

विशेष :

1. प्रस्तुत साखी में गुरु के लिए दो उपमानों-शूरवीर और सोनार-का प्रयोग किया गया है। दोनों ही उपमान अपने में बड़े अर्थवान हैं।
2. दृष्टान्त अलंकार।

थापणि पाई थिति भई, सतगुर दीन्हीं धीर।

कबीर हीरा बणजिया, मानसरोवर तीर ॥२९॥

शब्दार्थ: थापणि = स्थापना। थिति = स्थिति, स्थिरता। बणजिया = व्यापारी।

भावार्थ : सद्गुरु ने धैर्य दिया जिससे प्रभु में प्रेम स्थिर हो गया। अब कबीर मानसरोवर रूपी चेतना के तीर-ज्ञान रूपी हीरे का व्यापारी बन गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि उसकी सारी वस्तियाँ अन्तर्मुखी बन गयी हैं।

विशेष :

1. इस साखी में हीरा से तात्पर्य ज्ञान से है। मानसरोवर चिन्तवृत्ति (चेतना) का बोधक है।
2. रूप श्योक्ति अलंकार।

निहचल विधि मिलाइ तत, सतगुर साहस धीर।

निपजी में सा झी घणों, बाँटे नहीं कबीर।।३०।।

शब्दार्थ: निहचल = निरचय। तत = तत्त्व। निपजी = उत्पत्ति। घँणा = सघन, अनेक।

भावार्थ : सद्गुरु ने साधना को साहस और धैर्य से युक्त करके जीवात्मा रूपी तत्त्व को परमात्मा रूपी विधि में मिला दिया। इस मिलन से प्राप्त आनन्द को बाँटने के लिए अनेक साझीदार हो गये, लेकिन कबीर उसे बाँट नहीं सकते। कारण यह है कि यह आनन्द अनुभूति का विषय है। उसका केवल अखन किया जा सकता है। वह कथन से परे है।

चौपड़ि मौँड़ी चोहरे, अरध उरध बाजार।

कहै कबीर राम जन, खेलो संत विचार।।३१।।

शब्दार्थ: चौपड़ि = चौसर। मौँड़ी = सजाया। चोहरे = चौराहे पर। अरध-उरध = अधः-ऊर्ध्व, ऊपर-नीचे। बाजार = क्रय-विक्रय का स्थान।

भावार्थ : ऊपर नीचे संसार रूपी बाजार के त्रिकुटी रूपी चौराहे पर साधना का चौसर सजाया गया है। कबीर कहते हैं कि राम के भक्तजन इसे विचार कर लो। इस साखी का अर्थ इतने से नहीं स्पष्ट हो सकता है इसके संकेतार्थी को समझना जरूरी है। वे इस प्रकार है।

चौपड़ि = साधना का संकेतक है।

चोहरे = त्रिकुटी का, दोनों भौहों के बीच का स्थान। त्रिकुटी के ऊपर के चक्रों को उरध और नीचे के चक्रों को अरध कहा गया है।

गोरणनाथ की तांत्रिक साधना का प्रभाव कबीर की इस साखी पर देखा जा सकता है। 'गोरणबानी' में यह छन्द मिलता है-

अरध उरध बिचि धरी उठाई,
मधि सुनि मैं बैठा जाई।
मतवाला की संगकति आई;
कथंत गोरणनाथ परम गति पाइ।।

विशेष :

1. नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव देखा जा सकता है।

पासा पकड़या प्रेम का, सारी किया शरीर।

सतगुरु दाँव बताइया, खेलै दास कबीर।।३२।।

शब्दार्थ: पासा = हाथी दाँत या हड्डी से निर्मित उँगलियों के बराबर की छः गोटियाँ। इन गोटियों पर बिंदियाँ बनी होती हैं जिन्हें खिलाड़ी बार-बार फेंकता है। सारी = बिसात। इसी पर चौसर का खेल खेला जाता है।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मैंने प्रेम की गोटी को पकड़ रखा है और शरीर को बिसात बना लिया है। सद्गुरु द्वारा बताया गये दाँव से वे चौसर खेल रहे हैं।

विशेष :

1. सांगरूपक।

सतगुरु हम सँ रीफि कदि, एक कहया प्रसंग।

बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग॥३३॥

शब्दार्थ: रीफि = प्रसन्न। प्रसंग = ईश्वर प्रसंग।

भावार्थ : सद्गुरु ने प्रसन्न होकर ईश्वर के संबंध में एक प्रसंग बतलाया जिससे प्रेम का बादल बरस गया ओर मेरे सारे अंग भीग गये।

विशेष :

1. रूपक अलंकार।

कबीर बादल प्रेम का, हम पर वरष्या आइ।

अंतरि भीगी आत्मौ हरी भरी बनराइ॥३४॥

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि प्रेम का बादल हम पर आकर बरस गया। जैसे हमारी अन्तरात्मा भीग गयी ओर 'जीवन रूपी वन रात्रि हरी-भरी हो गयी।

विशेष :

1. रूपक अलंकार

पूरे सँ परचा भया, सब दुख मेल्या यूहि।

निर्मल की न्ही आत्मौ तार्थै सदा हजूरि॥३५॥

शब्दार्थ: पूरे = पूर्ण ब्रह्म, परमात्मा। परचा = परिचय। मेल्या = हुआ। हजूरि = हाजिर, उपस्थिति, साक्षात् आदि।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि मेरा पूर्ण परमात्मा से परिचय हुआ और सारे दुख दूर हो गये। मेरी आत्मा निर्मल हो गयी इसीलिए अब परमात्मा मेरे लिए सदा उपस्थित रहता है।

अर्थात् निर्मलता से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है।

२. सुमिरण कौ अंग

‘सुमिरण’ स्मरण का तद्भव रूप है। ‘स्मरण’ शक्ति का एक भेद है। भक्ति के निवधा भेद के अन्तर्गत इसका परिगण मिलता है। संत कबीरदास ने अपनी साखियों में प्रभु-स्मरण को विशेष महत्ता प्रदान की है। ‘सुमिरण कौ अंग’ प्रभु-स्मरण को सम्पूर्णतः समर्पित अंग है जिससे स्मरण की महिमा का बखान और वर्णन किया गया है।

**कबीर कहता जात हूँ, सुणता है सब कोह।
राम कहें भला होइगा, नहि तर भला न होइ ॥१॥**

शब्दार्थ: भला = कल्याण। नहितर = अन्यथा।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मैं कहता जाता हूँ और सब कोई सुनते हैं। मेरा विश्वास है कि राम कहने से ही कल्याण होगा, अन्यथा कल्याण नहीं हो सकता है।

विशेष :

1. आचरण पर बल दिया गया है।

**कबीर कहै मैं कथि गया, कथि गया ब्रह्म महेस।
राम नाँव सतसार है, सब काहू उपदेस ॥२॥**

शब्दार्थ: कथि = कह। नाँव = नाम। सतसार = सार तत्त्व।

भावार्थ : कबीर दास कहते हैं कि मैंने कहा, ब्रह्मा और शंकर ने कहा और सभी का यही उपदेश है कि राम-नाम ही सार स्मरण पर सबका समान अधिकार है।

**तत तिलक तिहूँ लोक मैं, राम नाँव निज सार।
जन कबीर मस्तक दिया, सोभा अधिक अपार ॥३॥**

शब्दार्थ: तत = तत्त्व। तिलक = उत्तम, श्रेष्ठ।

भावार्थ : तीनों लोकों में राम नाम तत्त्व ही श्रेष्ठ है। राम का नाम ही अपना भी सारतत्त्व है। उस राम नाम को कबीर ने अपने माथे पर धारण कर लिया जिससे सौन्दर्य बढ़ गया।

‘तिलक’ किसी की आस्था और विश्वास का केन्द्र है। इसको धारण करने से चक्र का व्यक्तित्व, मस्तक का सौन्दर्य बढ़ जाता है।

**भगति भजन हरि नाँव है, यूजा दुख अपार।
मनसा बाचा क्रमनाँ, कबीर सुमिरन सार ॥४॥**

शब्दार्थ: मनसा = मन से। बा चा = वचन से। क्रमनाँ = कर्म से।

भावार्थ : परमात्मा की भक्ति और उनके नाम का भजन (स्मरण) ही सारतत्त्व है। इसके अतिरिक्त अन्य बातें अपार दुःख हैं। कबीर दास कहते हैं मन से, वचन से और कर्म से परमात्मा का स्मरण ही जीवन का सारतत्त्व है।

**कबीर सुमिरन सार है, और सकल जंजाल।
आदि अंति सब सोधिया, दूजा देखीं काल ॥५॥**

शब्दार्थ: सोधिया = खोजा। दूजा = दूसरा।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि प्रभु का स्मरण ही सारतत्त्व है और सारी चीजें जंजाल (माया में लिप्त करने वाली) हैं। आदि-अंत सब खोजकर ज्ञान लिया है कि अन्य सारी चीजें व्यक्ति को नष्ट करने वाली हैं।

**च्यंता तौ हरि नाँव की, और न चिंता दास।
जे कुछ चितवै राम बिन, सोइ काल कौ पास।।६।।**

शब्दार्थ: च्यंता = चिंता, चिन्तन। पास = पाश।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि मैं तो हरि नाम का चिंतन करता हूँ। मुझे अन्य किसी बात की चिंता नहीं है। कबीर यह भी मानते हैं कि व्यक्ति राम के अतिरिक्त जो चिंतन करता है, वह सारा चिंतन काल के पाश (जाल) के सामन है। अर्थात् रामनाम से व्यक्ति को भक्ति और मुक्ति मिलती है तथा अन्य वस्तुओं के चिंतन से सांसारिक आसक्ति पैदा होती है।

**पंच सँगी पिव पिव करै, छटा जु सुमिरै मंन।
आई सूति कबीर की, पाया राम रतन।।७।।**

शब्दार्थ: पंच = पाँच ज्ञानेंद्रियाँ-नेत्र, कान, नाक, जिह्वा, स्पर्श। जु = जो। सूति = स्मृति।

भावार्थ : प्रभु-नाम का विस्मरण हो गया था। कबीर को प्रभु-स्मृति आ गयी। परिणामतः नेत्र, कान, नाक, जिह्वा, स्पर्श आदि पाँच ज्ञानेंद्रियाँ तथा छठी मन 'पीव-पीव' की रट करने लगे। इस स्मरण से साधक शिष्य को राम की प्राप्ति हो गयी।

'कबीर वाङ्मय: भाग-3' में इसका अन्य प्रकार से अर्थ किया गया है। वहाँ लिखा गया है कि कबीर कहते हैं कि मेरी पाँचों इन्द्रियाँ उसी प्रकार से अपने प्रिय प्रभु की रट लगाये हुए हैं, जैसे चातक स्वाति नक्षत्र की आशा में 'पिड-पिड' रटता रहता है और मेरी जो छठी इन्द्रियाँ मन है वह उसी प्रभु का निरन्तर स्मरण करता रहता है। कबीर सीप के समान हैं, जिससे स्वाति के बूँद गिरते हैं, तब वह राम रूपी मुक्ता-दल को पाकर विहाल हो जाते हैं।

**मेरा मन सुमिरै राम कूँ, मेरा मन रामहिं आहि।
अब मन रामहि है रह्या, सीस नवावौं काहि।।८।।**

भावार्थ : मेरा मन राम का स्मरण करता है। स्मरण करते-करते मेरा मन राम-राम हो गया। जब मन स्वयं राम हो गया तब किसके सामने शीश झुकाया जाये।

विशेष :

1. शक्ति की साधना में तीन दशाएँ आती हैं-
क. तस्यैवाहं अर्थात् मैं उसका हूँ।
ख. भयैवासौ अर्थात् यह मेरा है।
ग. स एवाहमिति अर्थात् मैं वही हूँ।
प्रस्तुत साखी में भक्ति की तीसरी अवस्था का दर्शन किया जा सकता है।
2. तद्गुण अलंकार।

**तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझ मैं रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूँ।।९।।**

शब्दार्थ: वारी = बलिहारी। फेरी = चक्कर।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि 'तू-तू' करते हुए मैं 'तू' हो गया और मुझसे मेरापन (अपना अस्तित्व, अहंभाव) खत्म हो गया। मैंने तुझ पर अपने को न्यौछावर कर दिया है और त्रिधर देखता हूँ उधर 'तू' ही दिखायी पड़ता है।

विशेष :

1. 'अहम्' का पूर्ण त्याग शक्ति के आवश्यक है-इसका उद्भावन इस साखी में किया गया है।
2. तद्गुण अलंकार।

**कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै बाति।
तेल छद्या बाती बुझी, (तब) सोवैगा दिन राति॥१०॥**

शब्दार्थ: निरभै = निर्भय। दीवै = दीया, शरीर। बाति = बाती, प्राण। तेल = क्षमता, शक्ति

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि जब तक शरीर रूपी दीपक में प्राण रूपी बाती है तब तक निर्भय होकर राम का जप करो। जब तेल (क्षमता शक्ति) क्षीण होने पर प्राण रूपी बाती बुझ जायेगी तब तु दिन-रात सोयेगा ही।

विशेष :

1. रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

**कबीर सूता क्या करै जागि न जपै मुरारि।
एक दिनों भी सौवयाँ, लंबे पाँव पसारि॥११॥**

शब्दार्थ: सूता = सोते हुए। मुरारि = मुर नामक राक्षस को मारने वाले कृष्ण।

भावार्थ : कबीरदास से अपने को या जीव को प्रबोधित करते हुए कहते हैं कि तु अज्ञान की नीद में सोते हुए क्या कर रहा है। जग कर मुरारी (परमात्मा) का जप क्यों नहीं करता। एक दिन तो तुझे लम्बे पैर करके नित्य निद्रा में (मृत्यु में) सोना ही होगा।

विशेष :

1. पर्यायोक्ति अलंकार।
2. जीव मात्र को जगाने का प्रयास किया गया है।

**कबीर सूता क्या करै, राहे न देखै जागि।
जाका सँग तैं बीछुड़या, ताहीके संग लागि॥१२॥**

शब्दार्थ: बीछुड़या = बिछुड़ गया हैं।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि हे जीव! तू सोया हुआ क्या कर रहा है। जागकर क्यों नहीं देखता। जिस प्रभु से अलग हो गया है, उसी के साथ क्यों नहीं लगता।

कबीर ने माया से जीव को अलग रहकर प्रभु नाम जप का उपदेश इस साखी में दिया है।

विशेष :

1. प्रो० युगेश्वर कहते हैं कि यहाँ संग महत्त्वपूर्ण शब्द है। विषयों के संग से, क्रोध आदि षड् विकार पैदा होते हैं। परमात्मा के संग से मुक्ति मिलती है। दुख की निवृत्ति होती है।

**कबीर सूता क्या करै, उठि न रोवै दुक्ख।
जाका बासा गोर में, सो क्यूँ सोवै सुक्ख॥१३॥**

शब्दार्थ: बासा = निवास। गोर = कब्र।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि हे जीव! तू सोया हुआ क्या कर रहा है। उठकर करके (जागकर) अपने प्रभु के समक्ष अपने दुखों का निवेदन क्यों नहीं करता। यह बात समझ में नहीं आती कि जिसका निवास कब्र में है वह सुखपूर्वक क्यों कर सोता है।

विशेष :

1. अर्थान्तर न्यास अलंकार।

**कबीर सूता क्या करै, गुण गोबिंद के गाइ।
तेरे सिर परि जम खड़ी, खरच कदे का खाइ॥१४॥**

शब्दार्थ: गाद् = गाइए। जम = काल, यमराज। कदे = कदा, कधी का। खरच = दैनिक खर्चा, दैनिक भोजन।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि हे जीव! तू सोया हुआ क्या कर रहा है। जागर कर तू गोबिंद के गुणों का गान कर। तेरे सिर के ऊपर यमराज खड़ा है। वह पता न कब से जीवों को दैनिक भोजन के रूप में खा रहा है। उस यमराज से मुक्ति के लिए प्रभु की भक्ति जरूरी है।

विशेष :

1. तुलनीय पंक्तियाँ-

**झूठे सुख कौं सुख कहैं, मानत हैं मन मोद।
ढालक चबीणां काल का, कुछ मुख में कुछ गोद॥**

-कबीर

**कबीर सूता क्या करै, सूताँ होइ अकाज।
ब्रह्मा का आसय खिस्या, सुणत काल की गाज॥१५॥**

शब्दार्थ: अकाज = नुकसान। गाज = गर्जन।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि हे मनुष्य! तू सोया हुआ क्या कर रहा है। अज्ञान की निद्रा में सोते रहने से बड़ा नुकसान होता है। काल की गर्जना से ब्रह्मा का भी आसन खिसकने (हिलने) लगता है।

विशेष :

1. कबीर ने इस साखी के माध्यम से यहा कहा है कि काल (यमराज) बड़ा शक्तिशाली है। उसकी शक्ति से सारे अतिक्रान्त हैं। यहाँ तक कि ब्रह्माण्ड का अधिष्ठातः ब्रह्म भी उससे बच नहीं सका है। मामूली जीवों की क्या हेसियत! अतः उसका ग्राम बनने से पहले मनुष्य को राम नाम जप में लीन हो जाना चाहिए जिससे उससे मुक्ति मिल जाये।

**कसो कहि कहि कूकिये, नाँ सोइयै असरार।
राति दिवस कै कूकर्णौं (मत) कबहूँ लगै पुकार॥१६॥**

शब्दार्थ: कसौ = केशव। कूकिये = जप कीजिए। असरार = अरी ऋसाट।

भावार्थ : हे जीव! प्रभु नाम को सदा पीड़ित स्वर से पुकारते रहो। हठपूर्वक सोते न रहो। रात-दिन की अर्स्त पुकार से हो सकता है कि तुम्हारी पुकार प्रभु तक पहुँच जाये।

विशेष :

1. 'पुकार' न्यायालय से ग हीत शब्द है। कचहरी में पुकार होता है। इसमें एक गम्भीर अर्थ निहित है।

**जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहीं राम।
ते नर इस संसार में, उपजि षये बेकाम॥१७॥**

शब्दार्थ: जिहि = जिस। घटि = शरीर में। फुनि = पुनः। षये = नष्ट हो गये।

भावार्थ : जिस शरीर में (हृदय में) न प्रति है न प्रेम रस है और न ही जिह्वा पर राम का नाम है वे मनुष्य इस संसार में व्यर्थ उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् प्रभु-भक्ति के बिना मनुष्य का जीवन व्यर्थ-बेकार है।

**कबीर प्रेम न चाषिया, चषि न लीया साब।
सूने घर का पाहुपाँ, ज्यूँ आया त्यूँ जाव॥१८॥**

शब्दार्थ: साव = स्वाद। पाहुपाँ = अतिथि।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि जिसने ईश्वर भक्ति का प्रेम नहीं चखा और उस प्रेम का स्वाद नहीं लिया वह व्यक्ति सूने घर के अतिथि के समान है। वह जैसे आया था, वैसे ही चला गया।

कहने का आशय है कि ईश्वर का प्रेम की अनुभूति से ही मनुष्य का संसारिक सार्थक बनता है।

विशेष :

1. द ष्टान्त अलंकार।

**पहली बुरा कमाइ करि: बोधी विष की पोट।
कोटि करम फिल पलक मैं, (जब) आया हरि की वोट॥१९॥**

शब्दार्थ: पोट = गठरी। कोटि = करोड़। फिल = फेंककर। ओट = शरण।

भावार्थ : पहले बुरे कार्य करके मनुष्य ने जो विष की गठरी बाँध रखी है, वह जब प्रभु की शरण में जाता है तब पल मात्र में करोड़ों पाप कर्मों को फेंककर शुद्ध हो जाता है।

विशेष :

1. कर्म तीन प्रकार के माने गये हैं-संचित, क्रियमाण और प्रारण्ड।

संचित कर्मों से मुक्ति प्रभु की शरण में जाने से मिलती है। कबीर इन्हीं संचित कर्मों से मुक्ति की बात करते हैं।

**कोटि क्रम पेले पलक मैं, जे रंचक अखै नाउँ।
अनेक जुग जे पुन्नि करै, नहीं राम बिन ठाउँ॥२०॥**

शब्दार्थ: क्रम = कर्म। पेले = छोड़ देता है। रंचक = थोड़ा। पुन्नि = पुण्य। ठाउँ = स्थान।

भावार्थ : यदि थोड़ा भी राम का नाम याद आ जाये तो मनुष्य पहले जन्म के करोड़ों दुष्कर्यों को पल मात्र में छोड़ देता है।

यदि कोई व्यक्ति अनेक युगों तक पुण्य करे, लेकिन रामनाम के कहने का आशय यह है कि प्रभुनाम का स्मरण ही मनुष्य को पापों से मुक्त करता है और श्रेष्ठ स्थान का अधिकारी बनाता है।

**जिहि हरि जैसा जाणियाँ, तिन कूँ तैसा लाभ।
ओसों प्यास न भा जई, जब लग धसै न आभ॥२१॥**

शब्दार्थ: ओसों = ओस। भाजई = समाप्त होता है। आभ = पानी।

भावार्थ : परमात्मा को जिसने जैसा जाना, उसको वैसा ही लाभ मिलता है। जब तक कोई प्यासा व्यक्ति पानी को नहीं पीयेगा तब तक उसकी प्यास नहीं समाप्त हो सकती है।

विशेष :

1. निदर्शना अलंकार।

2. गीता में इस भावना को इस प्रकार व्यंजित किया गया है।

‘जे यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

राम पिपारा छाड़ि करि, करै आन का जाप।

बेस्वाँ केरा पूत ज्यँ, कहे कौन सूँ बाय।।२२।।

शब्दार्थ: बेस्वाँ = वेश्या। पूत = पूत्र।

भावार्थ : जो व्यक्ति प्रिय राम को छोड़कर किसी अन्य देवी-देवता का जप करता है, वह वेश्या के पुत्र के समान है जो अपने पिता को नहीं जानता।

विशेष :

1. उपमा अलंकार।

कबीर आपस राम कहि, औराँ राम कहाइ।

जिहि मुखि राम न ऊचरे, तिहि मुख फेरि कहाइ।।२३।।

भावार्थ : कबीर दास कहते हैं कि व्यक्ति को स्वयं राम का जप करना चाहिए और दूसरों से राम का नाम जप करवाना चाहिए। जिस मुख से रामनाम का उच्चारण नहीं होता उससे बार-बार उच्चारण करवाना चाहिए।

जैसे माया मन रमै, यूँ जे राम रमाइ।

(तौ) तारा मंडल छोड़ि करि, जहाँ के ओ तहाँ जाइ।।२४।।

भावार्थ : जिस प्रकार माया में व्यक्ति का मन रमण करता है उसी प्रकार यदि मन राम में रमण करे तो वह आकाश को भेदकर वहाँ पहुँच सकता है जहाँ से वह आया है।

अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है।

लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम की लूटि।

पीछेँ ही पछिताहुगे, यहु तन जै है छूटि।।२५।।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि हे मन, यदि राम नाम को लूट सको तो लूट लो अन्यथा इस शरीर के छूट जाने पर पीछे पछताओगे। कहने का तात्पर्य है कि शरीर के साथ ही साधना चलती है। शरीर के समाप्त हो जाने पर साधना भी समाप्त हो जाती है। इसलिए शरीर के रहते-रहते राम नाम का जप करते रहना चाहिए। इसी जप से भक्ति और मुक्ति मिलती है।

लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम भंडार।

काल कंठ तैं गहेगा, रूँधै दसूँ दुवार।।२६।।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि हे मनुष्य राम नाम के भंडार को जितना लूट सकते हो उतना लूट लो। जब यमराज तुम्हारे कंठ को दबायेगा तब दसों द्वार बन्द हो जायेंगे। फिर तुम राम नाम का जप नहीं कर पाओगे।

विशेष :

1. दस द्वार = दो कान, दो आँख, दो नसिका विवर, मुख, गुदा जननोन्द्रिय, ब्रह्मान्ध।

लंबा मारग दूरि घर, विकट पंथ बहु मार।

महौसंतौ क्यूँ पाइये, दुर्लभ हरि दीदार।।२७।।

शब्दार्थ: मार = कामदेव, डाकू। विकट = कठिन। दीदार = दर्शन।

भावार्थ : ईश्वर प्राप्ति का साधना पथ बहुत लम्बा है, रास्ता बहुत कठिन है रास्ते में मायावि डाकू हैं। ऐसी स्थिति में कबीर संतों से पूछते हैं कि हे संत बताइये कि उस दुर्लभ हरि का दर्शन कैसे प्राप्त किया जा सकता है।

गुण गार्ये गुण ना कटै, रटे न राम बियोग।

अह निसि हरि ध्यावे नहीं, क्यूँ पावे द्रुलभ जोग।।२८।।

शब्दार्थ: अह निसि = रात-दिन। द्रुलभ = दुर्लभ।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि परमात्मा के गुणगान से माया के त्रिगुणात्मक बंधन कटते नहीं हैं। जो व्यक्ति रात-दिन हरि का ध्यान नहीं करता, भला वह कैसे प्रभु के दुर्लभ संयोग को प्राप्त कर सकता है? अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति के लिए अनवरत जप और ध्यान आवश्यक है।

विशेष :

1. यमक और वकोक्ति अलंकार।

कबीर कठिवाई खरी, सुमिरताँ हरि-नाम।

सूली ऊपरी नट विद्या, गिरूँ त नाहीं गय।।२९।।

शब्दार्थ: खरी = बड़ी। सुमिरताँ = स्मरण। ठाम = स्थान, उपाय।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि परमात्मा के नाम के स्मरण में बड़ी कठिनाई है। जैसे सूली पर नट द्वारा प्रदर्शित करने वाली कला। जैसे सूली के ऊपर से गिरने पर नट के बचने का कोई उपाय नहीं रह जाता है वैसे ही प्रभु-साधना से चूके व्यक्ति की मुक्ति का भी कोई उपाय नहीं बचता है।

विशेष :

1. प्रस्तुत साखी में भक्ति मार्ग की दुरुहता की ओर साधक का ध्यान आकृष्ट किया गया है।
2. द ष्टान्त अलंकार।

कबीर राम हसाइ लै, जिश्या सौं करि मंत।

हरि सागर निनि बीसरे, छीलर देखि अनंत।।३०।।

शब्दार्थ: मंत = मना। छीलर = छिछला तालाब।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि राम का ध्यान करते हुए जिह्वा से राम नाम का मंत्र जपते रहना चाहिए। भक्त को (साधक को) अनेक छिदले तालाब को देखकर परमात्मा रूपी सागर को भूलना नहीं चाहिए।

विशेष :

1. द ष्टान्त और रूपक अलंकार।

कबीर राम रिफाइ लै, मुख अम त गुण गाइ।

फूटा नग ज्यूँ जोड़ि मन, संधे संधि मिलाइ।।३१।।

शब्दार्थ: संधि = दरार।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि मुख से अम त रसमान गुण वाले राम के गुणों का गान करके उन्हें प्रसन्न करो। अपने मन को परमात्मा के उसी प्रकार लीन कर दो जैसे सोनार फूटे हुए नग को संधि से संधि मिलाकर एक कर देता है।

विशेष :

1. इस साखी पर सिद्धों का प्रभाव देखा जा सकता है। सिद्धों के यहाँ परमतत्त्व को 'वज्र' और चिन्त को 'मणि' के रूप में अंकित किया गया है।

2. उपमा अलंकार।

कबीर चित्र चमंकिया, चहुँ दिस लागी लाइ।

हरि सुमिरन हाथूँ घड़ा, बेगे लेहु बझाइ।।३२।।

शब्दार्थ: लाइ = आग। बेगे = जल्दी से।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि चारों तरफ वासनाओं की आग लगी हुई है उसके ताप से मन क्षुध हो गया है। तेरे हाथ में हरि स्मरण का घड़ा है उससे जल्दी से अपने ताप को बुझा लो। अर्थात् हरि स्मरण से वासना की सारी दाहकता समाप्त हो जायेगी।

विशेष :

1. सांगरूपक अलंकार।

3. बिरह कौ अंग

‘विरह कौ अंग’ में उन साखियों को स्थान मिला है, जिनमें विरह की तीव्रतम अनुभूति काव्य बन गई है। सामान्यतः जीव अपने आप को पूर्ण मानता है, परन्तु एक स्थिति ऐसी भी आती है, जब वह अपने को अपूर्ण अनुभव करने लगता है। ऐसी स्थिति में जीव पूर्णता के लिए आतुर हो उठता है। अंश अंशी से मिलने के लिए व्याकुल हो उठता है। जीव की ऐसी व्याकुलता ही विरह-स्थिति कहलाती है। विरह का अर्थ है-विशेष रूप से दडित होने की स्थिति। जब जीव के हृदय में ऐसी तड़क तीव्र होती है, तो उसकी विरहानुभूतियाँ काव्यात्मक बन जाती हैं। ऐसी अनुभूतियों का वर्णन ही प्रस्तु अंग में किया गया है। यहाँ जीव को विरहिणी नायिका माना गया है। आ-शुक्ल की मान्यता है कि कबीर आदि में यह अनुभूतियाँ सूफियों की देन है। हमारी मान्यता है कि कबीर और सूफियों की विरह वेदना में नैतिकता का प्रश्न अलगाव बिन्दु है, क्योंकि सूफियों को ईश्वरीय और सांसारिक युगपत् स्थितियों का निर्वाह करना पड़ता है। इसलिए कबीर की विरह वेदना आध्यात्मिक अर्थ में सूफियों से अधिक प्रभावपूर्ण बन पड़ी है।-

राती रूनी बिरहिनी, ज्यूँ बंचौ कू कुंज।

कबीर अंतर प्रजलया, प्रगटया विरह पुंज।।१।।

शब्दार्थ: राती = रात भर। रूनी = रोती रही, कुंज क्रौंच पक्षी। पुंज = ढेर या समूह।

भावार्थ : यहां जीव की उपमा विरहिणी से दी गई हैं विरहिणी अपने प्रिय के वियोग में रात भर उसी प्रकार रोती रही, जैसे क्रौंच पक्षी अपने प्रिय के वियोग में रोता है। कबीर कहते हैं कि विरह रूपी अग्नि पुंज अपने भीतर उमड़ उठा है। अर्थात् विरह वेदना जग उठी है।

विशेष :

1. बंचौ के स्थान पर बच्चों होने से अर्थ होगा। जैसे क्रौंच पक्षी अपने बच्चों के वियोग में रो उठता है।
2. उपमा और रूपक अलंकार है।
3. यहाँ एक ‘मिथ’ का प्रयोग किया गया है।

‘अंबर कुंजौ कुरलियाँ, गर्राज भरे सब ताल।

जिन ते गोबिंद बीघुटें, तिनके कौण हवाल।।२।।

शब्दार्थ: अम्बर = आकाश। कुंजा = क्रौंच पक्षी। कुरलियाँ = चीखने लगे। गर्राज = गुंजायमान करते हुए। जिन ते = जिनसे। हवाल = दशा।

भावार्थ : आकाश में क्रौंच पक्षी अपनी प्रिया की बिरह वेदना से रो रहा है। उसके अश्रु से धरती के सारे सरोवर भर गए, कदाचित् मेघों ने भी उसकी वेदना में सहानुभूति दिखाई। जब केवल एक रात्रि के वियोग से एक पक्षी की यह अवस्था हो जाती है तो उस जीव का क्या हाल होगा, जो अनेक जन्मों से परमात्मा से अलग है।

विशेष :

1. क्रौंच पक्षी संबंधित कथा रूढ़ि का प्रयोग सफल बन पड़ा है।
2. ‘गर्राज भरे सब ताल’ में ध्वन्यात्मक और काव्य का सटीक प्रयोग हुआ है।
3. विरह की चरमावस्था में रोकर ताल भरे से एकनिष्ठता एकभाव एवं सम्पूर्ण समर्पण का हृदयस्पर्शी वर्णन हुआ है।
4. जीव की ईश्वर से वियोगवस्था तथा उसकी स्थिति को क्रौंच पक्षी-विरह संदर्भ , उपयुक्त शब्द-(प्रसंग) चुनाव हुआ है।

**चकवी बिछुटी रैणि की, आइ मिली परभाति।
जे जन बिछुटे राम सँ, ते दिन मिले न राति।।३।।**

शब्दार्थ: परभाति = प्रातः काल।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि चकवी अपने घोड़े से रात को बिछुड़ जाती है, वेदना से रात भर कराहती है, किन्तु सवेरे अपने प्रिय से मिलकर आनन्दित भी होती है। परन्तु मनुष्य वासनाओं में लिप्त रहने के कारण अलग हो जाते हैं। परमात्मा से सदा के लिये अलग हो जाते हैं। उस में परमात्मा से वियोग को वेदना ही नहीं होती। इसलिए उस का परमात्मा से कभी भी संयोग नहीं होता।

विशेष :

1. कवि ने वियोगवस्था में तड़फन की महत्ता प्रतिपदित की हैं।
2. चकवी के दृष्टांत द्वारा जीव को परामर्श दिया गया है कि वासनाओं में लिप्त होने के बावजूद भी उनसे ऊभर कर ईश्वर-मिलन सम्भव है।

**बासुरि सुख नाँ रैणि सुख, ना सुख सुपिने माँहि।
कबीर बिछुदया राम सँ, नाँ सुख धूप न छाँह।।४।।**

शब्दार्थ: बासरि = पिन। रैणि = रात्रि। सुपिनै = स्वप्न। माँहि = में।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं जीव राम का ही अंश है इसलिए उसे तब तक चैन नहीं मिलता जब तक वह राम में नहीं मिल जाता। और राम के विरह में तड़फती जीव की आत्मा को न दिन में चैन मिलता है न रात में। उसे स्वप्न में भी सुख प्राप्त नहीं होता। जीव धूप और छाया दोनों में तड़फता रहता है। वह इधर-उधर सुख तलाशता है परन्तु उसे हर जगह दुःख ही मिलता है। अतः उसे असली सुख राम से मिलाप में ही मिल सकता है।

विशेष :

1. भिन्न परिस्थितियों में धूप और छाया सुख के कारण हो सकते हैं। परन्तु यदि मनुष्य का मूलोच्छेद हो जाये तो सुख का कोई भी साधन शांति नहीं दे सकता। धूप और छाँव के माध्यम से भौतिक साधनों की निरर्थकता पर बल दिया गया है। राम को मूल सुख-साधना माना है।

**बिरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कछि पीव का, कब रे मिलेंगे आइ।।५।।**

शब्दार्थ: ऊभी = खड़ी। धाइ = दौड़कर। कवर = किस दिन।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि जैसे बिरहिणी रास्ते को छोर (किनारे) पर खड़ी हो प्रत्येक पथिक से अपने प्रियतम का संदेश मांगती है। उसी प्रकार जीव प्रभु के विरह से वयाकुल हो संसार-रूपी पंथ पर खड़ा हुआ प्रत्येक साधक से अपने प्रियतम राम के बारे में पूछता है। कि वह कब मुझसे आकर मिलेंगे।

विशेष :

1. बिरहिणी और साधक की लगन-समता पर बल है।
2. प्रियतम से संबंधित एक शब्द मात्र भी उसके जीवन का आधार होता है। अतः उसकी अनन्यता पर प्रकाश डाला गया है।

**बहुत पिनन की जोबती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कूँ, मनि नाही विश्राम।।६।।**

शब्दार्थ: जोवती = प्रतीक्षा करती, इन्तजार करती। बाट = रास्ता। मनि = मन में। विश्राम = शांति।

भावार्थ : प्रत्येक मनुष्य को अपने मूल-परमात्मा राम से बिछुड़ने पर एक विचित्र अभाव का अनुभव होता है। इसलिए उसे विरह की वेदना में तड़फना पड़ता है और इसी तड़फ में वह प्रभु से कहता है हे परमात्मा राम। आपकी प्रतीक्षा में मैंने कितने ही दिन बिता दिये। मैं रास्तों में बैठकर आपका इन्तजार कर रहा हूँ। आप से मिलने के लिए मन तरस रहा हूँ और मन को किसी प्रकार से शांति नहीं मिल रही।

विशेष :

1. प्रिया और प्रियतम के रूपक द्वारा आध्यात्मिक संदेश दिया गया है।
2. भारतीय मान्यताओं के अनुरूप इष्ट को पति माना गया है।
3. संयोग सम्भव न होने पर जीव की बैचनी को उपयुक्त शब्द-विधान और भाव द्वारा चित्रित किया गया है।

**बिरहिन ऊठे थी पड़े दरसन कारनि राम।
मूवाँ पीछेँ देहुगे, सो दरसन किहिँ काम।।७।।**

शब्दार्थ: मूवाँ = मरने पर। कारनि = लिए।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं हे राम! तुम्हारे वियोग में पड़ी जीव आत्मा तुम्हारे दर्शन के लिए उठती है। परन्तु दुर्बलता के कारण फिर गिर पड़ती है। वह तुम्हारे दर्शन के लिए व्याकुल है। इसलिए यदि तुम उसके मरने के बाद दर्शन दोगे तो उस का क्या लाभ होगा।

विशेष :

1. विरहिणी का उठ कर गिर जाने में 'भी' शब्द चुनाव दर्शनीय है। विरह का तीव्र वेदना वर्णनीय है।
2. अन्यार्थ में जीव का इसी जन्म में प्रभु मिलन श्रेयकर माना गया है। म त्त्यु के पश्चात उस का कोई अर्थ नहीं रहेगा।

**मूवाँ पीछेँ जिनि मिले, कहै कबीरा राम।
पाथर घाटा लोह सब, (तब) पारस कौणें काम।।८।।**

शब्दार्थ: मूवाँ पीछेँ = भरने के बाद। जिनि = मत। घाटा = समाप्त हो गया।

भावार्थ : कबीर कहते हैं हे राम! मरने के बाद आप दर्शन देने न पहुंचे, क्योंकि विरह रूपी पत्थर ने शरीर रूपी सम्पूर्ण लौहे को समाप्त ही कर दिया है तो पारस-रूपी आप आकर क्या करेंगे? यदि आप मिलने भी आर्येंगे तो कोई लाभ नहीं क्योंकि आपसे मिलने का इच्छुक तो केवल मांस का ढेर हो चुका होगा। इसलिए है प्रभु। इस जीवन में ही अपने दर्शन देने की कृपा करें।

विशेष :

1. अभिधार्थ में पत्थर पर घिसते-घिसते यदि सारा लोहा ही समाप्त हो जाए तो पारस भी उस घिसे हुए को सोना नहीं बना सकता। अतः जीवा की म त्त्यु के बाद ईश्वर का मिलन व्यर्थ ही होगा।
2. विरह की अतिशयोक्ति की सटीक व्यंजना हुई है।

**अंदेसड़ा न भाजिसी, संदेश कइयां।
कै हरि आपां भाजिसी, कै हरि ही पसि गयौं॥६॥**

शब्दार्थ: अंदेसड़ा = चिंता, आशंका। भाजिसी = भागेगी। कछियां = कहने से। कै = या तो। आपां = आने से। गायां = जाने से।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं हे राम! केवल संदेश प्राप्त होने से दुःख समाप्त नहीं होता। यह तो तभी समाप्त होता है जब हरि ही आ जायँ या भक्त ही उनके पास चला जाए। भाव जीव का विरह दुख केवल प्रभु के दर्शन से ही समाप्त हो सकता है।

विशेष :

1. विरहिणी (जीवात्मा) के लिए प्रियतम (ईश्वर) का संदेश जीवनाधार तो हो सकता है परन्तु शान्तिकारक नहीं। उसके लिए तो मिलन ही एकमात्र साधन है।

**आइ न सकौं तुझ पै, सकँ न तुझ बुलाइ।
जियरा यौंही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ॥१०॥**

शब्दार्थ: आइ = आना, तपाइ = तपा कर।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं हे प्रभु! मेरे में यह सामर्थ्य नहीं कि मैं तुम तक पहुँच सकूँ और न ही यह शक्ति है कि मैं तुम्हें अपने पास बुला सकूँ। ऐसी स्थिति में ऐसा लगता है कि आप विरह की अग्नि में तपा-तपा कर मेरे प्राण हर लोगे।

विशेष :

1. प्रियतम से मिलन के दोनों तरीकों (रास्तों) पर विरहिणी असमर्थ, असहाय है।
2. अज्ञात, अदृश्य, निराकार, सूक्ष्म, वायवी रची प्रियतम से न तो जाकर मिला जा सकता है, न वह आकर मिल सकता है। जीवात्मा की इस असमर्थता में एकमात्र विरह साधन का ही अवलम्ब है।

**यहु तन जालौं मसि करुँ, ज्युँ धुवौं जाइ सरगि।
मति वै राम दया करे, बरहि बुझावै अग्नि॥११॥**

शब्दार्थ: जारौं = जला दूँ। मसि = कालिख। सरगि = स्वर्ग। मति = शायद, संभव है।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं सच्चा साधक जब प्रभु विरह में तड़प-तड़प कर दुःखी हो जाता है तो वह कहता है हे प्रभु! अब मैं थक चुका हूँ और अपने इस शरीर को जला कर भस्म कर रहा हूँ। इसका धुँ स्वर्ग तक जायगा। संभव है उस धुँए को देख प्रभु दया करे और दर्शन रूपी वर्षा कर इस विरह अग्नि को बुझा दे।

विशेष :

1. प्रियतम की विरहग्नि में शांत करने के सदर्भ में अन्य साधन के अभाव में विरहिणी स्वयं अपने तन को जलाकर, धुँवा, और पुन, धुँवे से बादल और बादल से वर्षा, और वर्षा से अग्नि की शांति का तरीका खोजती है।
2. वर्षा के वैज्ञानिक कारणों का उल्लेख है।
3. अतिशयोक्ति अलंकार है।

**यहु तन जालौ मसि करौ, लिखौं राम का नाउँ।
लेखणि करुं करंक की, लिखि लिखि राम पठाऊँ॥१२॥**

शब्दार्थ: लेखणि = कलम। करंक = हड्डी।

भावार्थ : हे प्रभु! आप को बुलाने का मेरा हर प्रयत्न असफल हो चुका है। अब तो यही मार्ग शेष है कि मैं अपने शरीर को जलाकर उससे स्याही बना लूँ और हड्डियों की लेखनी हाथ में लेकर केवल आपका नाम ही लिख-लिख भेजती रहूँ। ताकि आप समझ, सके कि मेरी क्या दशा है।

विशेष :

1. सर्वस्थ समर्पित, अर्पित करके भी यदि प्रियतम की याद को जीवित रखा जा सके तो भी जीवन की सार्थकता है।
2. प्रियतम (राम) का नाम ही अब एक मात्र विरहिणी का आधार रह गया है।

**कबीर पीर पिरावनी, पंजर पीड़ न जाइ।
एक जु पीड़ परीति की, रही कलेजा छाइ।।१३।।**

शब्दार्थ: पिरावनी = पीड़ा देने वाली। पंजर = शरीर। परीति = प्रीति।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि कोई भी पीड़ा कष्टकारक होती है और जल्दी न जाकर शरीर को पीड़ित करती है। परन्तु सबसे अलग पीड़ा प्रेम की होती है जो हृदय के अन्दर तक छा जाती है।

विशेष :

1. पीड़ा (शारीरिक) के कष्टकारी स्वरूप का वर्णन है।
2. विरह जनित पीड़ा के असाध्य और व्यापक प्रभाव का वर्णन है।
3. प्रियतम वियोग जनित पीड़ा में तन मन की व्यथा का वर्णन है।

**चोट सताँणी बिरह की, सब तन जरजर होई
मारणहारा जाँणिहे, कै जिहिं लागी सोइं।।१४।।**

शब्दार्थ: सताँनी = सताने वाली।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि साधक को जब विरह की गहरी चोट लगती है तो उस का सारा शरीर जर्जर हो जाता है परन्तु उस समय जो पीड़ा होती है उसका अनुमान केवल वह साधक या चोट देने वाले भगवान ही जानते हैं। यह दर्द प्रेम की चरम सीमा पर पहुँच कर ही होता है और इस का रहस्य प्रभु और साधक के अलावा और कोई नहीं जान सकता।

विशेष :

1. आध्यात्मिक पीड़ा की विचित्रता का वर्णन है। प्रियतम स्वयं इस पीड़ा को उत्पन्न करता है, इसलिए इस विचित्रता का ज्ञान क्या तो केवल विरह रूपी चोट मारने वाले को होता है, और क्या केवल चोट खाने वाले को।
2. विरह पीडन की शहरयता का वर्णन है।

**कर कमाण सर साँधि करि, खँचि जुमारया माँहि।
भीतरि भिद्या सुमार है, जीवै कि जीवै नाँहि।।१५।।**

शब्दार्थ: कमाण = धनुष। माँहि = भीतर। सुमार = सफल चोट।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं प्रभु ने हाथ में धनुष लेकर तीर का निशाना साधक हृदय में जो चोट की है, वह सफल निशाना मर्म में समा गया है। इस चोट के बाद साधक जियेगा या नहीं इसमें सन्देह है अर्थात् चोट के बाद बचना कठिन है।

विशेष :

1. प्रभु की यह चोट 'अज्ञता' या 'खुदी' पर है, अतः जिस को वह समाप्त करना चाहता है, उस 'अहे' पर ही चोट करता है।
2. 'अहे' पर चोट, चोट से विनाश, तत्पश्चात् प्रभु की अनुभूति सम्भव है।

**जबहूँ मारया खैचि करि, तब मैं पाई जाँणि।
लागी चोट मरम्म की, गई कलेजा धौणि॥१६॥**

शब्दार्थ: मरम्म = मर्म। छाँनि = छेदकर।

भावार्थ : साधक कहता है जब हरि ने कुशल धनुर्धर के समान पूरी शक्ति से विरह का बाण मारा, तभी मैं उस की पीड़ा का अनुभव कर सका यह चोट मर्म भेदी है और कले को छेदकर आरपार हो गयी है।

विशेष :

1. प्रेम पीड़ा, विरहिग्नि, आध्यात्मिक लग्न का संबंध ईश्वरानुभूति होता है। जितनी यह पीड़ा तीव्र होगी, अनुभूति उतनी ही साधन।
2. पीड़ा की तीव्रता का आभास उसके कारण प्रियम से है। यहाँ प्रियतम द्वारा बाण, बाण से घाव, पीड़ा आदि शब्दों को भावनुकूल संदर्भानुकूल सटीक प्रयोग किया है।

**जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या।
तिहि सरि अजहूँ मारि, सर बिन सच पाऊँ नहीं॥१७॥**

शब्दार्थ: सरि = बाण से। सच = सुख, शान्ति।

भावार्थ : साधक कहता है कि अब विरह पीड़ा में भी उसे आनन्द मिलने लगा है। अतः हे प्रभु! आपने कल जो प्रेम बाण मारा था वह मेरे रोम-रोम में बस चुका है। अब मेरे हृदय उस प्रेम बाण बिना शान्ति नहीं पाता इसलिए आप इसी बाण को फिर मारिये। ताकि मेरे अन्दर विरह-वेदना बनी रहे। अब उसके बिना मुझे सुख-चैन नहीं मिल सकता।

विशेष :

1. विरहिणी (आत्मा) अन्यता सर्पपण और एकविष्टता की उच्चतम सिति में दर्द से ही दवा करने लग जाती है। ज्यों-ज्यों दर्द बढ़ता है त्यों-त्यों प्रियतम की अनुभूति तीव्र होती है, इसी में शान्ति का अनुभव करती है।
2. यहाँ विरहिणी विरह वेदना की अनुभूति में ही प्रियतम की याद लगातार बनी रहने के कारण सुख शान्ति लाभ प्राप्त करती है।
3. आध्यात्मिक प्रेम की विचित्रता, रहस्यमयता का वर्णन है।

**बिरह भुवंगम तन बसे, मंत्र न लागे कोइ।
राम बियोगी ना जिवै, जिवै त बीरा होई॥१८॥**

शब्दार्थ: भवुगम = सर्प। त = तो।

भावार्थ : विरह रूपी सर्प शरीर में बसा है। उसे बाहर निकालने के लिए सारे प्रयुक्त मंत्र असफल हो चुके हैं। राम का वियोगी या तो जीवा नहीं अगर जीता है तो संसार की दृष्टि में पागल सा होकर जीता है। अर्थात् उस की संसार के प्रति कोई आसक्ति नहीं रह जाती।

विशेष :

1. विरह भुवंगम में रूपक अलंकार है।
2. ईश्वर की सत्यानुभूति मिटाई नहीं जा सकती।
3. ऐसा विरही सांसारिक दृष्टि में म त-प्रायः माना जाता है।
4. यदि उसे जीवित भी समझा जाए तो पागल की संज्ञा दी जाती है।

**बिरह भुवंगम पैसि करि, किया कलेजे घाव।
साधू अंग न मोड़ही, ज्युँ भावै तयू खाच।।१६।।**

शब्दार्थ: पैसि करि = घुसकर। मोड़ही = मोड़ना, डटाना। ज्युँ भावै = जैसे चाहे।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि हरि-विरह का सर्प हृदय में पहुँचकर गहरा घाव कर चुका है। फिर भी सच्चे साधक नहीं घबराते। न ही कभी मुड़ते हैं। वे अपने को समर्पित कर देते हैं और वह जैसे चाहे उसे खाता रहे। भक्त विरह से अलग नहीं होना चाहता। जैस-जैसे विरह-अग्नि बढ़ती है वैसे-वैसे ही प्रभु मिलन की उत्सुकता बढ़ती जाती है। और अन्त में भक्त प्रभु को पा लेता है।

विशेष :

1. ईश्वरानुभूति का घाव बाहरी न होकर आन्तरिक होता है।
2. साधक उस घाव को रिझता रखना चाहता है।
3. उसी घाव-जनिक पीड़ा में आनन्दित, घावमय (ईश्वरमय) बन जाता है। एकत्व प्राप्त कर लेता है।

**सब रंग तंत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुणि सकै, वे साई के चित्त।।२०।।**

शब्दार्थ: रंग = रंगें। तंत्र = तन्त्री। रबाब = वाद्य विशेष।

भावार्थ : साधक का शरीर विरह में रबाब वाद्य जैसा हो जाता है। उसकी सारी रंगें तन्त्रियों जैसे होती हैं। बिरह उसे नित्य बजाता रहता है। परन्तु उस धुन को कोई ओर नहीं सुन सकता। उसे या तो प्रभु या साधक खुद ही सुन पाता है।

विशेष :

1. रंग, तंग, रबाब में सांग रूपक अलंकार है।
2. रबाब आधुनिक सरोद और सारंगी के मध्य का बाजा है। इसमें लगभग चार तारें होती हैं। यह दो प्रकार का होता है, एक तो सारंगी के समान गज से बजाया जाता है, दूसरा त्रिकोण से बजाया जाता है। यह वाद्य यंत्र भारत में मुस्लिम युग में ईरान से आया प्रतीत होता है।
3. द्वैत भाव में जीव की विरह स्थिति का वाद्य-यंत्र रबाब द्वारा सुन्दर वर्णन हुआ है।

**बिरहा बुरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलितान।
जिह घटि बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान।।२१।।**

शब्दार्थ: बुरहा = बुरा। सुलतान = राजा। मसान = श्मशान।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं विरह को बुरा मत कहो। विरह तुच्छ नहीं है श्रेष्ठ है। जिस शरीर में विरह का संचार नहीं है वह तो श्मशान के समान है।

विशेष :

1. ईश्वरानुभूति जन्य विरह सांसारिक विरह से भिन्न साधक के लिए उत्तम, कल्याणकारी और श्रेष्ठ श्रेष्ठ होता है।
2. हृदय-अनुभूतियों का पुंन है, जिस में अनुभूति संवेदना नहीं वह पाषाण अथवा श्मशान के समान उजड़ होता है।
3. विरह रहित हृदय की श्मशान से तुलना दर्शनीय है।
4. विरह, पीड़ा के सकारात्मक पहलुओं का वर्णन है। आधुनिक युग में कामायबीकार ने भी पीड़ा के घनात्मक रूप पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

5. विरह की प्रतिमूर्ति महादेवी वर्मा भी विरहजनित आंसुओं की उर्वरा शक्ति का वर्णन करती है।

**अंभड़ियाँ झाई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़या, राम पुकारि पुकारि।।२२।।**

शब्दार्थ: साँई = अंधकार। जीभड़ियाँ = जीह्वा

भावार्थ : हे प्रभु। तुम्हारी प्रतीक्षा करते-करते आँखों में अंधेरा छा गया अर्थात् दृष्टि मंद पड़ने लगी है। तुम्हारा नाम पुकारते पुकारते जीह्वा पर भी छाले पड़ गए हैं। पर दुःख है, तुम्हारा दर्शन अब तक नहीं हुआ।

विशेष :

1. विरही रूपी आत्मा की वेदनावस्था का वर्णन हुआ है।
2. आन्तरिक और बाह्य दोनों रूपों में वह अपने प्रियतम को ही अपना अन्तिम ध्येय समझती है।

**इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्युं जीव।
लोही सीचौं तेल ज्युं, कब मुख देखौं पीव।।२३।।**

शब्दार्थ: दीवा = दीपक। लोह = रक्त।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि अपने प्रिय राम का मुख देखने के लिए शरीर का दीपक और जीव को बत्ती बनाना चाहता हूँ। उसमें रक्त रूपी तेल डालना चाहता हूँ। ऐसे दीपक के प्रकाश से अज्ञानांधकार दूर कर प्रियतम परमात्मा का मुख देखूँगा।

विशेष :

1. सांग रूपक अलंकार की छटा दर्शनीय है।
2. विरह की एकनिष्ठता में स्वयं को सम्पूर्णयता में समाप्त करके भी, विरही प्रियतम के दर्शन की अभिलाषा रखता है।
3. वस्तुतः मोहांधकार 'दर्शन' के बिना जाता ही नहीं।

**नैनाँ नीझर लाइया, रहट बहै निस जाम।
पपीहा ज्युं पिव पिव करौं, कबरु मिलहुगे राम।।२४।।**

शब्दार्थ: नीझर = झरना। रहट = कुँ से पानी निकालने का यंत्र।

भावार्थ : आँखों से झरने के समान आंसुओं की अविरल धारा बहती रहती है। रात दिन लगातार उमड़-उमड़ आंसू का प्रवाह उसी प्रकार चलता रहता है जिस प्रकार से रहट से जल का अजस्र निष्क्रमण होता रहता है। पपीहे के समान मैं अपने प्रिय से मिलने के लिए पिउ पिउ करता रहता हूँ।

विशेष :

1. प्रियतम की याद में नयनों से बहने वाले आँसुओं का रहट से बहने वाले पानी के साथ तुलना-अत्यंत ही सहज, स्वाभाविक बन पड़ी है।
2. प्रियतम की लग्न को पपीहे की पिव-पिव से जोड़ना प्राचीन कथा रूढ़ि है। यहाँ इसका सकल प्रयोग हुआ है।

**अंभड़ियाँ प्रेम कसाइयाँ, लोग जाँणे दुखड़ियाँ।
साँई अपणै कारणै रोइ रोइ रतड़ियाँ।।२५।।**

शब्दार्थ: कसाइयाँ = रक्त वर्ण, काषाय। रतड़ियाँ = लाल।

भावार्थ : विरह के कारण साधक की आँखें लाल हो गई हैं। लोगों समझते हैं कि आंखे आ गई हैं या दुःख रही हैं। हे स्वामी, आपके कारण ही रो-रोकर आंखे लाल हो गई हैं।

विशेष :

1. विरहाग्नि में रो-रोकर आँखों की अवस्था का वर्णन है।
2. साधक की क्रियाओं जगत् में अनेक भ्रमों का कारण बनती हैं। इसलिए उसे पागल-बीमार-तक समझा जाता है।
3. साधक की विचित्र स्थिति का वर्णन है।

**सोई आंसू सजणां, सोई लोक बिडाँहि।
जे लोइण लॉही चुवै, तो जाँणो हेतु हिपाँहि।।२६।।**

शब्दार्थ: बिडाँहि = निकलता है। लोइण = लोचन। लॉही = रक्त। हेत = प्रेम। हियाँहि = हृदय में।

भावार्थ : आंसुओं से हृदय की आन्तरिक स्थिति का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। आंसू तो अपने स्वजन (प्रभु) के लिए भी निकलते हैं और अन्य कारण वश भी निकलते हैं। किंतु हृदय में सच्चा प्रभु प्रेम हो तो आँखों से लहु टपकना चाहिए।

विशेष :

1. ईश्वर-विरह में विरही (साधक) की विशेषावस्था का, 'आँखों से लहु' टपकने द्वारा सटीक, और प्रभावोत्पाक चित्रण हुआ है।
2. सांसारिक पीड़ा और ईश्वरीय पीडन की तुलना दर्शनीय है।

**कबीर हसणाँ दूरि करि, करि रोवण सौँ चित्त।
बिना रोयाँ क्यँ पाइये, प्रेम पियारा मित्त।।२७।।**

शब्दार्थ: हसणाँ = हँसना। चित्त = मन। प्रेम पियारा = प्रभु।

भावार्थ : कबीरदास कह रहे हैं कि हे मनुष्य! तू संसार के विषयों में प्रवृत्त होकर हँसता न रह अर्थात् विषयों से प्रीति न कर। विषया-सुख को सुख न समझ कर उसे दुख की वस्तु समझ। ओर अपने मन को रोने में प्रवृत्त कर, क्योंकि बिना रोये प्रेम तथा प्यारे मित्र राम को पाना किसी प्रकार संभव नहीं। विरह में रोना साधना में नितान्त साहायक होता है।

विशेष :

1. हँसने में साधारण जीवन के हाल-उल्लास की व्यंजना है और रोने में विरह की व्यंजना है। विरही किसी प्रिय की याद में रोता है। इसलिए यह रोना प्रिय की लगन और खोज का परिचायक है, अतः यह साधक के लिए नितान्त आवश्यक होता है।
2. प्रेम-पीड़ा की आध्यात्मिकता की महत्ता का प्रतिपदान है।

**जो रोऊँ तो बल घटै, हँसो तो राम रिसाइ।
मनही माँहि बिसूरणाँ, ज्यँ घुण काठहि खाइ।।२८।।**

शब्दार्थ: रोऊँ = रोने से। घटै = घटता है। माँहि = मध्ये > माँझ > माँहि, भीतर। बिसूरणाँ = सिसक सिसक। कर भीतर हो भीतर दुःख का अनुभव करना, दुःखी होना, शोक करना। रिसाइ = क्रोधित होना, खिन्न होना।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं प्रभु प्रेम एक अनुठा प्रेम है। जिस में यदि प्रेमी रोता है तो उसकी शक्ति क्षीण होती है। ओर यदि हँसता है, तो प्रियतम (प्रभु) खिन्न होते हैं। क्रोधित होते हैं। ऐसी अवस्था में उस के पास केवल एक ही मार्ग शेष रह जाता है कि रोने का दिखावा न कर मन में ही रुदन करता रहे ओर उससे भीतर-ही-भीतर इसी प्रकार खोखला होता रहे, जिस प्रकार काठ को घुन खाकर भीतर-ही-भीतर खोखला करता रहता है। ओर ऊपर से किसी को पता भी नहीं चलता।

विशेष :

1. यहाँ रोने से तात्पर्य है विरह की तीव्रानुभूति यह आन्तरिक होती है, बाह्य नहीं। रोना बाह्य होता है अतः कबीर ईश्वरानुभूति को आन्तरिक अवस्था मानता है।
2. 'है जो तौ राम रिसाइ'- द्वारा व्यंजित होता है कि यदि साधारण लोगों के समान हास-उल्लास में पड़ा हुआ विषयों में अनुरक्त रहूँ तो अपना प्रियतम यह देखकर खिन्न होगा कि मैं अभी उस की ओर उन्मुख-ही नहीं हुआ।
3. कबीर ने अन्य स्थल पर पीड़ा रोने की प्रेम का अनिवार्य तत्त्व संदर्भ है। अंतः यहाँ विरोधाभास है।
4. शक्ति के क्षीण होने से अभिप्रायः शारीरिक शक्ति क्षीण होने से (साधना क्षेत्र के) मानसिक शक्ति बढ़ती है।

**हँसि हँसि कंत न पाइए, जिनि पायो तिनि रोई
जो हौंसेही हरि मिलै, तौ नहीं दुहागनि कोई।।२६।।**

शब्दार्थ: हँसि = हँसने से। कंत = स्वामी, पति, प्रभु, परमात्मा। पाइए = पा ले। दुहागनि = घोर दुख, दुर्भागिन, दुर्भाग्यवती।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि हँसते-हँसते अर्थात् मौज मस्ती करते हुए या विषयों में रहकर अपने प्रभु को प्राप्त नहीं किया जा सकता। सुखमय, स्थिति 'उस-तक' नहीं ले जाती। 'उस-तक' पहुँचने के लिए तो मनुष्य को संसार से विरक्त होना पड़ता है। प्रभु को तो केवल उस के वियोग में रोने वालों ने ही पाया है। यही परम सत्य है। यदि हंसने से ही प्रिय मिल जाय तो फिर संसार कोई अभागिनी ही नहीं रह जायेगी अर्थात् प्रिय (प्रभु) के प्रेम से कोई वंचित नहीं रह जाएगा। क्योंकि मौज उड़ने में या विषय-वासना में तो सभी जीव लगे रहते हैं।

विशेष :

1. ईश्वर रूपी प्रियतम को पाने के लिए कठिन साधना अर्थात् श्रम साधनामय जीवन की आवश्यकता पर बल दिया गया है।
2. सांसारिक विषयों से विरक्ति ही जीव को ईश्वरान्मुख कर सकती है।
3. भौतिक-सांसारिक और आध्यात्मिक रास्तों की भिन्नता पर प्रकाश डाला है।
4. अर्थान्यास अलंकार है।

**हौंसी खेलौं हरि मिलै, तौ कौण सहे षरसान।
काम क्रोध त्रिष्णां तजै, ताहि मिलै भगवान।।३०।।**

शब्दार्थ: सहे = सहन करना। षरसान = तीक्ष्ण धार। त्रिष्णां = लालसा, तष्णा। तजै = त्याग।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं यदि हँसते-खेलते, विषय-वासनाओं में रहते हुए प्रभु मिल जाए तो विरह की तीक्ष्णधार पर कौन चढ़कर अपने शरीर की दुर्गति करायेगा अर्थात् कौन विरह-अग्नि में अपने शरीर को तपायेगा। परन्तु वियोग की अनुभूति बिना अपने प्रियतम, अपने प्रभु से संयोग हो ही नहीं सकता। विरह के कारण ही साधक तपता रहता है और उसके मन में प्रभु मिलन की प्यास बढ़ती ही जाती है। जिस से एक दिन वह प्रभु को पा लेता है। वास्तविकता में तो प्रभु उसे ही मिलते हैं जो काम, क्रोध, और तष्णा को त्याग देता है और सच्चे मन से प्रभु की साधना करता है।

विशेष :

1. प्रभु प्राप्ति के कष्ट, साधनामय जीवन पर प्रकाश डाला गया है।
2. 'हौंसी खेलौं' से भाव है सांसारिक कार्यों में अनुरक्त होते हुए भी।
3. षरसान, साधनामय जीवन की कष्टता का प्रतीक है।

4. ईश्वर प्राप्ति के लिए काम क्रोधादि सांसारिक प्रलोभनों से सहज ही विरिक्त आवश्यक है।

**पूत पियारो पिता कौं, गौहनी लागी धाइ।
लोभ मिठाई हाथि दे, आपण गयी भुलाइ।।३१।।**

शब्दार्थ: पूत= पुत्र, बेटा। पियारो = प्रिय, प्यारा। गौहनि = गोहन = साथ, पास, संग। आपण = आत्मतत्त्व। हाथि दे = हाथ में देकर।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि पिता का प्रिय पुत्र होता है। वह उसके साथ दौड़कर लग गया। वह पूर्ण तृप्ति देने वाले स्नहे का अधिकारी था। किंतु दुर्भाग्यवश उसने जगत्-लोभ की मिठाई अपने हाथ में रख ली। जिनके परिणाम स्वरूप वह बालक उसी मिठाई में रम गया और प्रभु को भूल गया।

विशेष :

1. प्रस्तुत साखी में पिता को परमात्मा माना गया है, पुत्र को जीवात्मा तथा मिठाई को लोभ मोहादि। जिस प्रकार पुत्र मिठाई प्राप्त करके पिता को भूल जाता है, उसी प्रकार जीव सांसारिक विषयों के भोग में अनुशक्त होकर अपने मूल परमात्मा को भूल जाता है। वह अपने स्वरूप में नहीं रहता। उसका अपने स्वरूप में रहना ही पिता के साथ रहना है। और विषयों में अनुरक्त रहना, स्वरूप से अलग हो जाना है।
2. अन्योक्ति अलंकार है।

**डारी खाँड़ पट्टकि करि, अंतरि रोस ऊपाइ।
रोवत रोवत मिलि गयो, पिता पियारा जाइ।।३२।।**

शब्दार्थ: डारी = फेंक दी। खाँड़ = गुड, मिठाई। अंतरि = हृदय। रोस = क्रोध। उपाइ = उत्पन्न करके।

भावार्थ : जब बालक को यह बोध हुआ कि इस मिठाई के लोभ में पिता का साथ छूट गया है तो उसके भीतर खीझ उत्पन्न हुई और उसने झटककर मिठाई को फेंक दिया और रोता-रोता पिता की ओर चल दिया और उससे मिल गया। अर्थात् जब साधक को यह बोध हुआ की माया में फसं उस ने प्रभु को भूला दिया तो वह माया को अपने से दूर कर देता है। और व्याकुल हो प्रभु की ओर चल देता है। उसकी व्याकुलता उसे प्रभु से मिला देती है।

विशेष :

1. माया के मिथ्यात्व-बोध के पश्चात् ही ईश्वरानुभूति सम्भव है।
2. मिथ्यात्व बोध के पश्चात्, स्वरूप से मिलन की तड़फ भी अनिवार्यतः पर प्रकाश पड़ता है।
3. अन्योक्त अलंकार है।

**नैनाँ अंतरि आचरुँ निस दिन निरषौं तोहि।
कब हरि दरसन देहुगे, सो दिन आवै मोहि।।३३।।**

शब्दार्थ: आचरुँ = आचरण करुं। निरषौं = देखूं। तोहि = तुमहें। निस = रात। सो = वह।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि हे प्रिय परमेश्वर! मैं वह दिन कब देखूँगा जब आपका दर्शन होगा, रात-दिन आपको ही देखता रहूँगा तथा अपनी आँखों में ही आपको बसाकर, आपकी उपसना और उससे संबद्ध सारे आचरण करता रहूँगा।

विशेष :

1. अशरीरी, प्रियतम की तड़फन में निवेदन अवस्था का वर्णन हुआ है।
2. दर्शन-मिलन के लिए ईश्वरीय कृपा पर बल दिया गया है।

**कबीर देखत दिन गया, निस भी देखत जाइ।
बिरहणि पिव पावे नही, जिपरा तलपै माइ।।३४।।**

शब्दार्थ: देखत = देखते हुए। निस = रात। जार = बीत गया। पिउ = प्रिय (प्रभु)। तलपै = तड़पना। माइ = भीतर।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं प्रियतम की प्रतीक्षा में आत्मा रूपी विरहिणी तड़फती रहती है। प्रभु की बात देखते-देखते दिन बीत गया और उसी प्रकार रात भी बीत गयी। किंतु बेचारी विरहिणी को प्रभु (प्रिय) नहीं मिला। प्रभु से मिलाप न होने के कारण वह विरह-अग्नि में भीतर-ही-भीतर जल रही है।

विशेष :

1. जीव की दर्शनच्छा-प्रतीक्षा में दिन-रात अर्थात् जीवन व्यतीत हो रहा है, परन्तु मिलन संभव नहीं हो पाया पिरमाणतः विरहिणी का हृदय भीतर-ही-भीतर तड़फता रहता है।

**कै बिरहनि कूँ मीच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाइणों, मोपे सहा न जाइ।।३५।।**

शब्दार्थ: कै = या। आपा = अपना स्वरूप। दाइणों = दग्ध होना, संतप्त होना। मोपे = मुझे से।

भावार्थ : हे प्रभु। इस विरहिणी को म त्पु दे दो या अपना रूप दिखलाओ। तिरह-व्यथा में दिन-रात आठो पहर का संतप्त होना, अब मुझसे सहा नहीं जाता। अर्थात् हे प्रभु अब विरह-व्यथा अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुकी है कृपा दर्शन दें।

विशेष :

1. विरहिणी की तीव्रानुभूति का वर्णन करते हुए कबीर ने आठो पहर उस वेदना-कष्ट को असंख्य मान कर म त्पुकांक्षा या दर्शन-की कामना की है।
2. जीवात्मा इस तड़फन को नहीं सह सकती अतः चरमावस्था का वर्णन है, वियोग में अन्तिमवस्था म त्पु होती है।

**बिरहणि थी तो कयूँ रहीं, जली न पीव के नालि।
रहु, रहु मुगध गहेलड़ी, प्रेम न लाजूँ मारि।।३६।।**

शब्दार्थ: नालि = साथ। मुगध = मुग्ध। गहेलड़ी = गर्वोली, हठीली, पागल, गाँवारिन। लाजूँ = लाज से भरना या दुखी होना।

भावार्थ : ऐ साधक विरहिणी! यदि तू सच्ची विरहिणी थी तो प्रिय परमात्मा से प थक् होते समय ही क्यों न जल गई। अब सती बनने का ढोंग ही क्यों जब प्रिय से बिछुड़ते समय उसके साथ जल न सकी। ऐ मूढ, ऐ हठी। तू अपने को प्रेमिका कहकर प्रेम को भी लज्जा से न भाव-उसे भी कलंकित न कर।

विशेष :

1. विरहिणी का सार्थकता, सत्यता प्रियतम के वियोग में समाप्त होने पर ही है। इसी से वह अमर होती है, वियोगवस्था में जीवित रहकर वह मर जाती है।
2. वियोगवस्था में जीवित रहकर तड़फना, कबीर को ढोंग प्रतीत होता है, स्वयं को समाप्त कर देना सत्यता, सार्थकता।
3. यहाँ 'पीव' शब्द का वाच्यार्थ है- पति के साथ, परन्तु भावार्थ है-प्रीति के निमित्त।

**हौँ बिरहा की लाकड़ी, समझि समझि धूँधारुँ।
छूटि पड़ौँ यो बिरह तैं, जे सारीहि जलि जाऊँ।।३७।।**

शब्दार्थ: समसि = समझि = रह रह कर। धूँधारुँ = धीरे-धीरे जलना, सुलग-सुलग कर जलना, धुआँ देकर जलना। जे = यदि। सारीहि = सम्पूर्ण पूरी।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि मैं। विरह विरह की वह गॉठ-गठीली लकड़ी हूँ जो धीरे-धीरे रह रहकर धुआँ देती हुई सुलगती है। अच्छा होता, यदि मैं सम्पूर्ण रूप से एक ही बार जल जाती। इस प्रकार विरह अग्नि से तो मुक्ति मिल जाती।

विशेष :

1. प्रस्तुत साखी में विरहावस्था की तीव्रता का प्रतिपादन हुआ है। व्यंजना से अर्थ होता है कि यदि आसक्ति लोभ, मोहादि की गन्धि मिट जाए और पूर्णरूप से विरह की आग धधक उठे तो प्रभु मिलन संभव है। संकेत है कि लौकिक विरह में जलने पर भी मिलन संभव नहीं। आध्यात्मिक विरह में ही, पूर्ण रूप से स्वयं को मिटा कर ही प्रभु मिलन का संयोग बन सकता है।
2. विरोधाभास अलंकार है।

**कबीर तन मन यौं जल्य़ा, बिरह अग्नि सँलागि।
म तक पीड़ ना जाँणई, जाणेंगी यह आगि॥३८॥**

शब्दार्थ: जल्य़ा = जलना, समाप्त होना शून्य होना। आगि = विरह अग्नि, तड़फ।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि परम प्रिय परमात्मा की विरह अग्नि में यह मन और शरीर की इन्द्रियाँ अपने आप को पूर्णतः खोकर (भूलकर) परम-प्रिय की चाह रूपी अग्नि से एकाकार हो चुकी है। म तक के समान शून्य हो चुकी हैं। अब इस म तक-तुल्य मन-शरीर को विरह अग्नि की अनुभूति नहीं हो रही।। अब उस पीड़ (जलन) को तो यह आग जिसमें शरीर-मन जल रहा है यही जान पायेगी। अतः ईश्वरानुभूति एक आन्तरिक अनुभूति है। उसे मन-इन्द्रियों से हटकर ही अनुभूत किया जा सकता है। ध्येन का माध्यम है-विरहअग्नि।

विशेष :

1. रूपक अलंकार है।
2. ध्वन्यार्थ से प्रतीत होता है कि साधनक की तन-मन की आसक्ति दग्ध हो चुकी है, वह परमामा के साथ एकाकार हो चुका है।

**बिरह जलाई मैं जलौं, जलती जल हरि जाऊँ।
मो देख्यां जल हरि जलै, संतौ कहाँ बुझाऊँ॥३९॥**

शब्दार्थ: जलहरि = जलधरी, जलाशय।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि मैं विरहाग्नि से जल रहा हूँ। हे प्रिय हरि। मैं इसमें जल ही जाऊँ तो ही ठीक है, क्योंकि इसको किसी प्रकार बुझाया नहीं जा सकता। वे संतों से कहते हैं कि अब तो मुझको जलता देखकर जलधर (जलाशय) जल उठे हैं, इस आग को मैं कहाँ बुझाऊँ।

विशेष :

1. रूपक अलंकार से विरहानुभूति की तीव्रता व्यंजित होती है।
2. परम प्रिय की विहाग्नि में आकुल मनोदशा का चित्रण है।
3. जलाशय के जलने में विरोधाभास है।
4. व्यक्तिगत विरह को लोक व्यापी दिखाया गया है, यह सूफ़ी परम्परा है।

**परबति परबति मैं फिरचा नैन गवाये रोइ।
सो बूटी पाऊँ नहीं, जातैं जीवनि होइ॥४०॥**

शब्दार्थ: परबति परबति = पर्वत-पर्वत पर। बूटी = औषध, दवा।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि मैं उस बूटी को खोज में पर्वत-पर्वत मारा-मारा फिरा जिससे म तक तुल्य मैं जीवन प्राप्त कर सकूँ। बूटी प्रायः पर्वतों पर ही मिलती है। यहाँ 'पर्वत' से मतलब बड़े-बड़े साधकों और ज्ञानियों से है। भाव यह है कि मैं बड़े-बड़े साधकों के पास दर-दर मारा फिरा और प्रिय-वियोग में रो-रोकर नेत्र भी खो दिये। परन्तु मुझे कोई भी वह बूटी न दे सका जिससे जीवन की प्राप्ति हो अर्थात् कोई भी वह मार्ग न बतला सका जिससे प्रभु-मिलन हो सके।

विशेष :

1. बूटी में रूपकातिशयोक्ति अन्योक्ति अलंकार है। तात्पर्य है साधना, उपाय।
2. साधक की आकुल मनोदशा का वर्णन है।
3. प्रभु-अनुभूति अनुभवगम्य है।

**फाड़ि फुटोला, धज करौं। कामलड़ी पहिराउँ।
जिहि जिहि भेषां हरि मिले; सोइ सोइ भेष फराऊँ।।४१।।**

शब्दार्थ: फुटोला = पटोर, रेशमी वस्त्र। धज = टुकड़ा, चिथड़े। कामलड़ी = कम्बल, योगियों के वस्त्र।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि मैं परमात्म-विरह में उस मनोदशा को प्राप्त कर चुका हूँ जिस में कुछ भी अच्छा नहीं लगता। इसलिए ही मैं अपने रेशमी वस्त्र को फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर देना चाहता हूँ। अर्थात् भोग विलास की सारी सामग्री को त्याग देना चाहता हूँ और काली कम्बली पहना चाहता हूँ। अर्थात् उन वेशों को धारण करना चाहता हूँ जिनसे परम प्रिय प्रभु प्राप्त हो।

विशेष :

1. फुटोला, शब्द शं गारी का व्यंजक है। लौकिक शं गार के समस्त साधनों की व्यर्थता व्यंजित होती है। सभी निरर्थक है। अतः प्रियतम के मिलन में जो सहायक नहीं है उससे मोह रखना स्वयं से धोखे में रखने के समान है। काली कम्बली पहनने से अभिप्रायः सव्यं (अंह) को पूर्णतः समाप्त करना है। तभी ईश्वानुभूति संभव है।

**नैन हमारे जलि गये, धिन धिन लोड़े तुझ।
नाँ तूँ मिलै न मैं खुसी, ऐसी बेदन मुझ।।४२।।**

शब्दार्थ: लोड़े = लोर, आँसू।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं हे प्रभु! मेरे ये नेत्र क्षण-क्षण आपको ढूँढते रहते हैं और आपको ढूँढते-ढूँढते मेरे नेत्र जल गये हैं। फिर भी न तो आप मिले और न ही मुझे सुख की प्राप्ति हुई। इस कारण मुझे बड़ी तीव्र वेदना हो रही है।

विशेष :

1. पूरी साखी में अतिशयोक्ति अलंकार है।
2. लोड़े -संस्कृत के लोडन संबंधित है, जिसका अर्थ इधर-उधर चलना या लुड़कना होता है।

**भेला पाया श्रम साँ, भौसागर के माँह।
जे छाँड़ी तो डूबिहीं; गहाँ त दुसिये बाँह।।४३।।**

शब्दार्थ: भेला = एक प्रकार की नाव, बेड़ा।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं मैंने अत्यंत साधन श्रम पूर्वक इस संसार रूपी सागर को पार करने के लिए राम-विरह रूपी बेड़ा (नाँव) प्राप्त किया है। अगर इस विरह बेड़े को पकड़े रखता हूँ तो यह निरंतर पीड़ित करता रहेगा और यदि इसे छोड़ता हूँ तो संसार रूपी सागर में ही डूब जाऊँगा।

विशेष :

1. प्रस्तुत दोहे में श्रम की जगह 'सरप' शब्द भी मिला है। जिसके अनुसार अर्थ होगा-यह बेड़ा एक ऐसे सर्प के समान है जो विषय वासना युक्त सांसारिक जीवन को डस लेता है।
2. इस साखी में 'गहौ त डसिये बांह' में सुन्दर व्यंजना यह है कि ईश्वरानुराग बहुत टेढ़ी खीर है। इसके बिना भवसागर पार नहीं किया जा सकता। इसे ग्रहण करने पर विषयानुराग त्यागना पड़ता है।
3. 'डसिये' क्रिया के द्वारा सर्प का बिम्ब भी जुड़ जाता है, जो इसके पीड़क पक्ष को उभारता है।
4. डॉ० पारसनाथ तिवारी ने श्रम को 'सरप' या 'क्षप' रूप में पढ़ा है।
5. सांगरूपक अलंकार हे।

रैणा दूर बिछोहिया, रहु रे संषम झूरि।

देवलि देवलि घाहड़ी, पेसी ऊगे सूरि।।४४।।

शब्दार्थ: रैणा = रात। बिछोहिया = बिछुड़ गया। संषम = शंख। झूरि = संपत्प, चिंतित, सूखा। देवलि = देवालय, मन्दिर। घाहड़ी = दौड़ना। देसी = दिखाई देगा।

भावार्थ : यहाँ खंख को जीव, रात्रि को अज्ञान और सूर्य को ज्ञान के प्रतीक रूप में देखा गया है। कबीर दास जी कहते हैं कि हे जीव रंख रूपी जीव! अभी अज्ञान की रात्रि है, बिछुड़ा हुआ प्रिय (प्रभु) दूर है अतः उसके विरह में झुलसते रहो, सुखते रहो, जब प्रभु की कृपा से पूर्ण ज्ञान का सूर्योदय होगा, तब तुत विरह में व्याकुल होकर प्रत्येक मन्दिर के सम्मुख रोते चिल्लाते फिरोंगे।

विशेष :

1. घाहड़ी से तात्पर्य रोना-चिल्लाना, धाड मारना है।
2. डॉ० पारसनाथ तिवारी स्वीकृत पाठानुसार अर्थ होगा-माया रूपी रात्री ने ही आत्मा को परमात्मा से प थक् किया है, इसलिए है शंखरूपी जीव तू दुःखी मत होता रह, क्योंकि ज्ञान का सूर्योदय होने पर तू प्रत्येक मन्दिर में विरहाभिभूत हो रोयेगा ही।

सुखिया सब संसार है, खार्यँ अरु सोवै।

दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै ।।४५।।

शब्दार्थ: खार्यँ = खाते हैं। सोवै = सोते हैं। जागै = जागता है। रोवै = रोता है।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि सारे संसार के व्यक्ति निश्चिन्त हैं, सुखी हैं, खाते-पीते हैं और सुखपूर्वक सोते हैं, दुखीर तो दास कबीर है, जिनकी अनुभूतियाँ इतनी तीव्र हैं कि चैन नहीं लेने देती, जिनकी विरह-वेदना आँख नहीं लगने देती, वह तो जागता रहता है, रोता रहता है।

विशेष :

1. भौतिक सुखान्वेशी सम्पूर्ण संसार ऊपर से प्रसन्न दिखाई देता है, वास्तव में वह जीवेन को व्यर्थ गंवा रहा होता है। कमाना खाना और सोना ही उसका ध्येय है। जबकि साधक (कबीर) जागता भी रहता है और दुःखी भी। अर्थात् जागरणवस्था, चैतन्यावस्था बैचेनी-दुःख का कारण है। ज्ञान दुःख का कारण है। भौतिक दुःखों के साथ-साथ विरहाग्नि भी तड़फाती है। परन्तु साधक दुःखी रहकर भी इसी में अनुरक्त रहना चाहता है।

४. ग्यान बिरह कौ अंग

“ग्यान बिरह कौ अंग” में ज्ञानयुक्त विरह का वर्णन है। यह विरह रागात्मक विरह से श्रेयस्कर और प्रबल होता है। संकलित साखियों में बिरह के साथ-साथ ज्ञान का व्यंजनात्मक प्रस्तुतीकरण हुआ है। यहाँ प्रत्येक साखी में विरह ज्ञान इस प्रकार सम्पन्न है कि उनमें किसी एक की प्रमुखता निश्चित नहीं की जा सकती। अतः यहाँ ज्ञान जो शुद्ध दार्शनिक विषय है और विरह जो भावात्मक संदर्भ है दोनों का मिश्रण करके जिन साखियों को रचित किया गया है, वह ग्यान-बिरह कौ अंग में स्थान पा गई। दर्शन करोरा शुष्क विषय है; बिरह भावों से जुड़ा है। दार्शनिक विषयों को भावों से युक्त करके रचित साखियाँ तत्त्व ज्ञान की बात को आसानी से हृदयगम करा जाती है। सम्भवतः इसी आधार पर कबीर को वही कहना पड़ा है कि-

**जिन तुम जान्यौ गीत है,
सो निज ब्रह्म विचार।।**

यहाँ ब्रह्म विचार विरह सम्प्रकृत होकर अभिव्यक्ति पाता है।

**दीपक पावक आणिया, तेल भी आण्या संग।
तीन्यू मिलि करि जोइया, (तब) उड़ि उड़ि पड़ै पतंग।। १।।**

शब्दार्थ: दीपक = दीया (शरीर)। पावक = अग्नि (ज्ञान ज्योति)। आणिया = ले आया। तेल = स्नेह (प्रेम)। जोइया = योजित किया (युक्त किया)। पतंग = विषय वासना।

भावार्थ : ज्याति के लिए दीपक, आग और तेल की आवश्यकता होती है। अतः जीव में ज्ञान रूपी प्रकाश के लिए जब गुरु जीव रूपी दीपक, ज्ञान रूपी आग और स्नेह रूपी तेल को योजित कर देता है, तब जीव के विषय वासना रूपी पतंगे उस आग में स्वतः सहज ही आकर समाप्त होने लगते हैं। अर्थात् जीव स्वतः ही शुद्ध-निर्मल होने लगता है।

विशेष :

1. ज्ञान प्रकाश के लिए शुद्धि का प्रकाश-दीपक रूपक सुन्दर, सहज बन पड़ा है।
2. शुद्धिकरण की सहज प्रक्रिया का सहज, लौकिक विवेचन है।
3. सम्पूर्ण पद में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

**मारया है जे मारेगा, बिन सर भोथी भालि।
पड़या पुकारे त्रिछ तरि, अजि मरै के कालिह।। २।।**

शब्दार्थ: सर = अनी (नोक)। भोथी = धूँछी, कोरी, खाली। भालि = भाला। मारा = अपनापन भुलाना।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि गुरु ने कुछ भाले वाले शब्द-बाण से साधक के अहं पर प्रहार किया है। वस्तुतः बाण के अभाव में भी बाण चलाया है। अहंभाव खायेगा (मरेगा) अवश्य, किंतु उसको वही दशा होगी जो उस मनुष्य को होती है जिसको अनि रहित छूँछे भाले की चोट लगती है। वह मरता अवश्य है। किंतु किसी व क्ष के नीचे पड़ा हुआ कराह-कराह कर कई दिन बाद मरता है। ठीक इसी प्रकार जिसमें केवल रागात्मक विरह है, वह भी आपापन खोरेगा किंतु प्रहार के बहुत समय बाद। ‘जिसको ज्ञान संयुक्त विरह का बाण लगा है, वह शीघ्र ही आपनापन खो देगा। मिलन सम्भव हो जायेगा।

विशेष :

1. यहाँ रूपक और विभावना की संसृष्टि है।
2. साधक की मनोदशा और गुरु की महत्ता का सुन्दर पतिपदन हुआ है।

3. मिलन एकत्वानुभूति के लिए शीघ्रातिशीघ्र अहं को समाप्त करने की आवश्यकता पर बल दिया है।
4. 'बिनु सर थोभी थोथी भाल' में ज्ञान विहीन विहर की व्यंजना है।

**हिरदा भीतरि दौं बलै, धूवां प्रगट न होइ।
जाकै लागी सो लखै, कै जिहि लाई सोइ॥३॥**

शब्दार्थ: दौं = दावाग्नि, जंगल जलाने वाली आग, विरह की आग। बलै = जले जलती है। लाई = लगाई। सोइ = वही।

भावार्थ : हृदय के भीतर विरह की आग जलती है, किंतु उसे कोई दूसरा नहीं जान पाता। आग को उसके चिह्न धुआँ से जाना जाता है। विरह को आग में धुआँ नहीं है। अतः इस आग का दूसरा कोई अनुमान नहीं कर सकता। इस आग का तो वही प्रत्यक्ष कर सकता है जिसमें वह लगी हो अथवा वह जानता है जिसने उसे लगाया हो।

विशेष :

1. यहाँ रूपकातिशयोक्ति; विशेषोक्ति, विभावना और व्यतिरेक अलंकार है।
2. विरहाग्नि की विशेषता को दर्शाया गया है।

**झल ऊठी झोली, जली, खपरा फुटिम फूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रहो बिभूत॥४॥**

शब्दार्थ: झल = ज्वाला, आग, ज्ञान-विरह की अग्नि, लपट। झोली = थैली, जिसमें योगी का साधक वस्त्रादि वस्तुएँ रखता है, संचित कर्म। खपरा = खप्पड़, भिक्षापात्र। फुटिम फूटि = टूट-फूट गया। रमि गया = ब्रह्म में मिल गया। आसणि = आसन पर। विभूति = खाक, राख, भस्म।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि जीवन-मुक्ति को प्राप्त करते ही सारी साधना समाप्त हो गई है, साधक सिद्धावस्था को प्राप्त हो गया है। उसका स्थूल शरीर तो अवशिष्ट भस्म के रूप में रह गया है। वस्तु सत्य यह है कि ज्ञान रूपी आग प्रद्वलित हुई, उसमें योगी के सारे संचित कर्मों की झोली जल गयी और भिक्षापात्र भी उसके भीतर जो तत्त्व साधना कर रहा था। वह ब्रह्म में मिल गया। अब उसके आसन पर केवल भस्म रह गई है।

विशेष :

1. ज्ञान रूपी अग्नि से समस्त अच्छे-बुरे कर्मों से मुक्ति मिल जाती है।
2. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

**अगनि जू लागि नीर मैं, कंदू जलिया झारि।
उत्तर दषिण के पंडिता, रहे विचारि बिचारि॥५॥**

शब्दार्थ: अगनि = विरह अग्नि। नीर = जल। कंदू = कर्दम, कोचड़। झारि = सम्पूर्णतया, समूह।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि मानस रूपी मान-सरोवर में ज्ञान-विरह की अग्नि लग गई है। यह आग इतनी तीव्र है कि पानी तो पानी, कीचड़ अर्थात् (वासना) संपूर्ण मनोविकार इस में जल गये हैं। यह कैसे हुआ इस पर दक्षिण और उत्तरमाग्री दोनों प्रकार के पंडित विचार कर रहे हैं। उन्हें कुछ समझ में नहीं आ रहा। क्योंकि यह विशेष सिद्धि उनकी पहुँच के बाहर है।

विशेष :

1. प्रस्तुत साखी उलटवासी होने के कारण विभिन्न विरोधाभासों से युक्त है -जल में आग का लगना, कीचड़ का जलना।

कीचड़ के जलने से एक व्यंजना यह भी है कि कीचड़ जल में सबसे नीचे रहता है, इसी प्रकार मानस के अवचेतन में दूषित विकार रहते हैं यह रहस्य किसी भी शास्त्री, पंडित की समझ से बाहर है।

2. इसमें असंगति अलंकार है।

दौं लागो साइर जल्या, पंषो बैठे आइ।

दाधी देह न पालवै, सतगुर गया लगाइ॥६॥

शब्दार्थ: दौं = दावग्नि, ज्ञान-विरह को अग्नि। साइर = सागर। पंषी = पक्षी। दावाग्नि = दग्ध हुई, जली हुई। देह = शरीर। पालवै = पल्लवित होना, पनपना।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि गुरु ने ज्ञान-विरह की आग लगा दी है, इस आग में विषयों का अनन्त प्रवहमान समुद्र जलकर समाप्त हो गया है। ओर अब सद्वृत्ति के पक्षी गुरु की शरण में बैठे हैं। अब साधक पूर्णरूप से निश्चित हैं क्योंकि अब वह रासनामों से विमुक्त हो गया। उसकी सारी वासनाएँ, दग्ध हो चुकी हैं। अब वह पुनः पल्लवित नहीं हो सकती। अर्थात् यह कि अब मन में विषयों की उत्पत्ति नहीं होगी।

विशेष :

1. अन्योक्ति अलंकार है।
2. ज्ञान से विषय वासनाओं का जलना, ओर ज्ञान रूपी अग्नि के लिए गुरु के लिए गुरु की महत्ता प्रतिपादित हुई है।

गुर दाधा चेला वल्या, बिरहा लागी अगि।

तिणका बपुड़ा ऊबरचा, गलि पूरे कै लागि॥७॥

शब्दार्थ: दाधा = दग्ध किया, जलाया। आगि = अग्नि। तिणका = तण। वपुड़ा = बेचारा। ऊबरचा = उद्धार हो गया। गलि = गले। पूरे = पूर्ण, प्रभु। लागि = लगना।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि गुरु ने शिष्य के मन में ज्ञान-विरह की आग लगा दी है, उस आग में शिष्य जल गया अर्थात् उसके भीतर पूर्ण रूप से विरह की आग प्रबल हो उठी है। साधारणतः आग लगने पर तिनका भस्म हो जाता है। परन्तु विरह की आग ऐसी होती है जिससे शिष्य रूपी तिनके का उद्धार हो जाता है, क्योंकि इस विरह की आग के कारण वह पूर्ण (प्रभु) के गले लग जाता है- उसे सिद्धि मिल जाती है।

विशेष :

1. विरहाग्नि में शिष्य के जलने से अभिप्रायः है, उसका हैत भाव, अहं, अलगपन।
2. विरोधाभास, विशेषोक्ति अलंकार हैं।

आहेड़ी दौं लाइया, म ग पुकारै रोइ।

जा बन में क्रीला करी, दासत हैं बन सोई॥८॥

शब्दार्थ: आहेड़ी = शिकारी, आखेटक। दौं = दावाग्नि, आग, ज्ञान विरह की आग। लाइया = लगाया। म ग = हिरण। क्रीला = क्रीड़ा। दासत = जलाता। वन = जंगल, विषय वन, विषययुक्त मन।

भावार्थ : शिकारी आखेट के लिए वन में आग लगाता है, जिससे म ग अपने स्थान से बाहर निकलते हैं। तब शिकारी उसका शिकार करता है। उस वन को छोड़ने से म गों में यह वेदना उठती है कि जिस वन में वे आनन्दमय जीव व्यतीत करते थे, उनके देखते वही वन जल रहा है। इसी प्रकार साधक-रूपी शिकारी शिष्य के मन-देहात्मक वन में ज्ञान विरह की आग लगता है और वासना में लिप्त जीव (म ग) चिल्ला-चिल्लाकर रोता है कि जिस विषय-वासना रूपी वन में भोग कर रहे थे, वह अब जल रहा है। अर्थात् नष्ट हुआ जा रहा है।

विशेष :

1. अहेरी और म ग दोनों प्रतीकों के प्रयोग में सिद्धों का प्रभाव लक्षित होता है।

**पाणीं माहें प्रजली, मई अप्रबल आगि।
बहती सलिता रहि गई, मंछ रहे जल त्यागि॥६॥**

शब्दार्थ: पाणी = जल। परजली = प्रज्वलित हुई। अप्रबल = प्रबल। सलिता = सरिता, नदी। मंछ = शुद्ध चेतन जीव, मन।

भावार्थ : कबीरदास जी साधनामक रहस्यवाद के क्षेत्र में श्रोता या पाठक को ले जाते हुए कहते हैं कि गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान-विरह की अग्नि के प्रभाव से मूलाधार स्थित चण्डाग्नि प्रज्वलित हो गई है, यह ऊर्ध्वमुख होने से नाड़ियों के प्रवाह रूपी जल में लग गई है, इसका परिणाम यह हुआ है कि इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना रूपी नदियों का प्रवाह रुक गया है तथ कुंडलिनी रूपी मछली जल त्याग कर सहस्त्रार में पहुँच गई है।

विशेष :

1. इस साखी में सिद्धों-नाथों के रूढ़ प्रतीकों का प्रयोग दृष्ट्य है -इड़ा-पिंगला, सुषुम्ना, कुण्डलिनी आदि ऐसे ही प्रयोग हैं जिनका सरहपाद, गोरखनाथ आदि सिद्धों ने अपनी साधना-पद्धतियों में बहु-प्रयोग किया है। कबीर द्वारा इनका प्रयोग निर्गुण साहित्य -कबीर पर इन के प्रभाव को सिद्ध करता है।

**संमंदर लागी आगि, नदियाँ जलि कोइला भई।
देखि कबीरा जागिं, मंछी रूषां चढ़ि गई॥ १०॥**

शब्दार्थ: संमंदर = सागर। नदियाँ = इन्द्रियाँ। मंछी = जीवात्मका। रूसा = वक्ष।

भावार्थ : विषयासक्त मानस में ज्ञान-विरह की आग लग गई, फलतः नदी रूपी इन्द्रियाद्र थी, जो कि विषयों को लाकर मानस-सागर में प्रविष्ट करती हैं, उस मानस-सागर के जलने पर, स्वयं जलकर भसम होगई। कबीर कहते हैं कि सचेत होकर देख, जीवात्मा अब सहस्त्रदल कमल पर पहुँच गया अर्थात् उसका ब्रह्म से मिलन हो गया। उसकी भौतिकता नष्ट हो गई।

विशेष :

1. प्रस्तुत साखी में भी नाथों-सिद्धों द्वारा प्रयुक्त रूढ़ प्रतीकों का प्रयोग हुआ है-समुद्र और अग्नि उन्हीं के प्रतीक हैं नाभि में वह सूर्य, शक्ति और रज को मानते हैं तथा सकार में चन्द्र, शिख या बिन्दु को। यही नाभि मूलाधार चर से अभिन्न मान ली गई है। इसी आधार पर कबीर ने समुद्र में आग लगने की बात कही है।
2. विरोधाभास अलंकार है।

5. 'परचा को अंग'

“परचा” से अभिप्राय है जीव की पहचान, परिचय। यह कबीर के सिद्धान्तों के अध्ययन के लिए अन्य सभी अंगों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें कबीर से पूर्व प्रचलित सभी सम्प्रदायों का प्रभाव परिलक्षित होता है। सीधे तौर पर सिद्ध-नाथों के विभिन्न प्रतीकों और मान्यताओं का उपयोग इस अंग की विभिन्न साखियों में मिलता है। कबीर वाणी वैसे भी शास्त्रानुमोदिन न होकर अनुभवगम्य है। समाज में प्रचलित विभिन्न पद्धतियों के तत्त्व और व्यावहारिक रूप को पहचान -समझ कर कबीर ने जीव का जो परिचय प्राप्त, अनुभव किया, उसी को रूप प्रचलित प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया। सुरति, निरंति, रचंम (शंभु) शिव-शक्ति आदि प्रतीकों पर स्पष्ट तौर पर नाथों का प्रभाव है। कबीर ने नाथों -सिद्धों के अतिरिक्त वैष्णवों की मानसी पूजा को भी अपनाया है। वस्तुतः कबीर ने 'सार-सार की गही दिया, भोथा दिया उडाए' सिद्धान्त के परिष्कृत, विशुद्ध, व्यावहारिक रूप पर बल दिया है। 'परचा को अंग' में भी इसी प्रकार का विधान है।

**कबीर तेज अनंत का, मानों ऊगी सूरज सेणि।
पति सँगि जागी सुन्दरी, कौतिग दीढा तेणि॥१॥**

शब्दार्थ: अनंत = परम ज्योति, प्रभु परमात्मा। सेणि = क्षणी-पंक्तिबद्ध। कौतुग = रहस्य। तेणि = उसके द्वारा।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि परमात्मा -अनुभूति (परिचय) के समय उनका ऐसा तेज दिखाई देता है मानों श्रेणीबद्ध सूर्य उदित हुए हों। यह तेज सभी को दिखाई न देकर आत्मारूपी सुन्दरी, जो प्रिय पति के साथ रही होती है, को ही दिखाई देता है। अर्थात् उस जीव को ही दिखाई देता है जो मोह-निद्रा में सोया नहीं रहता, परमात्मा के साथ जागता रहता है, उसी आत्मारूपी सुन्दरी को यह रहस्य दिखाई देता है।

टिप्पणी: प्रत्येक जीव तीन अवस्थाओं में रहता है- जाग्रत्, स्वप्न, और सुषुप्ति। जाग्रत् अवस्था में उसको स्थूल जगत् का बोध होता रहता है। उसमें मन, बुद्धि अहंकार पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ और पंच-प्राण कार्य करते रहते हैं। स्वप्नावस्था में स्थूल जगत् का बोध नहीं रहता, केवल संस्कार जन्य कल्पना का ही समावेश हो पाता है। स्वप्नावस्था में कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का कार्य बन्द हो जाता है, केवल मन, बुद्धि अहंकार कार्यशील रहते हैं। सुषुप्ति अवस्था में मन का कार्य भी बंद हो जाता है, सत्त्व और रज भी दब जाते हैं, केवल तमस् का प्राबल्य रहता है। अतः इस अवस्था में जीव प्रगाढ़ निद्रा में पड़ जाता है। इन तीनों अवस्थाओं की पृष्ठभूमि, में एक ऐसी अवस्था है जो अनन्त ज्योति आत्मा की अवस्था है। इसमें कभी निद्रा नहीं होती। यह तीनों अवस्थाओं की साक्षी होती है। इसी ज्योति को कबीर ने 'अनन्त की ज्योति कहा है। जिस जीव को आत्मा का बोध नहीं रहता, वह जाग्रत् अवस्था में भी मोह निद्रा में पड़ा रहता है जगत् के सभी प्राणी इसी मोह-निद्रा में हैं। जिनको तुरीय या आत्मा का बोध बना रहता है, वे सदा जाग्रत् हैं।

कबीर ने इस तथ्य को विवर्च साखी में स्पष्ट किया है। जिनको तुरीयावस्था का परिचय हो जाता है, वे सभी अवस्थाओं में जाग्रत् रहते हैं-यही 'पति संग जागी सुन्दरी' है। अर्थात् आत्मा के साथ जो जीव जागता रहता है, वही इस आनन्दमय रहस्य का अनुभव करता है।

विशेष :

1. रूपकातिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग अन्तिम पंक्ति में है।
2. सुन्दरी जीव का प्रतीक है।
3. 'पति' तुरीय साक्षि-चैतन्य के लिए प्रयुक्त हुआ है।
4. 'दीढा तेणि' प्राचीन हिंदी का कर्मवाच्य प्रयोग है। जिसका अर्थ है-उसके द्वारा देखा गया।

5. मानो उगी सूख सेणि में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

**कौतिग दीठा देह बिन, रबि ससि बिना उजास।
साहिब सेवा माँहि है, बेपरवाँही दास।।२।।**

शब्दार्थ: अजास = प्रकाश, उजाला। माँहि = भीतर। बेपरवाँही = निश्चिन्ता।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि परमात्मा से परिचय के समय दृष्टा एवं दृश्य दोनों ही अशरीरी हैं, किंतु कौतूहल सनक के अभाव में भी उस समय परम प्रकाश जगमगता रहा है, निश्चित बना सेवक स्वामी को सेवा में लग गया है, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि भक्त के योग-क्षेम का वहन करने वाला स्वामी ही सेवक के कार्यों का सम्पादन करता हुआ सेवा में रत हो गया है और बेपरवा पड़ा हुआ है-चिन्ताविनिर्मुक्त है।

विशेष :

1. परमात्मा अशरीरी होते हुए भी द्रश्यमान है। अनुभूतिगम्य है।
2. अदृश्य को दृश्य करके साधक उसके सौंदर्य कृपा पर मुग्ध होकर उसकी सेवा में रत हो जाता है। भाव उसमें निमग्न हो जाता है।
3. ऐसा भक्त निश्चित होकर जीवन लाभ प्राप्त करता है।

पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।

कहिवे कूँ सोभा नहीं देख्याही परवान।।३।।

शब्दार्थ: उनमान = अनुमान। परमान = प्रमाण।

भावार्थ : पारब्रह्म परमात्मा का प्रकाश कैसा और कितना है उसका पता अनुमान से नहीं लग सकता है। इस प्रकार शोभा कहना कठिन है। क्योंकि अनुमान, प्रत्यक्ष उपमान आदि साधन तो लौकिक या मायिक जगत् के हैं। और परमात्मा का साक्षात्कार ऐसे किसी भी साधनों के क्षेत्र में नहीं है। उसका सौंदर्य अनिर्वचनीय है। देखनेवाला ही इसका प्रमाण पा सकता है। यह शास्त्र नहीं आत्मानुभूति का विषय है।

विशेष :

1. ईश्वरीय आभास लौकिक उपमानों की सीमा में नहीं आता।
2. शास्त्रानुमोदित प्रमाण के-अनुमान प्रत्यक्ष, सम्भावना आदि सिद्धान्तों द्वारा उसका आभास नहीं हो सकता।
3. अनुभूति-अनिर्वचनीय बोध ही उसका प्रमाण है।

अगम अगोचर गमि नहीं, तहाँ जगमगै जोति।

जहाँ कबीरा बंदिगी, 'तहाँ' पाप पुन्य नहीं छोति।।४।।

शब्दार्थ: अगम = पहुँच के बहार। अगोचर = इन्द्रियातीत। गमि = पहुँच। जगमगै = प्रकाशित हो रही है। बन्दगी = प्रणत। छोति = छूत, स्पर्श।

भावार्थ : पारब्रह्म अगम है। इंद्रियों के परे है। वह किसी प्रकार (प्राप्त) (गमन) नहीं किया जा सकता है। वहाँ अखंड अनन्त का प्रकाश जगमगा रहा है। वहाँ किसी भी मायिक या लौकिक साधन का प्रवेश नहीं है। जिस परम अखंड अनंज ज्याति के सामने कबीर प्रणत हैं वह पाप-पुण्य से भी परे हैं। पाप-पुण्य तो अहं को लेकर होता है। वह अहं से परे है। वहाँ छुआछुत कुछ भी नहीं है। वह तो संसार की सभी अनुभूतियों से भिन्न है। उसका जो साक्षात्कार करता है, वह भी सांसारिक अनुभूतियों से परे हो जाता है।

विशेष :

1. परम तत्त्व के इन्द्रियातीत स्वरूप का वर्णन है।
2. जीव उस ज्योति के साक्षात्कार से पाप-पुण्य को त्याग कर निर्मल और समता को प्राप्त हो जाता है।

हदे छाड़ि बेहदि गया, हुवा निरंतर बास।

कवल ज फूल्या फूल बिन, को निरबै निज दास।।५।।

शब्दार्थ: पहदे = सीमा, ससीम। बेहदि = असीम। निरन्तर = शाश्वत, देश-काल के व्यवधान से रहित।

भावार्थ : परमात्मा से परिचय क्या हुआ, सारी सीमाओं का परित्याग कर साधन असीम में पहुँच गया। अर्थात् साधक द श्य प्रपंच से मुक्त होकर अनन्त ब्रह्म में जा मिला। और वही उसका स्थायी निवास हो गया। यह परिचय की अवस्था अद्भूत है, आत्मा रूप कमल-सहस्रार रूप कमल-फूल न होते हुए खिल उठा है, इस तथ्य का साक्षात्कार आत्मदास ही कर सकता है अर्थात् आत्मा का सच्चा सेवक ही ऐसा करने में सफल होता है।

विशेष :

1. ईश्वरीय ज्ञान से दिव्य ज्योति का आभास होता है।
2. इसके लिए भक्ति अनिवार्य है।
3. विरोधाभास तथा विभावना अलंकार है।

कबीर मन मधुकर भया, रहना निरंतर बास।

कवल ज फूल्या जलह बिन, को देखै निज दास।।६।।

शब्दार्थ: मधुकर = भ्रमर। भया = बन गया, हो गया। जलह = जल। देखै = देखता है। दास-भक्त, शिष्य।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि 'परचा' की अवस्था परमानन्द की अवस्था है। इस अवस्था में मेरा मन मधुकर (भ्रमर) बनकर निर्गुण-निराकार ब्रह्म (कमल) में इस खिले हुए कमल को आत्मा के सच्चे सेवक, साधक के अतिरिक्त कौन देख सकता है? अर्थात् इस कमल को भक्त के बिना और कोई नहीं देख सकता है।

विशेष :

1. साखी में प्रयुक्त 'को' के दो अर्थ हो सकते हैं-
(क) कौन देख सकता है?
(ख) कोई प्रभु का दास ही देख सकता है।
दोनों का भाव एक ही है।
2. रूपक और विभावना अलंकार है।

अंतर कवल प्रकासिया, ब्रक्ता बास तहाँ होइ।

मन भवर तहाँ लुबधिया, जाँणैगा जन कोइ।।७।।

शब्दार्थ: प्रकासिया = प्रकाशित हो रहा है। वास= निवास लुबधिया = लुब्ध हो गया। जन = भक्त, साधक।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि हृदय के भीतर कमल प्रकाशित हो रहा है। उसमें ब्रक्त का वास-स्थान बना हुआ है। इस कमल पर मन रूपी भ्रमर लुब्ध हो गया है, इस रहस्यमय अनुभूति को कोई भगवान् का भक्त ही प्राप्त कर सकता है।

विशेष :

1. कबीर में आत्मा के रूप में ब्रह्म के साक्षात्कार का सुन्दर चित्र अंकित किया है।
2. 'कवैल' शब्द से यहाँ अभिप्रायः सहस्त्रार कमल न होकर भीतर प्रकाशित होने वाली ज्योति है। रम ज्योति को छंदोग्य उपनिषद् में दहर (सूक्ष्म) विद्या कहा गया है। (Diaphraghs)
3. उदा को वक्ष स्थल से पथक् करने वाली पेशी के नीचे छोटा सा गर्त है, उसके अन्तर में कमल आकार का सूक्ष्म वेश (Space) है। उसके भी भीतर एक सूक्ष्म आकाश है। वहाँ एक अद्भूत ज्योति दहकती रहती है। उसी को कबीर ने 'अन्तर कैवल प्रकाशिया' कहा है। यही कमल फूल और नीर बिना विकसित होता है।
4. यहाँ रूपकातिशयोक्ति तथा रूपक की संसृष्टि है।

सायर नाहीं सीप बिन, स्वाति बूँद भी नाहिं।

कबीर मोती नीपजै, सुन्नि सिषर गढ मॉहि॥८॥

शब्दार्थ: सायर = सागर। मोती = प्रकाश। नीपजै = उत्पन्न होता है। सुन्नि सिषर = सहस्त्रार। गढ मॉहि = शरी के भीतर।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि वहाँ न तो सागर है न सीप है और न स्वाति-बूँद अर्थात् मोती से उत्पन्न होने के जितने अपेक्षित कारण हैं, उनमें से एक भी विद्यमान नहीं है, फिर भी इस शरीर के भीतर शून्य शिखर अर्थात् सहस्त्रार में मोती उत्पन्न हो रहा है अर्थात् एक अद्भूत ज्योति का दशन हो रहा है। भाव यह कि जब कुण्डलिनी उत्थित होकर सहस्त्रार में मिलती है, तब ज्योति का साक्षात्कार होता है।

विशेष :

1. नार्थों सिद्धों के शून्य, शिखर, गढ आदि प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।
2. विरोधाभास अलंकार है।

घट मॉहे औघट लहना, औँघट माहें घाट।

कहि कबीर परचा भया, गुरु दिखाई बाट॥९॥

शब्दार्थ: घट = शरीर। औँघट = विकट मार्ग। छाट = लक्ष्य, गन्तव्य स्थान। बाट = मार्ग।

भावार्थ : कबीर दास जी कहते हैं कि गुरु ने मार्ग दर्शन किया। फलस्वरूप इस शरीर में ही मैंने एक विकट मार्ग का अनुभव किया और उस विकट मार्ग से ही घाट अर्थात् अपने लक्ष्य को प्राप्त किया। वहाँ मुझे सत्य का साक्षात्कार हुआ।

विशेष :

1. अवघर घाट में कुण्डलिनी के जागरण का संकेत है, जो कि मूलाधार चस से ऊपर उठकर अनय चक्रों का भेदन करते हुए सहस्त्रार में जा मिलती है। वहाँ सत्य का साक्षात्कार होता है। यह विकट मार्ग है, जो कि गुरु के निर्देशन से ही पार किया जा सकता है। मूलधार चक्र भौतिक जगत् है। सहस्त्रार कमल आध्यात्मिक जगत् है। उसमें से आत्मज्ञान की ज्योति निकला करती है।
2. यहाँ विरोधाभास अलंकार है।

सूर समांणीं चंद में, दहूँ किया घर एक।

मनका चंता तब भया, कछू पूरबला लेख॥१०॥

शब्दार्थ: सूर = सूर्य, सूर्य नाड़ी, पिंगला नाड़ी, दाहिनी नाड़ी। चँद = चन्द्र नाड़ी, इडा, बायीं नाड़ी। दहूँ = दोनों। घर एक = सुषुम्ना नाड़ी।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं जब योग की प्रक्रिया द्वारा सूर्य नाड़ी (पिंगला) चन्द्र नाडरी (इडा) में समा जाती है अर्थात् इडा-गिला दोनों जब सुषुम्ना में मिल जाती है, तब मन का वाञ्छित फल मिल जाता है। यह पूर्व जन्म के पुण्य का ही परिणाम है।

विशेष :

1. सिद्धो-नाथों के रूप प्रतीक सूर्य-चन्द्र का प्रयोग हुआ है। इनके मिलने या समान स्थिति में ही परमसिद्धि मानी गई है।
2. दाहिनी ओर पिंगला (सूर्य) तथा बायीं ओर इडा (चन्द्र) नाड़ी स्थित होती है, जो क्रमशः पान-अपना को वहन करती है सुषुम्ना में उदान वायु का प्रवाह होता है। इसी से कुण्डलिनी जाग्रत् होती है।

हृद छाड़ि बेहद गया, किया सुनि असनान।

मुनि जन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम।।११।।

शब्दार्थ: हृद = सीमा। बेहद = असीम। सुनि = शून्य।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि मेरा साधक मन शरीर और संसार कीसीमाओं को पार करके शून्य के सागर में पहुंचकर स्नान कर रहा है, सारी सीमायें समाप्त हो गई हैं; यह शून्य का महल भी कहा जा सकता है, जो इतना अद्भूत है कि मुनियों को भी इसमें स्थान नहीं मिलता; किंतु मैं यही विश्राम कर रहा हूँ

विशेष :

1. ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर शून्य शिखर है। इस साखी में उसी की ओर संकेत है।
2. शून्य शब्द के इन साखियों में आकाश, पोपला या खोखला मार्ग अर्थ हो सकते हैं। इसके भीतर कोई आकार नहीं होता, सुषुम्ना पथ को शून्य पथ भी कहते हैं। चन्द्र-सूर्य नाड़ी के तुल्य बल हुए बिना यह शून्य पथ उनमुक्त नहीं होता। यहाँ इतना ही पर्याप्त है कि कुण्डलिनी ऊपर की ओर शून्य पथ का भेदन करती हुई शीर्ष के ऊपर वाले ब्रह्मरन्ध्र पर स्थिज्ञत सहस्त्रार में जा मिलती है। इस मिलनावस्था को कबीर 'सुनि शिखर' नाम से अभिहित करते हैं।
3. ध्यातव्य है कि सुषुम्ना मेरुदण्ड में स्थित होकर भी मेरुदण्ड से भिन्न है, क्योंकि यह स्थूल शरीर न होकर प्राणभय कोष में सूक्ष्म शरीर है।
4. यहाँ नाड़ी शब्द भी स्थूल नाड़ी का पर्याय नहीं है यह प्राणमय कोष में एक सूक्ष्म पथ है, जिसमें से प्राण-अयान-उदान आदि का प्रवाह होता रहता है।
5. प्रतीकात्मक प्रयोग तथा संबन्धातिशयोक्ति द्रष्टव्य है।

देखौ कर्म कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख।

जाका महल न मुनि लहै, सो दोसत किया अलेख।।४।।१२

शब्दार्थ: दोसत = मित्र, प्रिय। अलेख = अलक्ष्य, निराकार।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं यह किसी पूर्व जन्म के दुष्य का परिणाम है कि ये अद्भूत कर्म मुझ से पूर्ण हो गया। जिस स्थान को बड़े-बड़े मुनि नहीं प्राप्त कर सके; उस अलक्ष्य, निराकार हरि को मैंने मित्र बना लिया।

विशेष :

1. हिन्दू दर्शन के अनुरूप पुनर्जन्म की स्वीकृति है।
2. व्यतिरेक संबन्धातिशयोक्ति अलंकार है।

पिंजर प्रेम प्रकासियाँ, जाग्या जोग अनंत।

संसा खुटा सुख भयो, मित्या पियारा कंत ॥१३॥

शब्दार्थ: पिंजर = शरीर। प्रकासिता = प्रकाशित हुआ। जाग्या = जगमगाना। संसा = संशय। खुटा = नष्ट हुआ, समाप्त हुआ। कंत = प्रभु।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि पिंजरे रूपी शरीर में प्रेम का प्रकाश हुआ और अनन्त ज्योति जगमगा उठी। सारा शरीर प्रेम से सजीव व सुन्दर बन गया है। परमतत्त्व के विषय में जो कुछ भी सन्देह था, वह नष्ट हो गया और अपने प्रभु से मिलन हो गया।

विशेष :

1. आत्म बोध होने पर आनन्दावस्था का वर्णन है।
2. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।
3. 'जाग्या जोग अनन्त' का अर्थ अनन्त के साथ सोल जीव का मिलन प्रकट हो गया, भी हो सकता है।

प्यंजर प्रेम प्रकासिया, अंतरि भेया उजास।

मुख कसतूरी मुहमुहीं, बाणी फुटी बास ॥१४॥

शब्दार्थ: अंतरि = हृदय में, भीतर। उजास = प्रकाश। मुख = मुख में। मुहमुहीं = सुगन्ध करने लगी।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि प्रभु मिलन से तन प्रेम की ज्योति से जगमगा उठा है, अन्तरमन तक ज्योति का प्रकाश छा गया है। ऐसा लगता है कि मुख में कस्तुरी बस गई है और वाणी में वही प्रेम-कस्तुरिका पराग-सी फैल रही है-सबको मुग्ध कर रही है।

विशेष :

1. महमर्डी (सुगंध) एक लाक्षणिक प्रयोग है। भगवान का साक्षात्कार होने पर जीव का प्रत्येक शब्द प्रेम-रस-सिक्त और सुवासित हो उठता है। इसी कोकबीर ने 'कसतूरी', 'महभही' द्वारा व्यक्त किया है।
2. द्रष्टांत अलंकार से प्रेम दशा अत्यंत प्रभावशाली रूप में व्यंजित हुई है।

मन लागा उनमन्न सौं, गगन पहुँचा जाइ।

देरव्या चंदबिहूणां, चाँदिणाँ, तहां अलख निरंजन राइ ॥१५॥

शब्दार्थ: गगन = सहस्रत्रार। देरव्या = देखा। बिहूणां = हिहीन, रहित। चाँदिणां = चांदनी, प्रकाश। अलख = अलक्ष्य, जो दिखाई न दे। निरंजन = कालिमा रहित, अव्यक्त।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि मेरे मन उन्मनी अवस्था में पहुँच गया है अर्थात् निर्विकल्प समाधि या शून्य अवस्था रूपी गगन में पहुँच गया है। और परमात्मा से मिल गया है। वहाँ मैं एक विचित्र प्रकाश का अनुभव किया जो कि बिना चन्द्रमा के ही चाँदनी जैसा शीतल और स्निग्ध है। मैंने वहीं उस निर्गुण, निराकार सत्ता का साक्षात्कार किया है जो कि स्थल इन्द्रियों का पहुँच से परे है, जो अलक्ष्य है।

विशेष :

1. गगन सिद्धों-नाथों का रूढ़ प्रती है, निरंजन का प्रयोग भी गोरखनाथ ने किया है। अर्थ है गुणतीत, निर्गुण सत्ता के लिए प्रयुक्त हुआ है।

2. विभावना अलंकार है।

मन लागा उन मन सौं, उनमन मनहि बिलग।

लूँण विलगा पाणियाँ, पाँणी लूँणा बिलगा।।१६।।

शब्दार्थ: उन मन = प्रभु का मन। बिलग = भली प्रकार लग गया, विशेष लगन, अधिक लगना। लूँण, नमक।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि मेरे संकल्प-विकल्पात्मक मन ने अपना स्वभाव छोड़ दिया और भगवान में मन उसी प्रकार से लीन हो गया जैसे नमक और जल मिलकर एक हो जाते हैं।

विशेष :

1. उनमन शब्द को कबीर ने विशेष अर्थ में प्रयोग किया है-उनका मन -(प्रभु) अर्थात् चेतना।
2. मन की संकल्प-विकल्पात्मक भाव स्थिति सांसारिक स्थिति है। जब इससे ऊपर, लिवग होती है तथा ईश्वरान्मुख हो सकता है।
3. द ष्टांत अलंकार है।

पाँणी ही तैं हिम भया, हिम है गया बिलाइ।

जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कह्या न जाई।।१७।।

शब्दार्थ: पाँणी = पानी; जल। हि = बर्फ। गया = हो गया। बिलाइ = विलीन हो जाना।

भावार्थ : कबीरदास जी प्रभु से परिचित होने की अद्भूत दशा का समझाते हुए कह रहे हैं कि परम तत्त्व रूपी जल हो हिम रूपी साधक बना था, अब वह हिम गलकर विलुप्त हो गया है-पानी रूपी परम तत्त्व में परिणित हो गया है। वस्तुतः यह, वह जो पहले था वही हो गया है, अब उसकी स्थिति का वर्णन सम्भव नहीं हैं।

विशेष :

1. एक तो तत्त्व की दो अवस्थाएँ तरल और ठोस। मानव के भीतर जो साक्षि चैतन्य है वह पानी के समान है। वही चिन्मात्र अन्तःकरण से परिसीमित होकर चिदाभास अर्थात् जीव का रूप धारण करता है।
2. चिदाभाण वर्फ के समान है, स्थूल है। यही पिघल कर पानी बन जाता है। इसी प्रकार जीव ब्रह्म के रूप में आ जाता है।
3. मन के इस रूपांतरण को गोड् पादाचार्य ने 'अमनी भाव' कहा है।

भली भई जु भै पड्या, गई दशा सब भूलि।

पाला गलि पाँणी भया, तुलि मिलिया उस कूलि।।१८।।

शब्दार्थ: जु = जो। भै = भय। दशा = सांसारिक दशा, जीव दशा। शरीर की छह दशाएँ हैं -जन्म, वृद्धि, परिणति, अपक्षय, व्याधि और नाश (इन्हें षड् विकार भी कहते हैं)। पाला = बर्फ। कूलि = किनारा, प्रभु।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं क अच्छा हुआ मुझ भविष्य का भय हुआ। यमदंड का भय हुआ। जन्म-मृत्यु के चक्र का भय हुआ। फलतः मैं अपनी सांसारिक दशा (छह दशाओं) को भूल गया। बर्फ जैसी मेरी जड़ता (देहात्मक बुद्धि) समाप्त हो गयी है और जैसे बर्फ गलकर पानी हो जाती है। और लुढ़क कर किनारे के जल से मिल जाती है वैसी ही मेरी जड़ता समाप्त होने के बाद मैं भी परमात्मा से मिल गया। परमात्मा ही संपूर्ण सृष्टि का किनारा है।

विशेष :

1. बर्फ का पिघल कर पानी बनना, सांसारिकता को भूलाकर मूल-स्वरूप को प्राप्त करना है।
2. यहाँ जीव का दृष्टांत हिम से दिया गया है और कूल का दृष्टांत प्रभु से अतः दृष्टांत अलंकार है।

चोहटे च्यंता मणि चढी, हाडी मारत हाथि।

मीरां मुझसूँ मिहर करि, इब मिलौं न काहू साथि।।१६।।

शब्दार्थ: चौहटे = चौरस्ता, इडा पिंगला, सुषुम्ना का संगमस्थल, यह दोनों भौहों के मध्य का स्थान है जिसे त्रिकुटी कहते हैं। पंतामणि = सभी कल्पनाओं को पूर्ण करने वाला कल्पित मणि, ब्रह्म साक्षात्कार। मीराँ = मेरे मालिक। मिहर = दया, करुणा। इब = अब। हाडी = डाकू।

भावार्थ : मैं बाजार जा रहा था, वहाँ चौरस्ते पर चिंतामणि मिल गया, परन्तु पास में खड़ हुए डाकू हाथ मारने लगे। हे दयालु। मेरे ऊपर दया करो। मैं इन सबों के चक्कर में न पड़ सकुं।

अर्थात् जीवन यात्रा में मैं उस चौरस्ते पर पहुंच गया हूँ जहाँ प्रभु से मिलन हो गया है। परन्तु भीतर स्थित काम, क्रोध, मोह, आदि डाकू मेरी उस अमूल्य निधि को झपट्टा मारकर छीन लेना चाहते हैं। हे दयालु प्रभु। मेरे ऊपर दया करो जिससे अब मैं इन सबों के चक्कर में न पड़।

विशेष :

1. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है। 'हाडी' शब्द अस्थि से विकसित हुआ है। कुछ विद्वानों ने माया का प्रतीक मान कर कर्ता कारक में माना है तथा 'माया' चिंतामणी पर हाथ मार रही है, अर्थ किया है। इस अर्थ में यह कल्पना करनी पड़ती है कि माया उसको बुझाना चाहती है, जो मणि के पक्ष में विशेष संगत नहीं। अधिकरण में इसके प्रयोग को मानने से, बाजार में बिकने वाली मणि पर हाथ मारने की संगति ठीक बैठ जाती है।
2. अन्योक्ति अलंकार है।

पंथि उडाणी गगन कूँ, प्यंड, हह्या परदेस।

पाँणी पीया चंच बिन, भूलि गया वहु देस।।२०।।

शब्दार्थ: पंथि = पक्षी, जीवात्मा। गगन = आकाश, सहस्रत्रार। प्यंड = शरीर। परदेस = संसार। पाँणी = पानी, जल, आध्यात्मिक आनंद। चंच = चोंच, इन्द्रियाँ।

भावार्थ : जीव रूपी पक्षी कुण्डलिनी के सहारे सहस्रत्रार तक उड गया अर्थात् उसने सहस्रत्रार पद में परमतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया। किंतु भौतिक शरीर अपने स्थान पर यों ही पड़ा रहा, जो कि अब उस जीव के लिए परदेस-सा हो गया है। सहस्रत्रार में पहुँच जीवात्मा ने बिना किसी इन्द्रिय को सहायता के लगातार झरनेवाले अम तरस का पान किया। अब जीवात्मा इस वासनावाले प्रपंची स्वदेश को भूल गया है। अब जीव यहाँ नहीं आना चाहता अर्थात् अब संसार के प्रति उसकी आसक्ति नहीं रही है।

विशेष :

1. पक्षी, गगन और पानी तीनों प्रतीक सिद्धों-नाथों से लिए गए हैं।
2. विभावना, विरोधाभास अलंकार है।

पंथि उडान गगन कूँ, उडी चढी असमान।

जिहिं सर मंडल भेदिया, सो सर लागा कान।।२१।।

शब्दार्थ: असमान = आकाश, शून्य। सर = बाण, अनाहत नाद। मंडल = आकाश, सहस्त्रार। जिहि = जिस।

भावार्थ : जीवात्मा रूपी पक्षी सहस्त्रदल तक उड़ गया और शून्य में स्थित हो गया। जो अनाहत नाद रूपी बाण गगन-मण्डल में व्याप्त है, वह स्पष्ट रूप से कानों को लग गया अर्थात् सुनाई पड़ने लगा। नाद-ब्रह्म का ज्ञान हो गया।

विशेष :

1. पक्षी द्वारा सिद्धि की शुक-जति का बोध कराया गया है।
2. कुण्डलिनी, मन तथा साधक तीनों के लिए एक ही प्रतीक का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः कुण्डलिनी का सहस्त्रार में पहुँचना, मन द्वारा निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति एवं साधक को सिद्धि मिलवा, युगपत रूप से होने वाले व्यापार है। अतः एक ही प्रतीक द्वारा तीनों का बोध सरलता से कराया जा सकता है।
3. सर में श्लेष का उपयोग करके कबीर ने शाक्तों एवं शैवों में स्वीकृत नाद-बिन्दु की धारणा का चमत्कारपूर्ण उपयोग किया है। बाण की भेदक शक्ति से सर्माचत होकर विश्व-व्यापक नाद सजीव हो उठा है, तथा अनहदनाद के रूप में व्यक्त होकर नवीन रूप धारण कर सका।

सुरति समांगों निरति मैं, निरति रही निरधार।

सुरति निरधि परचा भया, तब खूले स्यंभ दुवार।।२२।।

शब्दार्थ: सुरति = स्मृति, श्रुति, शब्द, प्रेमानुरक्त ध्यान और स्मरण। निरति = निरंतर प्रेम, निरतिशय रूप से नाद ब्रक्त में लय। निरधार = निरावलम्ब। स्यंभ दुवार = स्वयं द्वार, शम्भु द्वार।

भावार्थ : कबीरदास जी नाथ-सम्प्रदाय के तत्त्वों को स्वीकार करतेहुए कह रहे हैं कि सरुति (स्मृति, श्रुत ज्ञान, साधना-भक्ति का बाह्य पक्ष) निरति (नैरात्म्य की स्थिति) में समा गई है। अब नैरात्म्य अवस्था निष्कम्प दोष-शिखा के सदृश निर्धारित या निश्चल हो गई है अथवा चित्त आलम्बन के आभाव में शून्यावस्था में स्थिर हो गया है, इस क्रम से सुरति और निरति का परचा होगा है-बाह्य साधना भक्ति अन्तः साधना-भक्ति में ढल गई है। इसके परिणामस्वरूप शिव द्वार खुल गया है। अर्थात् परमसत्ता से साक्षात्कार हो गया है।

विशेष :

1. डॉ० पीताम्बर दत्त बड़टवाल, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा डॉ० पारसनाथ तिवारी ने सुरति और निरति पर जो विचार किया है, उसी के अनुसार अर्थ किया गया है।
2. स्यंभ के स्थान पर डॉ० पारसनाथ ने 'सिभु' तथा डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सिंह से विकसित मान कर अर्थ किया है-सिंह से विकसित मान कर अर्थ किया है-सिंह पर खुल गया। अर्थ चमत्कार पूर्ण है किंतु शब्द के मूल अर्थ को देखते हुए 'शंभु का हार' अर्थ हो स्वीकार किया गया है। कबीर में सिंह के लिए स्यंध का ही प्रयोग हुआ है; स्यंभ का नहीं।

सुरति समांगी निरति मैं, अजपा माँहै जाप।

लेख समांगों अलेख मैं, यूँ आपा माँहै आप।।२३।।

शब्दार्थ: अजपा = सहज भाव से जप, मुख से बिना उच्चारण किया हुआ जप। लेख = जो लिखा या देख जा सके।, प्रत्यक्ष, साकार। अलेख = अप्रत्यक्ष, निराकार। आपा = आत्मा। आप = अहं, खुदी।

भावार्थ : साधना की गति में साधक स्थूल से सूक्ष्म शब्द से अशब्द, प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष, साकार से निराकार, ससीम से असीम, अहंकार से निरहंकार की ओर बढ़ता चला जाता है और जब वह अशब्द, निराकार, अप्रत्यक्ष और निरहंकार अवस्था पर पहुँचता है। तब उसे ब्रह्म-तत्त्व का वास्तविक परिचय अर्थात् साक्षात्कार होता है। इसी तथ्य को कबीर ने इन शब्दों में व्यक्त किया है कि साधना को अंतिम अवस्था में सुरति निरति में लीन हो जाती है, सोच्चारण निराचार अवस्था में परिणत हो जाता है,

सकार निराकार में परिणत हो जाता है और इसी प्रकार खुदी या आपा अपने वास्तविक स्वरूप में परिणत हो जाता है। यही परिचय की अन्तिम अवस्था है।

विशेष :

1. इस साखी को पारसनाथ तिवारी ने अपनी ग्रंथावाली में स्थान नहीं दिया। यह नाथ विचारर परम्परा के अन्तर्गत आती है।
2. सिद्धों से अलग विवेच्य साखी में कबीर ने अजपा का उल्लेख किया है। जबकि गोरखनाथ में यह प्रयोग मिलता है।

आपा था संसार में, देषण कौं बहु रूप।

कहैं कबीरा संत हो, पड़ि गया नजरि अनूप॥२४॥

शब्दार्थ: देषण = देखना। बहु = बहुत। नजरि = दृष्टि में। अनूप = अनुपम, परम तत्त्व।

भावार्थ : सामान्यतः लोग समझते हैं कि उसका जन्म इन बहुरूपिया संसार को देखने के लिये हुआ है। किंतु संतों की दृष्टि भिन्न होती है उनकी दृष्टि नाश्वान् चीजों पर नहीं बल्कि परमात्मा पर पड़ी है। कबीर जी इसी का वर्णन करते हुए कहते हैं कि मैं संसार में अनेक रूप देखने के लिए आया था, परन्तु इन्हीं रूपों के भीतर अनुपम तत्त्व, जो अरूप है, मेरी दृष्टि में पड़ गया अर्थात् मुझे अनुपम तत्त्व का साक्षात्कार हो गया।

विशेष :

1. बहुतत्त्वों के मध्य-स्थित मूल एक तत्त्व का आभास साधना की चरम सिद्धि का परिणाम है।
2. बिना यत्न के ही ईश्वर पारित होने से प्रहर्षण अलंकार है।

अंक भरे भरि भैटियाँ, मन में नाँही धीर।

कहै कबीर तौ क्युँ मिलैं, जब लगे दोइ शरीर॥२५॥

शब्दार्थ: दोह-शरीर = द्वैत भाव। धीर = धैर्य। भैटिया = मिला।

भावार्थ : कबीरदास जो कहते हैं प्रिय हरि मिल गया है, मैं उससे गले लगाकर मिल रहा हूँ, मिलने से मन को संतोष नहीं मिल रहा है-मन भावाकुलता में धैर्यहीन हो बहता जा रहा है, ऐसा तब हो सका है जब द्वैतभाव समाप्त हो गया है। अर्थात् भगवान से सच्चे प्रेम के लिए तन मन, वन की एकता होनी चाहिए। द्वैतभाव से परमात्मा नहीं मिलता। जिसके मन में साधना का धैर्य है वहीं प्रभु को आलिंगन कर पाता है।

विशेष :

1. 'दोइ' शरीर से तात्पर्य द्वैत भाव से है। प्रियतम सशरीर नहीं है, प्रभु का परिचय होने पर भी जब तक देहात्म भाव बना रहता है। अर्थात् पथक् भाव बना रहता है, तब तक प्रभु से मिलन नहीं हो सकता।
- द्वैत भाव विलीन होने पर भी अद्वैत (प्रियतम से मिलन) सम्भव है।

सचु पाया सुख ऊपनाँ, अरु दिल दरियाँ पूरि।

सकल पाप सहजैँ गयो, जब साँई मिलयाँ हजूरि॥२६॥

शब्दार्थ: सचु = सच, सत्य। ऊपनाँ = उत्पन्न हुआ। हनूरि = सामने।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि जब परम प्रिय हरि से मिलन हुआ, तब सत्य से परिचय हुआ अर्थात् तब परम सत्य को जाना। फलतः आनन्द उमड़ पड़ा, हृदय की नदी प्रेमानन्द के जल से परिपूर्ण हो गई, लबालब भर गई। तब सारे पाप दूर हो गये एवं सच्चा सुख प्राप्त हो गया। अर्थात् परमात्मतत्त्व को अनुभूति होने पर ही सत्य को प्राप्त होती है।

विशेष :

1. आत्मा में ईश्वर बोध ही सच्चा परिचय है।
2. इस परिचय के बाद सभी क्षुद्रताएँ स्वतः समाप्त होकर मन उल्लास, उमंग, प्रसन्नता से भर जाता है।

धरती गगन पवन नहीं होता, नहीं तोया, नहीं तारा।

तब हरि हरि के जन होते, कहै कबीर बिचारा॥२७॥

शब्दार्थ: तोया = तोय, जल। तारा = नक्षत्र, ज्योति, अग्नि। होते = थे। विचारा = विचारपूर्वक।

भावार्थ : कबीरदास जी विचारपूर्वक कहते हैं कि सृष्टि के पूर्व पृथ्वी, आकाश, पवन, जल, अग्नि ये पाँचों तत्त्व नहीं थे। उस समय केवल हरि और हरि के भक्त थे।

विशेष :

1. अंशी (ईश्वर) से अंश (जीव) और पुनः जीव से भौतिक पदार्थों की निर्मित हेतु मूल पंच तत्त्वों के विकसित होने की विचारधार वस्तुतः कबीर की अपनी विचारधारा है।
2. अंशाशी भाव भारतीय दर्शन का मूल है।

जा दिन कृतमनां हुता, होता हट न पट।

हुता कबीरा राम जन, जिनि देखै औघट घट॥२८॥

शब्दार्थ: कृतमनां = सृष्टिकर्ता, ब्रह्मास। हट = बाजार। पट = सृष्टि रचना रूपी वस्त्र। हुता = था। औघट = टेढ़ा रास्ता घाट = जहाँ पहुँचना है, गंतव्य लक्ष्य।

भावार्थ : परमात्मा ब्रह्मा के भी रचयिता हैं। जब न ब्रह्मा थे। न ब्रह्मा के सृष्टि व्यापार का प्रसार हुआ था। न वस्त्र के समान यह संसार बुनकर तैयार किया गया था भक्त उस समय भी था। जिसने सृष्टि निर्माण और भगवात्प्राप्ति के टेढ़े रास्ते को देखा है।

विशेष :

1. डॉ० पारासनाथ तिवारी ने 'कृतमना' कृतसंकल्प- या सफल मनोरथ के स्थान पर 'किरतिम नां' पाठ रचीकार करके कदाचित्त यह अर्थ स्वीकार किया है कि 'विस दिन यह कृत्रिम या मायात्मक जगत् नहीं होता'।
2. औघर या घर में रूपकातिशयोक्ति तथा श्लेष अलंकार है।

चिति पाई मन थिर भया, सतगुर करी सहाइ।

अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ॥२९॥

शब्दार्थ: थिति = स्थिर तत्त्व, प्रतिष्ठित तत्त्व। अनिन = अनन्य, अद्वितीय। तनि = तनमें, शरीर में, भीतर। आचरी = आचरित हुई संचारित, क्रियाशील। राइ = राजा।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि गुरु ने मेरी सहायता की। उनकी कृपा से मैं तत्त्व में प्रतिष्ठित हो गया और मेरा मन अब स्थिर हो गया है। उसकी चंचलता जाती रही। मेरे भीतर अनन्य चरितार्थ हो गया और हृदय में भगवान् त्रिभुवन पति विराजमान हो गए।

विशेष :

1. भक्ति में गुरु की अनिवार्यतः पर बल है।

2. निर्गुण सम्प्रदायानुसार आन्तरिक। अर्थात् मान् भक्ति को स्वीकारा है।
3. 'अनिन' और 'आचारी' दोनों महत्त्वपूर्ण और व्यंजक शब्द हैं।

हरि संगति सीतल भया, मिटा मोह की ताप।

निस बासुरि सुखनिध्य लह्या, जब अंतरि प्रकट्या आप॥३०॥

शब्दार्थ: संगति = मितन, तादात्म्य। निस बासुरि = अदिन रात। आप = आत्मा।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि परम प्रिय हरि का साथ प्राप्त हो गया है, हृदय में ही जब शुद्धात्मा रूप परमात्मा को प्रत्यक्ष कर लिया है, तब मोह द्वारा उत्पन्न सारे सांसारिक ताप नष्ट हो गये हैं, आहोरात्र परमानन्द की सुख-निधि मिल गई है।

विशेष :

1. रूपक अलंकार है।

तन भीतरि मन मानियाँ, बाहरि कहा न जाइ।

ज्वाला तै फिरि जल भया, बुझी बलती लाह॥३१॥

शब्दार्थ: मानियाँ = स्वीकार कर लिया, मान लिया। बलती = जलती हुई। लाइ = आग।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि कि साक्षात्कार होने पर मेरे मन में पूर्ण निश्चय हो गया, संशय सर्वदा के लिए विलीन हो गया। अब तन के भीतर ही मेरा मन स्थिर हो गया है। इस स्थिति का मैं शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता। मोह की ज्वाला जल में परिणत हो गयी अर्थात् उसकी पूर्ण समाप्ति हो गई। अर्थात् प्रभु मिलन से पूर्ण शान्ति आ गयी।

विशेष :

1. मिलन से 'शान्ति' में 'पूरी भई तब क्यूँ तोले' अर्थ ध्वनित होता है।
2. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

तत पाया तन बीसरया, जब मनि धरिया ध्यान।

तपनि गई सीतल भया, जब सुनि किया असनान॥३२॥

शब्दार्थ: तत = हतत्व। बीसरा = भूल गया। मनि = मन में। सुनि = शून्य, सहस्त्रार।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं जब मैंने मन में अपने प्रभु का निरन्तर ध्यान किया तब तत्त्व का साक्षात्कार हो गया और शरीर की सुध-बुध जाती रही अर्थात् देहाध्यान मिट गया। जब मैंने शून्य में स्थान किया तब मोह का ताप मिट गया और शीतलता अर्थात् शांति का अनुभव हुआ।

विशेष :

1. 'सुनि' शब्द का अर्थ ब्रह्मरंध्र स्थित सहस्रदल कमल है। इसका दूसरा नाम है शून्य चक्र। इसी का अन्य अभी है सहज में स्थित होना।
2. असनान-स्नान करने में सुन्दर व्यंजना है, स्नान से शीतलता सुनि स्नान से त्रैतात्र का मिटना, व्यंजित होता है

जिनि पाया तिनि सुगह गह्या ,रसनों लागी स्वादि।

रतन निरालो पाईयां, जगत ढढालया ब्रादि॥३३॥

शब्दार्थ: जिनि = जिन्होंने। सुगह = सुन्दर ढंग से पकड़ा, अच्छी तरह पकड़ा। गह्या = पकड़ रखा। रसनौ = जीभ जिह्वा। ब्रादि = व्यर्थ।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि जिन्होंने परम तत्त्व को प्राप्त किया, उन्होंने उसे पकड़कर रखा है अर्थात् पूर्ण रूप से अपना बना लिया है। उसके माधुर्य का उन्होंने पूर्ण रूप से स्वाद लिया है। अब वह जगत में और कुछ ढूढनां व्यर्थ समझते हैं। अर्थात् परमात्मा को पाने के बाद किसी चीज की आवश्यकता नहीं रह जाती।

विशेष :

1. मूल तत्त्व के बोध के बाद शाखाओं की पड़ताल करने की व्यर्थता पर प्रकाश डाला गया है।
2. रूपकातिशयोक्ति तथा व्यतिरेक अलंकार है।

कबीर दिल रूपाबति भपा, पाया फल संप्रथ्य।

सायर माँहि ढंढोलताँ। हीरै पड़ि गया हथ।३४।।

शब्दार्थ: स्याबति = पूर्ण, साबूत। संप्रथ्य = समर्थ (सम+अर्थ = सम्यक् लक्ष्य)। सायर = सागर। ढंढोलताँ ढूँएना, टटोलता। हीरै = हीरा ही। हथ्य = अहस्त, हाथ।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि मेरा दिल दय पूर्णता को प्राप्त हो गया है अर्थात् पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति हो गयी। कबीर जी कहते हैं कि मैं भव-सागर में अपने इष्ट को टटोल रहा था। गुरु-कृपा से मेरे हाथ हीरा ही आ गया अर्थात् परम समर्थ हरि ही मुझे मिल गये, यह बड़े विचित्र संयोग की बात थी कि ऐसा हो गया। मैंने जीव का सर्व-अर्थकारों परमोत्कृष्ट सम्यक्-लक्ष्य प्राप्त कर लिया।

विशेष :

1. प्रभु की प्रत्यभिज्ञा बिना जीवन अपूर्ण है। वह तभी पूर्ण-सकल समझा जायेगा जब उसका परिचय मिल जायेगा।
2. रूपकातिशयोक्ति तथा प्रहर्षण अलंकार है।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाँहि।

सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माँहि।।३५।।

शब्दार्थ: मैं = आपा, अहंभाव। अंधियार = अंधकार। देख्या = देखा। माँहि = भीतर, अन्दर।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि जब मैं ही -अहंभाव ही-सब कुछ था तब हरि नहीं थे, अब हरि से परिचय हो जाने को अवस्था में हरि-हरि -हरि रह गये हैं, अहंभाव नष्ट हो गया है समाप्त हो गया है। अर्थात् परमामा से मिलन के बाद अहं का जीवन में कोई स्थान नहीं रह जाता। कबीर जी कहते हैं कि जब से हृदय में प्रेम-ज्ञान के दीपक को देखा है, सारा अज्ञान का अंधकार मिट गया है।

विशेष :

1. प्रेम की विचित्रता और विलक्षणता द्रष्टव्य है। यह शुरु 'दो' में होता है और पूर्ण 'अद्वैत' एकभाव में।
2. तुलनीय-प्रेमगली अति साँकरी तौ मैं दो न समाय।
3. विरोधाभास अलंकार है।

जा कारणि मैं ढूँढतो, सनमुख मिलिया आइ।

धन मैली पिव उजलो, लागि न सकौं पाइ।।३६।।

शब्दार्थ: जा = जिस। कारणि = कारण, के लिए, प्रयोजन के लिए, निमित्त लक्ष्य। सनमुख = सामने। मिलिया = अमिल गया। धन = जीव, स्त्री। ऊजला = शुद्ध, महान्, पवित्र, साफ।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि मैं जिस हरि को अपनी खोज का कारण बनाकर ढूँढने निकला था, वही सामने से आ

मिले। किंतु उस समय मेरी दशा उस नारी की तरह हो गई, जिसका प्रिय अत्यन्त स्वच्छ उज्ज्वल वेश धारण किये हो ओर वह ऐसे गंदे और अपवित्र वेश में हो कि संकोच से प्रणाम भी न कर सकती हो, मिलना तो दूर की बात रही। अर्थात् परमात्मा अत्यन्त पवित्र, उज्ज्वल है, और जीवात्मा मैली कुचैली।

विशेष :

1. यहाँ जीव को धनि अर्थात् स्त्री और प्रभु को पिव अर्थात् पति माना गया है।
2. रूपक अलंकार है।

जा कारणि में जाइ था, सोई पाइ ठौर।

सोई फिरि आपण भया जासूँ कहता और।।३७।।

शब्दार्थ: जा कारणि = जिस कारण, जिसके लिए, जिस निमित्त। जाइ था = ढूँढ रहा था, तलाश रहा था। ठौर = स्थल। आपण भया = अपना हुआ। जासूँ = जिस को।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि जिस प्रिय हरि को खोजने के लिए मैं जा रहा था, उसको बिना कहीं गये उसी स्थान पर, हृदय में पा लिया। जिसे मैं अन्य समझता था, कहता था, वह हरि अपनी ही आत्मा निकला अर्थात् वहीं वास्तविक सत्य निकला।

विशेष :

1. भक्ति में साधक के स्तर, स्थिति को व्यंजित किया गया है। पहले वह ईश्वर को अन्य पुरुष तत्पश्चात् मध्यम और चरमावरथा में प्रथम पुरुष अर्थात् 'तुम ही हो मैं नाँही' मानने लगता है।
2. ऐसी स्थिति में अन्यथा ही अहं बन जाता है।
3. प्रहर्षण अलंकार है।

कबीर देख्या एक अंग, महिमा कही न जाइ।

तेज पूंज पारस धणों, नैनुँ रहा समाइ।।३८।।

शब्दार्थ: अंग = एक हिस्सा, टुकड़ा। पारस धणों = पारस जैसा सौभाग्यदायक।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि मैं तो अगम्य परम प्रिय के एक ही अंग को देख पाया, उसकी ही महिमा कहने में नहीं आती। अर्थात् उस के गौरव और माहात्म्य का वर्णन सम्भव नहीं। वह तेजोराशि पारस मणि है जो अपने स्पर्श से ही पापों को पुण्यात्मा बनाने में समर्थ है। वह रूप रहित होने पर भी रूप की धनी है, वह नयनों में समा गया है-हृदय में बैठ गया है।

विशेष :

1. रूपक तथा उल्लेख अलंकार हैं।
2. ईश्वर के विराट रूप का वर्णन है। अगव्यता का बोध है।

मानसरोवर सुभर जल, हँसा केलि कराहिं।

मुकताहल मुकता चुगै, अब उड़ि अनत न जाँहि।।३९।।

शब्दार्थ: मानसरोवर = सहस्त्रार अर्थात् शून्य-शिखर में स्थित अम त कुंड। सुभर = खूब भरा शुभ्र। जल = अम त। हँसा = जीव। मुकताहल = मुकताफल, मोती, उत्कृष्ट, स्वच्छ, सत्त्वपूर्ण आनन्द। केलि क्रीड़ा। मुकता = मुक्त होकर, स्वच्छन्द होकर, छूटकर। अनत = अन्यत्र।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि हरि से परिचय हो जाने से जीव शून्य-शिखर पर स्थित अम त से लबालब भरे हुए कुण्ड में क्रीड़ा कर रहा है। उस का मन प्रेम-जल से भर गया है। अब उस अम त के कुण्ड से जीव आनन्द रूपी मोती स्वच्छन्द रूप से छूटकर, जी भर कर चुग रहा है। इस आनन्द को छोड़कर वह अन्यत्र सांसारिक विषयों की ओर नहीं जाना जाता।

विशेष :

1. मुकता-मुकता में यमक अलंकार है।
2. शून्य चक्र को कैलाश भी कहते हैं और मानसरोवर भी कैलाश में ही है।

गागन गरजि अम त चवै, कदली कबल प्रकास।

तहाँ कबीरा बंदिगी, कै कोई निज दास॥४०॥

शब्दार्थ: गगन = अकाश, सहस्रात। कदली = केलना, मेरुदण्ड। कवल = कमल के समान प्राणशक्ति का चक्र। बंदगी = नमन करना।

भावार्थ : इस साखी में कबीर जी ने अनहदनाद की अनुभूति का सुन्दर वर्णन किया है। 'गन गरजि'। अर्थात् आकाश के गर्जन से तात्पर्य है -वह अनहद नाद जो सहस्रात में नित्य हुआ करता है और वहाँ से अम त के समान शक्ति का क्षरण होता रहता है। मेरुदण्ड की सुषुम्ना नाड़ी में चक्रों का प्रकाश होता रहता है। यह सब अनुभूति कहते हैं कि इस अपूर्व अनुभूति के प्रत्यक्ष होने पर मेरा सिर झुक जाता है। अथवा कोई ओर प्रभु का भक्त हो जिसे यह अनुभूति हो जाय तो उसका सिर झुक जाएगा।

विशेष :

1. सिद्धों नार्थों के प्रतीकों का प्रत्यक्ष प्रभाव है।
2. सहस्त्रार पद्म के मूल में जो योनि नामक त्रिकोणाकार शक्ति का केन्द्र है, वही चन्द्रमा का स्थान है। इस साखी में जिस अम त का उल्लेख है वह वही से झरता है। इसी को सोमरस भी कहते हैं।

नीव बिहंणां देहुरा, दैह बिहंणां देब।

कबीर तहाँ बिलंबिया, करे अलष की क्षेब॥४१॥

शब्दार्थ: बिहंणां = बिना, रहित। देहुरा = देवालय, मंदिर। बिलंबिया = रमा हुआ है। अलष = अलक्ष्य, निराकार।

भावार्थ : सहस्त्रार पर पहुंचने के बाद जीव ऐसे दिव्य भाव का साक्षात्कार करता है, जिसकी कोई देह नहीं है। संसार में तो ईट-पत्थर के बने मन्दिरों में भगवान् के दर्शन होते हैं, परन्तु वहाँ बिना किसी नीव के देवालय में देव के दर्शन होते हैं। और वह देव भी अज्ञारो है, अर्थात् निराकार है। कबीरा ऐसी बोधावस्था में रमकर इस अलक्ष्य सत् की सेवा में लग गया है।

विशेष :

1. विभावना और विरोधाभास अलंकार है।

देवल माँहें देहुरी, तिल जेहें बिसतार।

माँहें पाती माँहि जल, माँहे पूजणहार॥४२॥

शब्दार्थ: देवल = देवालय, शरीर। माँहे = में, भीतर। देहुरी = देहली, दरवाजा। जेहें = समान, चितना।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि इस शरीर रूपी मन्दिर में पूजार्थ जाने के लिए देहरी (प्रवेश द्वारा) भी विद्यमान है। यद्यपि यह आयंत सूक्ष्म तिल-तुल्य है तथापि ज्ञानचक्षु से देखने पर ब्रह्माण्ड के समान विस्तार है। इस शरीर रूपी देवालय में विद्यमान आत्म तत्त्व रूपी इष्ट की पूजा भी किसी भी बाह्य उपकरण, सामान, जल-पत्र आदि की आवश्यकता नहीं है। सभी कुछ जल-पत्रादि इसी में विद्यमान है, यहाँ तक की इष्ट (ईश्वर) जिसको पूजा जाना है, वह भी भतर ही विराजमान है।

विशेष :

1. मानसी पूजा के अनुसार समस्त उपकरण, पूजा-पात्र, पूजा-सामग्री, पूजक और पुजने वाला अर्थात् ईश्वर भी इसी शरीर में विद्यमान है।
2. जो कुछ पिण्डे सोइ ब्रह्माण्ड-की अर्थ प्रतीति होती है।
3. ज्ञानचक्षु से बिन्दु का सागर और सागर का बिन्दु। समान-भाव का बोध होता है।
4. 'तिल जेहे विसतार' में सुफियों का प्रभाव लक्षित होता है। उनके अनुसार जगत् परमात्मा को प्रतिबिम्बित करने वाला दर्पण है। इसी अनुसार मनुष्य भी एक दर्पण है।
5. साथ ही मनुष्य अपनी पुतली में परमात्मा के साथ सोर जगत् को भी धारण करता है। यहाँ 'तिल' शब्द आँख सी पुतली की ओर संकेत करता है।

कबीर कबल प्रकासिया, ऊग्या निर्मल सूर।

निस अँधियार मिटि गई, बाजै अनहद तूर।।४३।।

शब्दार्थ: कबल = सहस्त्रार। ऊग्या = उदित हुआ। सूर = सूर्य, ज्ञान की ज्योति। जिस अंधियारी = रातों का अंधकार, अज्ञान की अँधेरी रात।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि प्रभु दर्शन होने के कारण ज्ञान का सूर्य उदय हो गया है। सहस्त्रारादि सभी कमल विकसित हो गये हैं। अज्ञान की रात्री समाप्त हो गयी है और अनाहत नाद की तुरही बजने लगी है।

विशेष :

1. सुन्दर रूपक की योजना द्रष्टव्य है।
2. कवँल, अनहद आदि शब्द, सिद्धों नाथों के प्रभाव को द्योति कराते हैं।
3. तुरही का बजना ज्ञान बोध का प्रतीक है।
4. अन्योक्ति अलंकार है।

अनहद बाजै नीझरै झरै, ऊपजै ब्रह्म गियान।

अविगति अंतरि प्रगटै, लागै प्रेम धियान।।४४।।

शब्दार्थ: नीझर = निझर, सहस्त्रदल। उपजै = पैदा होता है, उदय होता है। गियान = ज्ञान। अविगति = अज्ञात, ब्रह्म।

भावार्थ : प्रभु मिलन के बाद अनाहद नाद निरन्तर बजता रहता है। सहस्त्रार रूपी झरने से अम त झरता रहता है और ब्रह्म का ज्ञान उदय हो जाता है। जो सर्वया अज्ञात था, वह हृदय में प्रकट हो गया है ओर उसी में ध्यान लग गया है।

विशेष :

1. इस साखी में भक्ति ज्ञान और ध्यान का सुन्दर समन्वय है।
2. रूढ़ प्रतीकों का प्रयोग द्रष्टव्य है।
3. साक्षिकृत साधक के लक्षणों का वर्णन है।

आकासे मुखि औंधा कुवाँ, पाताले पनिहारि।

ताका पाँणी को हंसा पीवै, बिरलो आदि बिचारि।।४५।।

शब्दार्थ: आकासे = आकाश में, शून्य में। कुआँ = सहस्त्रदल। पाताले = पाताल में, मूलाधार। पनिहारि = कुंडलिनी। हंसा = शुद्ध जीवात्मा। आदि = मूलतत्त्व।

भावार्थ : कुण्डलिनी परक व्याख्या - कबीर ने इस साखी में उलटवासी के माध्यम से साधना के द्वारा कुण्डलिनी के जाग्रत् होने और सहस्त्रार कमल (चक्र तक पहुँचने की अनुभूति का वर्णन किया है। आकाश में एक अधोमुख कुँआ है, पानी भरने वाली पाताल में है, अर्थात् गगन मण्डल में सहस्त्रार रूपी कुआँ है जिसका मुख नीचे की ओर है, पाताल अर्थात् मूलाधार चक्र में पनि हरिण रूपी कुण्डलिनी स्थिति है। जब साधना द्वारा वह सुषुम्ना मार्ग से होकर सहस्त्रार में पहुँचती है, तब शुद्ध जीव उसके अम त जल को पीने में समर्थ होता है। इस मूलतत्त्व पर किसी विरले ने ही विचार किया है। अर्थात् इसे कोई विरला ही समझता है।

मुद्रापरक व्याख्या- यदि इस उलटवासी का मुद्रापरक अर्थ लिया जाए तो यहाँ पनिजारिन जिहवा को मानना पड़ेगा कुआँ कपाल स्थित उस विवर को कहेंगे जहाँ से अम त-रस टपकता रहता है। खेचरी मुद्रा द्वारा कोई शुद्ध जीव ही उस अम त को पी सकता है। इस मूल तत्त्व का कोई विरला ही समझता है।

विशेष :

1. खेचरी मुद्रा-एक विशेष प्रकार की साधना है। जिसमें जिहवार को उलटकर कपाल कुहर में विपरीत रूप में प्रविष्ट कराते हैं, ओर द प्टि को भौहों के मध्य में स्थित करते हैं।
2. 'श्व'- अर्थात् आकाश में चेरी, अर्थात् गत होने वाली मुद्रा को खेचरी मुद्रा कहते हैं। उक्त आकाश में चित और जिहवा दोनों पहुँच जाते हैं। इसलिए इसका नाम खेचरी मुद्रा है।
3. यहाँ प्रतीकों के प्रयोग से विरोधाभास उत्पन्न हुआ है, प्रमुख प्रतीक नाथों से लिए गये हैं।

सिव सकती दिसि कौण जुजोवे, पछिम दिसा उठै धूरि।

जल में स्यंध जु घर करै, मछली चढे खजूरि।।४६।।

शब्दार्थ: सिव = गिला नाड़ी। सकती = इड़ा नाड़ी। जोवे = जोहना, प्रतीक्षा करना, खोज करना, देखना। पछिम दिसा = पष्ठ भा, सुषुम्ना। स्यंध = जीव। जल = भानस का उच्च स्वरूप। मछली = कुंडलिनी या मन। खजूरि = शून्यचक्र।

भावार्थ : यहाँ कुंडलिनी जाग्रित होती है तब सुषुम्ना में वेग से उदान वायु उठने लगती है। सुषुम्ना पुष्ठ भाग (पश्चिम) में है। सुषुम्ना में वायु के वेग से चलने को 'पहि म दिसा उठै धूरि' द्वारा व्यक्त किया गया है। मछली कुण्डलिनी का प्रतीक है। कुण्डलिनी का ऊपर शून्यचर तक जाना, 'मछली चढे खजूरि' द्वारा व्यक्त किया गया है। यह स्यंध जीव का प्रतीक है। जब कुण्डलिनी ऊपर सहस्त्रार तक पहुँच जाती है, तब जीव-मानसरोवर में अवागहन करने लगता है।

विशेष :

1. यहाँ सिद्धों -नाथों के स्वीकृत प्रतीक रूढ़ों का प्रयोग हुआ है।
2. सिद्धो, नाथ-योगियों और कबीर में 'शक्ति' इड़ा का प्रतीक है और 'सिव' गिला का कुण्डलिनी का जागरण तभी सम्भव है, जब इड़ा पिंगला में स्थित प्राण-अयान वायु तुल्यबल हो जाए। परन्तु ऐसा कोई विरला ही जीव होता है जो इस मार्ग का अनुसंधान कर सकता है।
3. मछिम दिसा उठै धूरि' में पडिब्व दिशा नाथों का प्रतीक है। गोरखनाथ ने लिखा है-
मूल स्थान समाकुंच्य वुडुयानं तु कारमेत्।
इड़ा च पिंगला बद्धवा बाह्योत्पश्चिमे पथि।।
4. विरोधाभास अलंकार है।

अम त बरिसै हीरा निपजै, घंटा पड़ै टकसाल।

कबीर जुलाहा भया पारषू, अनथै उतरथा पार।।४७।।

शब्दार्थ: हीरा = सर्वोत्तम रत्न, वज्र, भगवत्सन्निधि। निपजै = उत्पन्न होता है। छंटा = अनाहद नाद। टकसाल = निर्दोष, शुद्ध, मानसतत्त्व। पारषु = परीक्षण करने वाला, परिचय प्राप्त करने वाला। अनथै = स्वानुभूति, अनुभव, आत्मादुर्भूति उतर्या पार = संसार मुक्त।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जब शुद्ध अनाहद नाद का परिचय हो जाता है, तब संकल्प-विकल्पात्मक मन उसी में लय को प्राप्त हो जाता है। उस समय तत्त्व का साक्षात्कार होता है और आनंद की अम तवर्षा होने से लगती है। तत्त्व का साक्षात्कार होना 'हीरा निपजै' द्वारा व्यक्त किया गया है। जिस प्रकार हीरा या वज्र शुद्ध, प्रकाशमान और अभेद होता है, उसी प्रकार जीव भी शुद्ध दीप्तिमान और अभेद बन गया। कबीर, ने उसका परिचय प्राप्त कर लिया है, और अपने अनुभव से भव सागर के पार उत्तर गये।

विशेष :

1. विवेच्य साखी में सिद्धों-नाथों द्वारा स्वीकृत प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। वज्रमान में चित्र को वजु कहा गया है। सिद्धों ने सहण साधना द्वारा चिंत का मणि अथवा हीरा बनाने का आदेश दिया है। (द्रष्टव्य सिंह साहित्य: धर्मवीर भारती)

ममिता मेरा क्या करै, प्रेम उछाड़ी पॉलि।

दरसन भया दपाला का, सूलै भई सुखै सौडि।।४८।।

शब्दार्थ: पॉलि = दरवाजा। दयाल = प्रभु, परमात्मा, भगवान्। सूल = दुख, पीड़ा, कष्ट। सौडि = सौरि, सफेद चादर।

भावार्थ : प्रभु प्रेम ने रहस्य का द्वार खोल दिया। इसमें मुझको दयामय प्रभु का साक्षात्कार हो गया। अब ममता मेरा क्या बिगाड़ सकती है? अहं और मम का भाव ही समाप्त हो गया है। और भव का कष्ट सुख की चादर बन गया अर्थात् सभी दुःख आनन्द में परिणत हो गए।

विशेष :

1. मूल तत्त्व के ज्ञान के लिए ईश्वर की कृपा-आवश्यक है।
2. आत्मबोध के पश्चात् अहं- और मम एकसं प्रतीत होने लगते हैं।
3. दुःख-सुख का भेद मिटकर जीव आत्मरूप बन जाता है।

६. निहकर्मि पतिव्रता कौ अंग

सम्पूर्ण सांसारिक, सामाजिक संबंधों में सर्वाधिक प्रगाढ़, एकनिष्ठ, समर्पित पति-पत्नी को माना जाता है। इसी कारण मध्यकालीन संत-भक्तों ने ईश्वर प्रेम के विभिन्न रचकों में इसी संबंध को स्वीकृति दी है। कबीर स्वयं को जहाँ 'ज्ञान की बहुरिया' कहते हैं, वहीं तुलसी भी राम के ऐसा ही संबंध स्थापित करने की इच्छा रखते हैं (द्रष्टव्य मानस का दोहा-कामहि नारी -दियाहि जिमी) अतः नारी-नर का यह संबंध अन्य सभी संबंधों में अधिक विश्वसनीय माना गया है। और इसमें भी पतिव्रता नारी निष्काम भाव से जैसे समर्पित रहती है वह अनन्य है। विवेच्य अंग में कबीर ने ऐसी ही निष्काम भाव से पतिव्रत धर्म का पालन करने वाली, अनन्य प्रेम करने वाली नारी के समान, जीव ओर ईश्वर के संबंध, प्रेम पर बल दिया है।, पतिव्रत धर्म का पालन करने वाली नारी के हृदय में अपने पति के अतिरिक्त और किसी के प्रति अनुराग नहीं होता। यहाँ वस्तु व्यंजना के आधार पर आत्मा सुन्दरी के अनन्य भाव को व्यक्त किया गया है। निहकर्मि पतिव्रता वह होती है जो अन्य के प्रति पूर्णतः विरत और निष्काम होती है।

कबीर प्रीतड़ी तौ तुझ सौं, बहु गुणमाले कंत।

जे हँसि बोलौ और सौं, तो नील रँगाऊँ।।१।।

शब्दार्थ: प्रीतड़ी = प्रेम, गुणमाले = गुणवान, नील रँगाऊँ दंत = कलंकित होना, धिक्कार ।

भावार्थ : कबीर दास की आत्मरूपी नारी, ईश्वर रूपी पति से कहती है कि हे सर्वगुणसम्पन्न कांत (प्रिय), मेरी जो कुछ भी प्रेम है, वह केवल तुम से है। मेरी दृष्टि में तुम से बढ़कर गुणवाला और कोई नहीं है। यदि मैं और किसी से हँस कर बोलूँ अर्थात् किंचित् भी अनुराग दिखाऊँ, तो मेरे लिए धिक्कार की बात होगी।

इसी प्रकार भक्त-जीव प्रभु से कहता है कि सर्वगुण सम्पन्न तो आप हैं। आपसे बढ़कर गुणवाला और कौन है; जिससे मैं प्रेम करूँ। इसलिए मेरा प्रेम केवल आप के प्रति है। दूसरे के प्रति ऐसा भाव मेरे लिए दुश्चरित्रता का प्रतीक होगी।

विशेष :

1. समासोक्ति अलंकार है।
2. नील रँगाँ दंत-एक मुहावरा है जिसका अर्थ है -(दाँत को नीले रंग से रंगना) कलंकित होना धिक्कार।
3. पतिव्रता नारी (जीव) के लिए एक भाग पति (परमेश्वर) ही सर्वस्व होती है। अन्य का समान उसको कलंकित करने वाला होता है। जीव भी अन्य के ध्यान से कलंकित हो जाता है।

नैनां अंतरि आव तूं, ज्युँ हौं नैन झँपेऊँ।

नाँ हौं देखौं और कूँ, नाँ तुझ देखन देउँ।।२।।

शब्दार्थ: अंतरि = भीतर, अन्दर। झँपेऊँ = बंद कर लेना, ढक लेना हौं = मैं।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि हे प्रिय! तू मेरे नेत्रों के भीतर आ जा, जिससे मैं तुम्हें नेत्रों में ही बन्द कर लूँ। इस प्रकार न तो मैं अन्य किसी को देखूँ, न ही तुम को किसी को देखने दूँ।

विशेष :

1. अनन्य प्रेम का ऐकान्तिक भाव दर्शाया गया है।
2. ना तुझ देखन देऊँ-का अर्थ है-न तुझे औरों को देखने दूँ। यहाँ तुझ को देखन को कर्तापद माना गया है। इसका कर्मपद मान कर अर्थ होगा-न औरों को तुझे देखने दूँगा। ऐकान्तिक भाव की दृष्टि से प्रथम अर्थ अधिका संगत है।

3. प्रस्तुतालंकार है।

**मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुमको सौंपता, क्या लागे है मेरा।।३।।**

शब्दार्थ: सौंपता मर्पित कर।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि है प्रभु! मेर में अपना कुछ नहीं है, जो कुछ भी हैं सब तुम्हारा ही है। अर्थात् 'मेरा' और 'मुझ' तो मायात्मक है इस में कुछ नहीं रखा है। जब सब प्रभु का ही है तो उस में वस्तु उसे ही समर्पित करने में मेरा क्या लगता है।

विशेष :

1. तादीयं वस्तु गोबिंद तुम्हभमेव समर्पये'- जब सभी कुछ तेरा है तो है गोबिंद तुझे ही समर्पित है-इसमें मेरा क्या लगता है।
2. ममत्व का भाव एक भ्रात धारणा है, की प्रभावपूर्ण सटीक अभिव्यक्ति हुई है।

**कबीर रेख स्पंदूर की, काजल दिया न जार।
नैनूं रमइया रमि रद्गा, दूजा कहाँ समाइ।।४।।**

शब्दार्थ: सिंदूर = सौभाग्य। काजल = कालिमा। विषय = तासना, सांसारिक आसक्ति का प्रतिक। रमाया = रमण करने वाला।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जिस मांग की शोभ सिंदूर से होती है उसमें शोक-सूचक काजल नहीं पोता जाता। उसी प्रकार जिन आँखों में हरि बस गये हैं। वहाँ किसी ओर का क्या काम। अर्थात् प्रभु से पूर्ण अनुराग होने पर वहीं एक प्रिय हो जाता है और सांसारिक के प्रति आसक्ति और अन्य विषय-वासना अपने आप छूट जाते हैं।

विशेष :

1. 'रेख स्पंदूर की' से नेत्रों नेगों में अनुराग की लाली भी व्यजित हो सकती है।
2. काजल या अंजन माया का प्रतीक होने से चमत्कार विधायक है।
3. प्रस्तुतालंकार है।

**कबीर सीप समंद की, रटै पियास पियास।
सामदहि तिणका बरि गिणै स्वाँति बूँद की आस।।५।।**

शब्दार्थ: समदहि = समुद्र को। तिणका = त ण, तिना। गिणै = समझना। आस = आशा। पियास = प्यास।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि जिस प्रकार सीप विशाल समुद्र के भीतर रहते हुए भी प्यास से व्याकुल रहती है और स्वाति को बूँद की आशा लगाए रहती है और समुंद्र को तिनके के समान समझती है, उसी प्रकार प्रभु से प्यार करने वाला संसार में रहते हुए भी विषय-वासना के प्रति आकर्षित नहीं होता और केवल प्रभु को ही याद करता है उसी का ही ध्यान करता रहता है।

विशेष :

1. जीव की स्वाति जल के प्रति द्वारा प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति मिली है।
2. यश वरि -भर का पर्यारवाची है।
3. अन्योक्ति अलंकार है।

**कबीर सुख कौं जाइ था, आगै आया दुख।
जाहि सुख घरि आपणै, हम जाणौं अरु दुख॥६॥**

शब्दार्थ: सुख कौं = सुख के लिए। जाइ था = जाता था। जाहि = चले जाऊ। आपणै = अपने।

भावार्थ : कबीर दास जी कहते हैं कि अन्य सांसारिक लोगों की तरह में भी सांसारिक सुख की तलाश में लग गया था। परन्तु गुरु-कृपा से मुझे प्रभु का वेदना रूपी दुःख मिल गया। अर्थात् प्रभु मलन की तड़प दिल में जाग उठी। उसके बाद मैंने सांसारिक सुखों को कहा की वह चले जाए अर्थात् सांसारिक सुखों को त्याग दिया। और प्रभु की प्रेम-वेदना को ही अपना साथी बना लिया।

विशेष :

1. यहाँ मानवीकरण तथा उपचार वक्रता है। अनिष्टकारी दुःख को स्वीकार करने से अनुज्ञा भी है।

**दो जग तो हम अंगिया, पहु डर नहीं मुझ।
भिस्त न मेरे चाहिये, बाझ पियारे तुझ॥७॥**

शब्दार्थ: दोजग = दोजख, नरक। अंगिया किया, अंगीकार किया। भिस्त = बिहिस्त स्वर्ग। बाझ = वर्ज्य, सिवाय, छोड़कर।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि मुझे दोजख (नरक) तो स्वकार है। इसका मुझे तनिक भी भय नहीं है। पर हे प्रभु जहाँ तक बहिस्त (स्वर्ग) की बात है, उसके बारे में मैं यही कहूँगा कि तुम्हारे सिवाय मुझे स्वर्ग भी नहीं चाहिए। अर्थात् जिन्हें प्रभु से प्यार हो जाता है उन्हें स्वर्ग भी तुच्छ लगने लगता है। प्रभु को भुला कर वे जीना नहीं चाहते।

विशेष :

1. यहाँ बाझ-बाज सिवाय के के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ऐसा प्रयोग जायसी और तुलसी में भी मिलता है। द्रष्टव्य है-दीन दुःख दुरै को कृपावारिधि बाणि बाजि। (तुलसी)
2. अनन्य भाव की भक्ति व्यंजित है।
3. प्रस्तुतालंकार है।

**जे वो एकै न जाणियां, तौ जाण्यं सब जाण।
जे वो एकन जाणियां, तो सबकी जाँण अजाण॥८॥**

शब्दार्थ : एकै = एक, परमतत्त्व। जाणियां = जान लिया। जाण = ज्ञान। अजाण = न जानना।

भावार्थ : जिसने एक परमतत्त्व को जान लिया है, उसने सब जान प्राप्त कर लिया है। अर्थात् उसके लिए कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता। परन्तु जो उस परमतत्त्व को नहीं जानता उसका सब जानना, न जानने बराबर हो जाता है। अर्थात् उसका सब जान अज्ञान के बराबर है।

विशेष :

1. यह भाव उपनिषदों में बार-बार आया है।
2. ज्ञान का विषय एकमात्र आत्मबोध, मूलतत्त्व है।

**कबीर एक न जाणियां, तौ बहु जाण्यं क्या होइ।
एक तैं सब होत है, सब तैं एक न होइ॥९॥**

शब्दार्थ : जाणियां = जानता। बहु जाने = बहुत जानने से।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जो उस एक हरि को नहीं जानता उसका बहुत के जानने से क्या लाभ? उस एक, पूर्ण से ही अन्य सबका अस्तित्व है सबसे उस एक का अस्तित्व नहीं क्योंकि प्रभु से ही सब कुछ संचालित होता है, निर्मित होता है।

विशेष :

1. मूल तत्त्व एक है-ईश्वर, उसको जानना ही सही अर्थों में जानना है।
2. संसार के सारे प्राणियों में एक तत्त्व ही संचरित है अर्थात् इसमें निर्मात्ता-निर्मित भाव है। इसलिए निर्मात्ता को जान लेना ही सही अर्थों में ज्ञानी होना है।

जब लग भगति सकांमता, तब लग निर्फल सेव।

कहै कबीर वै क्युं मिलैं, निहकामी निज देव ॥१०॥

शब्दार्थ : सकांमता =कामना युक्त। सेव =सेवा, पूजा, अर्चना। निहकामी = निष्कामी।

भावार्थ : जब तक सकाम भाव से भक्ति की जाती है, तब तक सब कुछ व्यर्थ है। ऐसी भक्ति सच्चा फल (प्रभु सेमिलन) देने में असमर्थ है। क्योंकि प्रभु तो निष्काम है, निष्काम से कामना की पूर्ति कैसे हो? वह प्रभु तो निष्काम भाव की भक्ति से ही मिल सकता है।

विशेष :

1. निष्काम (प्रभु) की प्राप्ति समान (भक्ति) इच्छा से नहीं हो सकती। अतः उसके लिए निष्काम भक्ति आवश्यक है।

आसा एक जु राम की दूजी आस निरास।

पाँणी माँहें घर करें, ते भी मरें पियास ॥११॥

शब्दार्थ : आसा = आशा। माँहें = भीतर।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि केवल एक राम की ही आशा करनी चाहिए, अन्य सभी आशाएं निराशा में परिणत होने वाली हैं। क्योंकि नश्वर वस्तुओं की आशा, अन्त में वस्तु के नष्ट होने से, निराशा जनक ही होती है। जैसे पानी में (समुद्र में) रहने वाली सीप समुद्र के जल से तप्त न होकर, केवल स्वाति बूंद की आशा लगाए रहती है, वैसे ही संसार में रहता हुआ प्रभु भक्त भी केवल प्रभु भक्ति से ही तप्त होता है।

विशेष :

1. रूपकातिशयोक्ति और निर्दर्शना अलंकार है।
2. सर्व-समर्थ ईश्वर ही सभी तत्त्वों का मूल है अर्थात् अन्य से उम्मीद रखनी, स्वयं को धोखे में रखना है।
3. सीप-समुद्र का उदाहरण अत्यंत सटीक बन पड़ा है।

जे मन लागै एक सुं, तो निरबाल्या जाइ।

तूरा दूह मुखि बाजणां, न्याइ तमाचे खाइ ॥१२॥

शब्दार्थ : निबाल्या =निरवाल, निरचार, निस्तार, छुटकारा। तूरा =तुरही, न्याइ =उचित, न्याय पूर्वक।

भावार्थ : यदि एक अर्थात् 'प्रभु' से मन लग जाए तो साधक का निसतार हो जाता है। संसार और प्रभु दोनों में एक साथ मन लगाना वैसे ही है जैसे तुरा दुई-अर्थात् दो तुरहियों को एक मुख से एक साथ बजाना। ऐसा करने वाला यदि तमाचा खाता है तो वह न्याय (उचित) ही है। संसार और ईश्वर दोनों में एक साथ चित लगाना दो नावों में पैर रखने के समान है।

टिप्पणी इस साखी के अर्थ में बहुत भ्रम है। तुरा दुइ मुख बाजना का प्रायः यह अर्थ लिया जाता है कि तुरही दोनों ओर से बजाइ जाती है। और न्याय तमाचे खाइ- का अर्थ लिया जाता है- उसका हाथी से ठोका जाना। किंतु तुरही का दूसरा मुख

इतना चोड़ा होता है कि वह उधर से बजाई ही नहीं जा सकती। कबीर ने इस साखी में साधक की सांसारिक आशक्ति और ईश्वर भक्ति दोनों की असंगति दिखाने के लिए दो तुरहियों को उपमान के रूप में रखा है। साधक या मन के लिए मुख उपमान है, संसार या परमात्मा के लिए दो तुरही उपमान है, संसार या परमात्मा के लिए दो तुरही उपमा है। जैसे एक मुख से दो तुरहियों को एक साथ नहीं बजाया जा सकता ठीक उसी प्रकार से एक साथ एक मन से प्रभु भक्ति और सांसारिक आशक्ति दोनों साथ नहीं चल सकती।

2. तुरा के स्थान पर कुछ प्रवियों में 'मौदर' शब्द का प्रयोग मिलता है-यह दो मुख का वाद्य है, इसी लिए घनी चोट खाता है। इसी प्रकार जो दो दिशाओं में अपना चित लगाते हैं, वे अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं होते, चारों ओर से धक्के खाते हैं और भ्रांत होकर पीड़ित होते हैं।

विशेष :

1. वस्तु ध्वनि से ध्वनित होता है। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य की उपासना कष्टप्रद है यहाँ अर्थान्तर न्यास अलंकार है।

कबीर कलियुग आइ करि, कीपे बहुत जमीत।

जिन दिल बंधी एक सूँ, ते सुखु सौवे नर्चीत।।१३।।

शब्दार्थ : नर्चीत =निश्चित। जमीत =मित्रता।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मनुष्य कि कलियुग में जन्म लेकर उसके प्रभाव से बहुत वस्तुओं से चित लगाते है अनेक सांसारिक मित्र बनाते है, किंतु वे चिन्तित और दुःखी हो रहते है। निश्चित होकर तो केवल वहीं सो सकते है जो प्रभु में चित लगाते है अर्थात् अपने आप को हरि को सौंप देते हैं।

विशेष :

1. नश्वर चीजों से मोह अनततः दुःख का कारण होता है।
2. एक ही समय में एक ही ओर ध्यान लगाना सफलता का राज है।
3. अन्योक्ति अलंकार है।

कबीर कूत्ता राम का, मुतिया मेरा नाउं।

गलै राम की जेवड़ी, जित खँचे तित जाउँ ।।१४।।

शब्दार्थ : नाउँ = नाम। जेवड़ी = रस्सी, जंजीर। जित = जिधर, जहाँ। खँचे = खींचता है। तित = वहाँ।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मैं राम का कुत्ता हूँ और मोती मेरा नाम है। मेरे गले में राम की रस्सी पड़ी हुई है। वह जिधर खींचते हैं, उधर जाता हूँ। अर्थात् मैंने खुद को राम को सौंप दिया है। अब जैसा वे चाहते हैं, मैं वैसा ही करता हूँ।

विशेष :

1. मोतिया-मोती का विकृत रूप है। मोती शब्द संस्कृत के मुक्ता से निष्पन्न। सम्भवतः इसमें कबीर ने यह संकेत दिया है कि जो प्रभु के प्रति अपने को समर्पित कर देता है, वह -ही मुक्ति का अधिकारी होता है।
2. यहाँ भक्ति रास की उत्तम व्यंजना हुई है।
3. कुछ विद्वानों का यह मत भी है कबीर का बचपन का नाम मुतिया ही था, जो यहाँ अनजाने साखी में आ गया।

तौ तो करै त बाहुड़ों, दुरि दुरि करै तो जाउँ।

ज्युं हरि राखैं त्यूं रहौं, जो देवै सो खाउं ।।१५।।

शब्दार्थ : बाहुड़ों =लौट आता है ,बहरना। ज्यो। =जैसे। राखैं = रखते है। रहौं =रहता हूँ। खाउँ = खाता हूँ

भावार्थ : कबीर जी अपने को परमभक्त कृते के रूप में परमात्मा के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि मैंने अपने-अपने को पूर्ण रूप से प्रभु को समर्पित कर दिया है। अब मेरी अपनी कोई इच्छा नहीं रह गई है। यदि प्रभु प्रेम से अपनी तरफ बुलाते हैं तो मैं वहाँ चला जाता हूँ यदि वह मुझे हटा देते हैं तो मैं इसी में अपना कल्याण समझ वहाँ से चला आता हूँ। प्रभु जैसे भी मुझे रखते हैं मैं उसी प्रकार रहता हूँ। जो कुछ भी वह दे है उसी को स्वीकार करता हूँ।

विशेष :

1. 'तू' प्यार भरा शब्द है, यहाँ ईश्वर के लिए प्रयुक्त हुआ है। जैसे तू दयालु दीन हैं तू दानि हों भिखारी।'
2. दूर-ध्वनिमूलक शब्द है, जो कि दूर होने के लिए प्रयुक्त हुआ है।
3. अनन्य भाव की भक्ति ध्वनित होती है।
4. रूपक अलंकार है।

मन प्रतीति न प्रेम रस, नां उस तन मैं ढंग।

क्या जाणों उस पीव सूं, कैसे रहसी रंग ॥१६॥

शब्दार्थ : प्रतीति =जानकारी। ढंग =ढब, रीति। रहसी =रहेगा। रंग =उल्लास, आनन्द, उत्सव।

भावार्थ : भक्त अपनी नम्रता व्यक्त करते हुए अपनी त्रुटियों की ओर संकेत करते हुए कहता हूँ कि मन में हरि की पूरी प्रतीति (जानकारी), पूर्ण विश्वास नहीं है, उनके प्रति प्रेम-रस में इतने व्याकुल नहीं की सुध जाती रहे, इस शरीर वैधी भक्ति करने की भी क्षमता नहीं, इस स्थिति में मैं कैसे कहूँ कि उस प्रभु से मिलने पर कैसा आनन्द आएगा।

विशेष :

1. 'प्रतीति' का अर्थ कुछ टीकाकारों ने विश्वास लिया है। जबकि इसका मुख्य अर्थ है ज्ञान, जानकारी।
2. प्रस्तुतांलकार के कारण लौकिक एवं अलौकिक प्रेम की व्यंजना युगपत रूप से हो रही है। यहाँ राम ध्वनि के सभी अंग ध्वनित हैं।

उस संग्रथ का दास हैं, कदे न होइ अकाज।

पतिव्रता नांगी रहे तो, उसही पुरिस कौं लाज ॥१७॥

शब्दार्थ : संग्रथ=समर्थ, क्षमतावान। कदे =कभी। अकाज =नुकसान। नांगी = नंगी। पुरिस =पुरुष।

भावार्थ : मैं उस समर्थ प्रभु को समर्पित हो चुका हूँ। इसलिए मुझे पूर्ण विश्वास है, मेरे कार्यों में कभी विघ्न नहीं पड़ेगा। मुझे कभी अमंगल और आपत्ति का सामना नहीं करना पड़ेगा। जिस प्रकार सक पतिव्रता नारी, जो अपने पति में पूर्ण निष्ठा रखती हैं। यदि वह नंगी रहती है तो उसकी लाज उसके पति को ही होती है उसी प्रकार जिस भक्त की प्रभु में पूर्ण निष्ठा है उसकी चिन्ता प्रभु को होती है।

विशेष :

1. समर्पण पर कबीर का अडिग विश्वास था, इसी भावना के प्रस्तुत साखी में कबीर व्यंजित करते हैं।
2. समर्पित आत्मा निश्चित जीवन जीती है।
3. दृष्टां अलंकार है।

घरि परमेसुर पाहुणां, सुणों सनेही दास।

षट रस भोजन भगति करि, ज्युं कदे न छाडै पास ॥१८॥

शब्दार्थ : घरि = घर में, हृदय में। परमेसुर = प्रभु, परमात्मा। पांहुणां = अतिथि। सनेही = प्रेमी। ज्युं = जिससे। कदे = कभी।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि है प्रेमी भरत। प्रभु तुम्हारे घर (हृदय) में अतिथि रूप में विराजमान हैं। अतः उन्हें अनन्य भक्ति का षट्स भोजन अर्पित करो जिससे वह कभी भी तुम्हारा साथ न छोड़े। अर्थात् सदा तुम्हारे ही साथ रहे।

विशेष :

1. राजस्थान में पति, को 'पाहुण्य' भी कहते हैं। पूरब में दामाद को पाहना कहते हैं। इस अंग का शीर्षक है-निहकर्मि पतिव्रता। अतः इस साखी में पाहुना शब्द में पति की व्यंजना है।
2. पति शब्द का वास्तविक अर्थ है पति इति पति जो पत (इज्जत) रखता है वह पति है।
3. हृदय में विद्यमान प्रभु, जीव का सदा रक्षक है, और जीव के प्रेम का अधिकारी है।
4. रूपक अलंकार है।
5. भक्ति भाव की उत्तम अभिव्यंजना है।

७. चितावजी कौ अंग

‘चितावजी’ से अभिप्रायः है सचेत करने की क्रिया। इस अंग में कबीर ने मनुष्य को कई प्रकार की भूलों का ध्यान में रखकर सचेत किया है कबीर दर्शन के अनुसार मनुष्य की कुछ प्रमुख भूलों-भ्रमों में से है-नश्वरता पर ध्यान न देना ; यद्यपि उसको पुष्ट करने वाले अनेक द श्य उसके सामने आते हैं। इस भूल के कारण वह स्वार्थी एवं संसार की माह में आसक्त भी हो जाता है। यदि वह निष्काम भाव से काम करता हुआ अपनी, द श्चि को नश्वरता पर टिकाये रहे तो, उसको विमुक्त होने में विलम्ब न हो।

विवेच साखियों में कबीर के आध्यात्मिक रूप के साथ-साथ उसका सामाजिक, क्रान्तिकारी का रूप कुछ अधिक खुलकर सामने आया है। साखियों की व्याख्याओं में इस को लंक्षित किया जा सकता है।

कबीर नौबति आपणी, दिन दस लेहु बजाइ।

ए पुर षटन ए गली, बहुरि न देखै आइ ॥१॥

शब्दार्थ : नौबति = राजाओं, महाराजाओं के द्वार पर मंगल और वैभवे-सूचक शहनाई और नगाड़े का वाद्य। पटन = नगर। बहुरि = पुनः।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि है जीव अभी समय है चेत जाओ, जिस वैभव में तुम भूले हुए हो, वह केवल दस दिन का खेल है-अर्थात् क्षणिक है। तुम्हारी म त्पु अवश्यभावी है। पुनः इस पुर, नगर या गली को न देख पाओगे। अर्थात् पुनः यह जन्म सम्भव नहीं है।

विशेष :

1. जीवन की क्षण भुगुरता का संदेश है।
2. नौबत -फारसी का स्त्रीलिंग शब्द है, जिसका अर्थ मंगलसूचक वाद्य है, जो मन्दिरों महलों के द्वार पर मंगलसूचक वाद्य है, जो मन्दिरों महलों के द्वार पर बजता है।

जिनकै नौबति बाजती, मैंगल बँधते बारि।

एकै हरि के नांव बिन, गए जन्म सब हारि ॥२॥

शब्दार्थ : मैंगल = मदकल, मतवाला हाथी। बारि = दरवाजे पर। नाँव = नाम।

भावार्थ : जिन सम्पन्न व्यक्तियों के द्वार पर वैभव-सूचक नगाड़े बजते थे और जिनके दरवाजे पर सदा मस्त हाथी झूमते थे। उनका जीवन भी प्रभु का नाम न लेने के कारण सर्वथा व्यर्थ ही हो गया।

विशेष :

1. ईश्वर के नाम की महिमा और महत्ता का ज्ञान हुआ है।
2. जीवन की क्षणभंगुरता का वर्णन हुआ है।
3. सडी अर्थी में सम्पन्नता, सम्पत्ति-ईश्वर नाम स्मरण है।

ढोल दमामा दुड़बड़ो, सहनाई संगि भेरि।

औसर चल्या बजाइ करि, है कोई राखै फेरि ॥३॥

शब्दार्थ : दमामा = धौंसा, बड़ा नक्कारां दुड़बड़ी = डुग्गी, एक प्रकार का छोटा चमड़ा मढ़ा हुआ वाद्य। भेरि = भेरी (एक प्रकार का वाद्य)।

भावार्थ : इस जीवन में वैभव प्रदर्शनकारी वाद्य जैसे ढोल, धौंसा डुगडुगी, शहनाई और मेरी विशेष-विशेष अवसरों पर बजाए जाते हैं। परन्तु जीवन क्षणभंगुर है कि जो अवसर बीत गया, उसे पुनः वापिस नहीं लाया जा सकता।

विशेष :

1. चले में एक विशेष व्यंजना है -अर्थात् वह अवसर भी बीत गया, जब यह वाद्य बजाता था। वे दिन भी चले गए।
2. वक्रोत्ति अलंकार है।

**सातों सबद जु बाजते, घरि घरि होते राग।
ते मंदिर खाली पड़े। बैसण लागे काग ॥४॥**

शब्दार्थ : सातों सबद = सप्त स्वर । बैसण = बैठते है।

भावार्थ : जिन महलों के द्वार पर संगीत के सातों स्वर सुनाई पड़ते थे, प्रत्येक घड़ी नये राग सुनाई पड़ते थे, अबवे रिक्त पड़े हुए हैं और उन पर कौए बैठते है। अर्थात् सांसारिक वैभव इसी प्रकार क्षणभर के लिए ही होता है।

विशेष :

1. सातो शब्द से संगीत का सम्पूर्ण रूप धौतिक करवाया गया है।
2. यह ऐश्वर्य के प्रतीक है।
3. बैठन लागे काग में उनकी उजाड़ता द्रष्टव्य है जिससे ऐश्वर्य की क्षण भंगुरता दिखाई गई है।

**कबीर थोड़ जीवणां, माड़े बहुत मंडाण।
सबही ऊभा मेलिह गया, राव रंक सुलतान ॥५॥**

शब्दार्थ : जीवणां = मंडप, निर्माण, साज-सज्जा का आयोजन, बड़े-बड़े मंसूबे बांधने। ऊभसा =ऊर्ध्व, उठा, खड़ा। मेलिह गया =मिट गप, नष्ट हो गया।

भावार्थ : जीवन अत्यल्प है अर्थात् बहुत थोड़ा है। किंतु मनुष्य इस थोड़े -से जीवन के लिए भी बड़े-बड़े आयोजन करता है। पर वह यह भूल जाता है कि कोई बहुत बड़ा राजा हो या साधारण मनुष्य सभी की निर्माण की गई योजनाएं उनके साथ ही चली जाती है भाव नष्ट हो जाती है।

विशेष :

1. राव-रंक समस्त संसार परिवर्तनशील है। योजनाएँ, सांसारिक कर्म सभी कर्म कुछ नष्ट क्षणभंगुर है। नाशवान् है। अतः अत्यधिक संग्रह अनावश्यक है।

**इक दिन ऐसा होइगा, सब सँ पड़े बिछोह।
राजा राणा छत्रपति, सावधान किन होई ॥६॥**

शब्दार्थ : होइगा = हो गा, आये गा। बिछोह = बियोग। किन होई = क्यों नहीं हो जाते।

भावार्थ : कबीर जी चेतावनी देते हुए कहते हैं कि चाहे कोई राजा हो, राणा हो या छत्रपति हो, सबके लिए एक दिन ऐसा आएगा, जब उन्हें यह संसार छोड़ना पड़ेगा। अर्थात् सब को एक न एक दिन सब सांसारिक वस्तुएँ यही छोड़ मरना पड़ेगा। इसलिए हे मनुष्य! जीवन रहते ही सावधान क्यों नहीं हो जाते? पभु के प्रति क्यों नहीं जाते।

विशेष :

1. वैभव, विलास के प्रति चेतावनी है।
2. जीवन नाशवान्, क्षणभंगुर है, अतः इसको सुरक्षित करने समस्त साधन व्यर्थ है।

3. जीवन का अर्थ ईश्वर प्राप्ति है, यही अन्तिम सत्य है।

कबीर पटण कारिवॉ, पंच चोर दस द्वार।

जग राणों गढ भेलिसी, सुमिरि ले करतार ॥७॥

शब्दार्थ : पटण = पत्तन, नगर। कारिवॉ = काफिला, सार्थवाह, सौदागरों का कबीला। पंच चोर = पाँच इंद्रियों अथवा काम, क्रोध, मद, लोभ। दस द्वार = दो नेत्र, दो कान, दो नासिका। ब्रह्मरंध्र। भेलिसी = नष्ट कर देगा, भेदेगा। करतार = स्त्रप्य।

भावार्थ : विवेच्य साखी में कबीर सांसारिकों को, शरीर-सुख को सर्वस्य मानने वाले लोगों को व्यापार-रूपक के माध्यम से समझाते हुए कहते हैं कि -इस शरीर रूपी नगर में व्यापार रूपी कारिवॉ आकर अपने आप को सुरक्षित समझने लगता है परन्तु इस नगर (शरीर) में भी पाँच-लोभ, मोह, क्रोध आदि चोर बैठे हैं तथा इसमें दस इन्द्रियाँ रूपी द्वार खुले रहते हैं। अतः यह सुरक्षित स्थान नहीं है। परन्तु अज्ञानी जीव इसे सुरक्षित समझकर इसी को बनाने में लगा रहता है, इतना ही नहीं इसके बावजूद भी यमराज इस शरीर गढ़ पर आक्रमण करके इसे क्षणभर में नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। इसलिए हे मनुष्य तू इसे झूठे क्षणिक भुलाने में न आ। ईश्वर का स्मरण करके अपने आप को सुरक्षित कर ले।

विशेष :

1. इस साखी में शरीर को पत्तन या नगर, सांसारिक व्यापारियों का कबीला, काम, क्रोधि को पाक्रच चीर दस विवरों को दस द्वार बतलाया गया है।
2. इन चारों और द्वारों सहित इस शरीर रूपी दुर्ग को सुरक्षित समझना भ्रम है।

कबीर कहा गरबियौ, इसे जीवन की आस।

टेसू फूले दिवस चोरि, खंखर भये पलास ॥८॥

शब्दार्थ : गरलियौ = गर्व करना। आस = आशा। टेसू = पलास का फूल। खंखर = सुखा हुआ, उजड़ा हुआ।

भावार्थ : इस जीवन की कोई आशा नहीं करनी चाहिए। अर्थात् जीवन क्षणभंगुर है इसलिए इसका भरोसा करना व्यर्थ है। यह जीवन पलाश के फूल की तरह चारदिन का है जैसे पलाश का फूल थोड़े दिनों में ही मुरझा कर गिर जाता है, वैसे ही जीवन भी चार दिन (बाल्यकाल, किशोरावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था) के बाद समाप्त हो जाता है।

विशेष :

1. जीन की पलाश पुष्ट से तुलाना द्रष्टव्य है।
2. चार दिन से चार अवस्थाओं का द्यौतित कराया गया है।
3. निदर्शना अलंकार है।

कबीर कहा गरबियौ, देही देखि सुरंग।

बीछड़ियां मिलिबौ नहीं, ज्यूँ काँचली भुवंग ॥९॥

शब्दार्थ : गरबियौ = गर्व करना। देहो = शरीर। सुरंग = सुन्दर। बीछड़ियां = बिछुड़ने पर। काँचली = केंचुल। भुवंग = भुजंग, सर्प।

भावार्थ : इस शरीर की सुन्दरता को देख कर गर्व क्यों करते हो? यह शरीर तो जीव के लिए उसी प्रकार का एक आभरण है, जिस प्रकार साँप के लिए उसकी केंचुली, यदि एक बार शरीर छूट गया तो पुनः नहीं मिलेगा।

विशेष :

1. शरीर की केंचुली से तुलना में अत्यंत सटीक और प्रभावपूर्ण उपमान है।

2. शारीरिक सौंदर्य क्षण भंगुर, नाशवान् एक भ्रमात्मक है। अतः गर्व का कारण नहीं हो सकता।

कबीर कहा गरबियौ। ऊँचे देखि अवास।

काल्हि पर्युं भैं लैटणा, ऊपरी जामैं घास ॥१०॥

शब्दार्थ : गरबियौ = गर्व करना। अवास = आवास, महल। काल्हि पर्युं = कल परसों। लेटणां = लेटना। ऊपरि = ऊपर। जामैं = जम जाना।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि हे मनुष्य। इन ऊँचे-2 महलों को देखकर क्यों गर्व कर रहे हों? क्योंकि तुम्हें तो कल-परसों में (शीघ्र) ही मरने पर जमीन के नीचे मिट्टी में सोना पड़ेगा, जिस पर घास उगेगी?

विशेष :

1. अन्तिम अवस्था, परिणाम को सदा ध्यान में रखना चाहिए। इसी के लिए चेतावनी देते हैं।

कबीर कहा गरबियौ, चाँम लपेटै हड़।

हैंबर ऊपरि छत्र सिरि, ते भी देवा खड ॥११॥

शब्दार्थ : चाँम = चमड़े में। हड़ = हड्डियां। हैंबर = हयवर, श्रेष्ठ घोड़ा। ऊपरि = ऊपर। सिरि = सिर पर। देवा = दिए जाएँगे।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं इस शरीर पर तुम क्यों गर्व करते हो। यह तो चमड़े से लपेटे हुई हड्डियों का समुदाय है। जो लोग श्रेष्ठ घोड़ों पर चढ़ते हैं और जिनके सिरों पर छत्र लगते हैं, वे भी एक दिन मिट्टी में दफना दिए जाते हैं।

विशेष :

1. गर्व, अभिमान नाश का मूल है।
2. नश्वर चीजों पर सम्पत्तिदि पर गर्व करना व्यर्थ है।
3. अन्तिमावस्था सभी को मिट्टी में मिल जाना है।
4. जीवन-सत्य का आभास करवाया गया है।

कबीर कहा गरबियौ, काल गहै कर केस।

नां जाणौं कहां मारिसी, कै घरि कै परदेस ॥१२॥

शब्दार्थ : गहे = पकड़ रखे हैं। केस = बाल। नां जाणौं = न जाने। मारिसी = मारेगा।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं। कि हे मानव। क्यों तू व्यर्थ में अपने शरीर पर वर्ग करता है? समझ ले कि काल तेरे केश पकड़े हुए है। बस उसके मारने भर की देर है न जाने कहाँ मारेगा घर में या परदेस में। अर्थात् मौत कहाँ आनी है यह भी पता नहीं।

विशेष :

1. जीवन के साथ-साथ मृत्यु चलती है।
2. हम सदा काल की परिधि में ही रहते हैं।
3. मानवीकरण अलंकार है।

यहु ऐसा संसार है, जैसा सैंबल फूल।

दिन दस के त्यौहार काँ, झूठे रंगि न भूलि ॥१३॥

शब्दार्थ : सैंबल = सेमर का फूल।

भावार्थ : यह संसार सेमर के फूल के समान है, जो ऊपर से देखने में सुन्दर और आकर्षक प्रतीत होता है, किंतु उसके भीतर कोई तत्त्व नहीं होता। अल्पकाल के जीवन और उसकी ऊपरी चटक-मटक के भुलावे में नहीं आना चाहिए।

विशेष :

1. उपमा अलंकार है।
2. सैवल के फूल द्वारा संसार की व्यर्थता, निरर्थकता का बोध करवाया गया है।

जाँभण मरण बिचारि करि, कूड़े कांम निबारि।

जिनि पंथू तुझ चालणां, सोई पंथ सँवारि ॥१४॥

शब्दार्थ : जाँभण मरण = जीवन-मरण। विचारि करि = विचार कर। कूड़े = क्रूर, निकृष्ट। काँम = कर्म। निबारि = छोड़। पंथ = मार्ग। संवारि = सुधारते।

भावार्थ : कबीदास जी कहते हैं कि जन्म तथा मरण जैसे तथ्यों पर गहरा विचार करो अर्थात् यह समझ लो कि जीवन थोड़े दिन का है, अन्ततः तो मरना ही है। इसलिए निकृष्ट कर्मों को त्याग देना चाहिए और उसी मार्ग को प्रशस्त करना चाहिए जिस पर चल कर अनन्त में हरि के पास पहुँचा जा सके।

विशेष :

1. अन्तिम लक्ष्य को सदा ध्यान में रखकर व्यापार करना चाहिए।

बिन रखवाले बहिरा, चिड़ियै, खाया खेत।

आधा प्रधा ऊबरै, चेति सकै तो चेति ॥१५॥

शब्दार्थ : रखवाले = रक्षक गुरु। बाहिरा = बाहर ही बाहर। चिड़ियै = पक्षी विषय-वासना। प्रधा = पराध दिन का उत्तर पक्ष। खेत = क्षेत्र, जीवन।

भावार्थ : यह शरीर रूपी खेत बिना किसी सद्गुरु रूपी रक्षक के पड़ा है। अर्थात् कोई आध्यात्मिक गुरु न मिलने की वजह से विषय-वासना रूपी पक्षी हमारे इस जीवन को खा रहे हैं। कबीर जी कहते हैं कि दिन का पूर्वार्ध और परार्ध बीतने की स्थिति में है अर्थात् अब जीवन की संध्या आने ही वाली है। मनुष्य तू अब भी संभल जा और थोड़ा-बहुत जो बचा सके, उसे बचा ले अर्थात् अब भी अपना मन उस परम पिता (प्रभु) में लगा ले।

विशेष :

1. सद्गुरु के बिना जीवन व्यर्थ चला जाता है। अतः गुरु अनिवार्य है।
2. जो बीती सो बीती' आगे उम्र संभाल रे, वाली ध्वनि ध्वनित होती है।
3. आध्यात्मिक जीवन ही सही अथो. में जीवन है।
4. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

हाड़ जलै ज्यूं लाकड़ी, केस जलै ज्यूं घास।

सब तन जलता देखि करि, भया कबीर उदास ॥१६॥

शब्दार्थ : हाड़ = हड्डियां। जलै = जलती है। ज्यूं = जैसे

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि म त्पु के उपरान्त हड्डियां लकड़ी के समान जल जाती हैं और केश घास के समान। तथा सारा शरीर भी इसी प्रकार जल कर राख हो जाता है, इसे देख मे। उदास हो गया। अर्थात् एक विचित्र विराम मेरे मन में उत्पन्न हो गया।

विशेष :

1. आत्मा निकल जाने के पश्चात् शरीर की दशा का वर्णन हुआ है।
2. उपमा अलंकार है।

कबीर मन्दिर ढहि पड़या, सेन्ट भई सैबार।

कोई चेजारा चिणि गया, मिल्या न दूजी बार। ॥१७॥

शब्दार्थ : मन्दिर = घर, शरीर। सेंट = (स + ईट) ईट सहित। सैबार = घास-फूस। चेजारा = कारीगर। चुनने वाला। चिणि = युनना, बनाना।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि शरीर रूपी मन्दिर ढह गया और ईटों परन सेवार (घास-फूस) जम गया है। यह मन्दिर दुबारा नहीं बन सकता। क्योंकि जिस अद्भूत कारीगर हरि ने इसक निर्माण किया था, वह दूसरी बार मिला ही नहीं। अर्थात् यह शरीर क्षणभंगुर है। एक दिन यह नष्ट-भ्रंष्ट हो जाता है और जब यह दफनाया जाता है तो इस पर घास-फूस जम जाता है। इसलिए हमें इसका मोह त्याग देना चाहिए और प्रभु का स्मरण करना चाहिए जिसने इस शरीर को बनाया है।

विशेष :

1. यहाँ 'सेन्ट' शब्द स्पष्ट नहीं है, संदर्भानुसार ईट का ही कदाचित सेन्ट बना गया हो, ऐसा अनुमान है।
2. 'सैवार' भी इसी प्रकार का शब्द है, संदर्भ को देखते हुए इसे शतवर्त्य से विकसित माना जा सकता है।
3. रूपकतिशयोक्ति अलंकार है।

कबीर देवल ढहि पड़या, ईट भई सैबार।

करि चेजारा सौं प्रीतिडो ज्यौं ढहै न दूजी बार ॥१८॥

शब्दार्थ : देवल = देवालय, शरीर। ढहि पड़या = गिर गया, ध्वस्त हो गया। सैबार = घास-फूस। चेजारा = निर्माता, कारीगर। सौं = से। प्रीतिडी = प्रेम।

भावार्थ : यह शरीर रूपी देवालय गिर गया है अर्थात् ध्वस्त हो चूमका हैं इसकी ईटों पर घास-फूस जम गया है अर्थात् शरीर का माँस और हड्डियाँ जो दफनाई गई थीं उन पर अब घास-फूस जम गया हैं। इसलिए हे जीव तू इस शरीर को बनाने वाले निर्माता उस प्रभु से प्रेम कर, ताकि दूसरी बार शरीर रूपी देवालय के ढहने का अवसर ही न आए अर्थात् दूसरी बार शरीर ही धारण न करना पड़े और जन्म-मरण के बन्धन से हमेशा के लिए मुक्ति मिल जाए।

विशेष :

1. शरीर का निन्तर क्षरण हो रहा है, इसका रूप स्वरूप परिवर्तित हो रहा है। अंतः इसका ध्यान न करके इसके निर्माता का ध्यान ही सही ध्यान है।
2. जन्म-मरण के बंधन से छूटना-ही एकमात्र इस शरीर में आकर कमाई करना है। वह प्रभु प्रेम से ही संभव है। अतः इसक के लिए प्रयत्नरत होना चाहिए।
3. रूपकतिशयोक्ति अलंकार है।

कबीर मंदिर लाष का, जड़ियाँ हीरे लालि।

दिवस चारि का पेषणां, बिनस जाइगा काल्हि ॥१९॥

शब्दार्थ : लाष = लाक्षा। जड़ियाँ = जड़े हुए हैं। पेषणां = प्रेक्षण, देखना, तमाशा।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि यह शरीर लाक्षणिक ह के समान है। इसमें रूपवान् अंगों के हीरे और लाल जड़े गये हैं। अर्थात् इसे बहुमूल्य बनाया गया है। किंतु यह अल्पकालीन है अर्थात् यह कुछ दिनों का दिखावा है -आज है तो कल नष्ट हो जाएगा।

विशेष :

1. शरीर अर्थात् सांसारिकता में कितना ही मन लगाओं, कितनी ही उन्नति करो, परंतु शरीर की क्षरणशीलता की भान्ति ही संसारिकता भी एक-एक दिन विनष्ट हो जायेगी।
2. यह दिनों-मात्र का ही खेल है। क्षणिक सुख है। पुनः नरक दुःख अवश्यभावी है। वह दुःख न झेलना पड़े इसके लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

कबीर धूलि सकेलि करि, पुड़ी ज बांधी एह।

दिवस चारि का पेषणां, अंति षेह का षेह ॥२०॥

शब्दार्थ : सकेलि =संग्रह, समेट कर। पुड़ी = पुड़िया, पिंड, गठरी। ज = जा । एह = यह। षेह = धूल, मिट्टी।

भावार्थ : यह शरीर ऐसा है जैसे कि किसी ने धूल की पुड़िया बांधकर रख दी हो अर्थात् यह शरीर मिट्टी से बनाया गया है। यह मात्र चार दिनों का दिखावा है। अन्त में जिस मिट्टी से यह शरीर बना है इस में मिल जाएगा।

विशेष :

1. शरीर की क्षणभंगुरता ध्वनित होती है।
2. ईश्वर भजन के लिए सुचेत किया गया है।

कबीर जे धंधे सौ धूलि, बिन धंधे धूले नहीं।

ते नर बिनठे मूलि, जिनि धंधे में ध्याया नहीं ॥२१॥

शब्दार्थ : धंधे = धंधा, कर्म, कार्य। दौड = धूप। धूलि = स्वच्छ होना, धूला। बिनठो = विनष्ट हुए। मूलि = जड़ से, मूल से। ध्याया = ध्यान किया या दौड़े।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि कर्मों से भागने से काम नहीं चलेगा यदि कर्म को करते रहोगे तो तुम्हारा अन्तःकरण धूल जाएगा। तुम स्वच्छ हो जाओगे। बिना कर्म किए स्वच्छता नहीं आती। कर्म से कोई नष्ट नहीं होता। वही व्यक्ति मूलतः नष्ट हो जाते हैं जो कर्म में ईश्वर का ध्यान नहीं रखते। अर्थात् कर्म करने के साथ-साथ हमें ईश्वर को भी स्मरण करते रहना चाहिए।

विशेष :

1. कर्म के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है।
2. कर्म करते हुए ईश्वर पूजा-भजन करते रहना चाहिए।
3. कर्म का त्याग नहीं अपितु स्वीकार, ही ईश्वर पूजा है।

कबीर सुपनै रैनि कै, ऊघड़ि आछे नैन।

जीव पड़या बहु लूटि मैं, जागै तो लैण न दैण ॥२२॥

शब्दार्थ : सुपनै =सपना, स्वप्न। रौनि = राम। ऊघड़ि = खुले गए। नैन = आंखे।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जिस प्रकार आंख खुलने पर स्वप्न में दिखने वाला सब कुछ मिथ्या हो जाता है उसी प्रकार जीवन में जब ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं तो हमें पता चला है कि जीवन अज्ञान रूपी रात्रि का स्वप्न है। उसमें जीव नाना प्रकार के सुख-दुःख, लाभ हानि का अनुभव करता है। जो सब मिथ्या है।

विशेष :

1. जीव की अज्ञानावस्था रात्रि के समान है।
2. ज्ञानावस्था ही सत्य का बोध करवाने में सक्षम है, इस अनुभूति के बाद संसारके मिथ्यात्व स्वयं सिद्ध हो जाता है।
3. समासोक्ति अलंकार है।

कबीर सुपनै रैनि कै पारस जीप मैं । छेक।

जे सोऊँ तो दोह जणां, जे जागूँ तौ एक।।२३।।

शब्दार्थ : पारस =पत्थर। जिसके छूने मात्र से ही लोहा सोना बन जाता है, ब्रह्म। देक = भेद, अंतर।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि अज्ञान की रात में जब जीव स्वप्न देखता है तो ब्रह्म और जीव में सर्वथा भेद प्रतीत होता है। वह जब तक इस अज्ञान-निद्रा में रहता है, तब तक आत्मा और परमात्मा दो जान पड़ते हैं। किंतु जब वह इस अज्ञान-निद्रा से जागता है तो उसे दोनों ही एक प्रतीत होते हैं

विशेष :

1. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।
2. पारस, ब्रह्म का प्रतीक है।
3. ज्ञानावस्था एकत्व-अनुभूति है।

कबीर इस संसार में घणें मनिष मतिहीण।

राम नाम जाणों नहीं, आये टापी दीन।।२४।।

शब्दार्थ : टापा दीन =पट्टी बांधे हुए, अज्ञानी होना।

भावार्थ : संसार के अधिकतम मनुष्य बुद्धि-हीन है, मुख है। वह अपनी आंखों पर पट्टी बांधे हुए है। अर्थात् उनके ज्ञान-चक्षु विशेषों की पट्टी से ढके हुए है। यही कारण है की वो राम नाम को नहीं जानते।

विशेष :

1. टापा एक लाक्षणिक प्रयोग है। 'टापा देना' या बांधना एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है-पट्टी बांधना।

कहा कियौ हम आह करि, कहा करैंगे जाई।

इत के भए न उत के, चाले मूल माँ गँवाई।।२५।।

शब्दार्थ : इतके =इसके लोक के। भए = हुए। उत = परलोक।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मनुष्य पछताता है कि इस संसार में आकर उस ने कुछ नहीं किया। अर्थात् प्रभु-भजन नहीं किया। अब वह भगवान् के पास पहुंच कर क्या करेगा। वह तो न यहाँ का अर्थात् इस लोक का रहा न परलोक ही उसने संवारा। इस पर वह तो अपने संचित कर्मों की मूल पूंजी भी गवा चुका है।

विशेष :

1. सांसारिक कार्यों में व्यस्त रहकर जीवन को निरर्थक कर दिया है।
2. 'मूल गँवाई' शब्द में मूलधन अर्थ व्यंजित है। शरीर-अर्थ में नैसर्गिक सरलता लिया जा सकता है।
3. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

**आया अणआया भया, जे बहुरता संसार।
पड़या धुलावां गाफिलां गये कुबुधी हारि।।२६।।**

शब्दार्थ : आया = आना। अनआयो = न आने के बराबर। बहुरता = अत्याधिक, अनुरक्त। कुबुधी = कुबुद्धि के कारण।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मनुष्य संसार में आकर विषयों में फंसकर इतना अनुरक्त हो जाता है कि उसका इस संसार में आना न आने के बराबर हो जाता है क्योंकि यह शरीर विषयों में पड़ने के लिए नहीं बल्कि जीवन का विकास करने का है प्रभु से मिलने के लिए मिलता है। अपनी कुबुद्धि के कारण वह जीवन की बाजी हार जाता है अर्थात् जीवन व्यर्थ गँवा देता है।

विशेष :

1. संसार में आने का उद्देश्य आमोन्नति, जीवन का विकास।
2. 'बहुरता' वसतुतः बहुरता शब्द है, जिसका अर्थ है संसार में शत रहना।
3. गाफिला-काफिला है।
4. निदर्शना अलंकार है।

**कबीर हरि की भगति बिन, धिगि जीमण संसार।
धूवां केरा धौलहर जात न लागै बार।।२७।।**

शब्दार्थ : धिगि = धिकृ, धिक्कार। जीमण = जीवन। धौलहर = धवल ग ह, ऊँचा भवन, महल। बार = देर, विलम्ब।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि प्रभुभक्ति के बिना यह जीवन बेकार है। वह मानव जिसने जीवन पाकर में प्रभु का स्मरण नहीं किया उस पर धिक्कार है। जिस प्रकार धुएं का महल देखने में कितना ही सुन्दर क्यों न हो उसे उड़ते देर नहीं लगती। उसी प्रकार इस जीवन को भी खत्म होते देर नहीं लगती।

विशेष :

1. रूपक और दृष्टांत अलंकार है।
2. हरि भक्ति, स्मरण ही जीवन का सही अर्थों में प्रयोग है। शेष सभी व्यर्थ है।

**जिहि हरि की चोरी करो, गये राम गुण भूलि।
ते बिधना बागुल रचे, रहे अरध मुखि झूलि।।२८।।**

शब्दार्थ : बागुल = बगुला।

भावार्थ : जो व्यक्ति प्रभु के गुणों को भूलकर उनकी भक्ति से जी चुराता है विधाता उसे बगुला बना देता है जो कि मछली की खोज में नीचे सिर लटकाये रहता है। अर्थात् जो मनुष्य भगवान का भजन नहीं करता वह लोभ में फंस जाता है और लोभ की तृप्ति न होने के कारण सदा अतृप्ति के झूले में झूलता रहता है।

विशेष :

1. 'बागुल' शब्द के स्थान पर यदि 'गादुर' पाठ लिया जाए तो अर्थ सुन्दर और स्पष्ट हो जाता है। अर्थ होगा उनकी ईश्वर ने चामगादड़ के समान, उलटा झूलने वाला बनाया है।
2. गम्भीरप्रेक्षा अलंकार है।

**माटी मलणि कुँभार की, घड़ी सहै सिरि लात।
इहि औसरि चेत्या नहीं, चूका अब की छात।।२९।।**

शब्दार्थ : मबलणि = मिलाना, गूँथना, रौंदना। सिरि = सिर पर। औसरि = अवसर में, मौका। छत = दौंव।

भावार्थ : मिट्टी कुम्हार द्वारा भली जाती है। वह उसे आकार ग्रहण से पहले लातों से पीसता है। और इस के बाद ही मिट्टी का घड़ा बनता है। ऐसे ही मानव जीव अत्यन्त कष्ट सहने के बाद मिलता है और अनेक यातनाओं के बाद ही मनुष्य का जन्म होता है। मनुष्य को संसार में काल और कर्मों के अनेक दुख सहने पड़ते हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह जाग जाए। अर्थात् प्रभु भक्ति में लग जाए ताकि उसे जन्म मरण के बंधन से छूटकाना मिल जाए। परंतु यदि जीवन रहते सावधान नहीं हुए तो बार-बार जन्म मरण के दुस्सह दुःख को सहन करना पड़ेगा।

विशेष :

1. मानव जीवन की महत्ता को प्रतिपादित किया गया है।
2. कुम्हार द्वारा मिट्टी बनाने की विधि में जीव के कष्टों का वर्णन बहुत बन पड़ा है।
3. मानवीकरण अलंकार है।

इहि औसरि चेत्या नहीं, पसु ज्यूं वाली देह।

राम नाम जाण्या नहीं, अंति पड़ि मुख षेह ॥३०॥

शब्दार्थ : औसरि = अवसर, मौका। पसु = पशु। देह = शरीर। षेह = मिट्टी, धूल।

भावार्थ : इस मान-जीवन को पाकर भी यदि मनुष्य प्रभु भक्ति में नहीं लगा और केवल पशु की तरह केवल देह को पालता रहा अर्थात् आहार, निन्द्रा और अन्य विषयों में ही फंसा रहा। और राम नाम को नहीं पहचान सका तो अन्त में तुझे नष्ट हो मिट्टी में मिल जाना पड़ेगा।

विशेष :

1. उपमा अलंकार है।

राम नाम जाण्यो नहीं, लगी मोटी षोड़ि।

काया हाँड़ी काठ की, ना ऊ चढे बहोड़ि ॥३१॥

शब्दार्थ : षोड़ि = दोष, खोट। बहोड़ि = दुबारा, पुनः।

भावार्थ : यदि मानव जीवन पाकर भी मनुष्य राम-नाम की ओर नहीं लगा तो यह जीवन दोषपूर्ण हो जाएगा अर्थात् यह जीवन व्यर्थ हो जाएगा। यह शरीर काठ की हाँड़ी के समान है जो केवल एक बार ही आग पर चढ़ती है बार-बार नहीं। वैसे ही एक बार जीवन खम हो जाने पर बार-बार प्राप्त नहीं होता अर्थात् फिर राम भजन के लिए अवसर नहीं मिलेगा। इसलिए समय रहते ही खुद को राम भजन में लगा दो।

विशेष :

1. मानव शरीर, मनुष्य की योनि ही मुक्ति का साधन है।
2. काठ की हाँड़ी के समान यह जीवन दुर्लभ है। पुनः नहीं मिलेगा। अतः व्यर्थ न गँवाओं।

राम नाम जाण्यां नहीं, बात बिनंठी मूलि।

हरत इहां ही हारिया, परति पड़ी मुख धूलि ॥३२॥

शब्दार्थ : बिनंठी = विनष्ट, बिगड़ना। मूलि = जड़ से, आरंभ में।

भावार्थ : हे जीव, यदि तुझे राम नाम के महत्त्व को नहीं जाना तो फिर आरंभ में ही बात बिगड़ गई अर्थात् तु मुलतः नष्ट हो गया। संसार में धन, परा और कंचन कामिनी का हरण करता हुआ तू खुद को हार गया। अर्थात् तुम्हारे पुण्यों का

हरण हो गया। जब अन्त समय तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी तो तुम मिट्टी में मिल जाओगे। यह जन्म व्यर्थ ही चला जाएगा।

विशेष :

1. अन्तिम पंक्ति में अर्थान्तर सक्रमित वाच्य ध्वनि है।
2. हरित ह ही हरिमा' में सुन्दर व्यंजना है।

मानव सब का हरण करने चला था, किंतु उसने अपने को ही हरा लिया।

राम नाम जाण्यां नहीं, पत्न्यों कटक कुटुंब।

धंधा ही में मरि गया, बाहर हुई न बंब।।३३।।

शब्दार्थ : कटक =सेना, समूह। कुटेब = परिवार। बंब = रणनाद, यशोगाम।

भावार्थ : जिस व्यक्ति ने राम नाम नहीं जाना और अपना सारा जीवन एक सेना के समान विशाल कुटुम्ब को पालने में ही लगा दिया उस व्यक्ति का कभी यशोगान अथवा कीर्ति नहीं होती। वह संसारिक धंधों में ही फँकर मर जाता है।

विशेष :

1. मानव-जीवन की कीर्ति-यश, सांसारिकता की सकलता में न होकर, जीवन-उद्देश्य (प्रभुभक्ति) प्राप्त करने में है। इसी मूल सत्य पर बल दिया गया है।
2. यहाँ शब्द स्पष्ट नहीं है, एक अन्य साखी में 'बंधु' शब्द मिलता है, यह अधिक संगत प्रतीत होता है इसी प्रकार बाहर के स्थान पर 'भार्ह' शब्द उचित प्रतीत होता है।

मनिषा जनम दुलंभ है, देह न बारंबार।

तरवर थैं फल झड़ि पड़या, बहुरि न लागै डार।।३४।।

शब्दार्थ : मनिषा =मनुष्यं तरवर = व क्ष, पेड़।

भावार्थ : कबीर जो कहते हैं कि यह मानव जीवन बहुत दुर्लभ है। यह बार-बार नहीं मिलता। जैसे व क्ष से जब एक बार फल गिर पड़ता है, तब वह फल उस शाखा से पुनः नहीं जुड़ता, वैसे ही मानव जीवन का यदि पतन हो जाए तो यह दुबारा नहीं मिलता। इसलिए हमें समय रहते ही साधना कर लेनी चाहिए।

विशेष :

1. मानव जन्म पाकर ईश्वर भजन करना चाहिए, वस्तु ध्वनि से ध्वक्ति होता है।
2. रूपक अलंकार है।

कबीर हरि को भगति कर, तजि विषिया रस चोज।

बार बार नहीं पाइए, मनिषा जन्म की मौज।।३५।।

शब्दार्थ : चौज़ =हँसी, विनोद, आनन्द। मनिषा = मनुष्य।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! मानव जीवन का शुभ अवसर बार-बार नहीं मिलता। इसलिए तू विषय-रस और अन्य संसारिक आनन्द छोड़ दे ओर प्रभु भक्ति में लग जा।

विशेष :

1. मानव जन्म की दुर्लभता और विलक्षणता पर प्रकाश डाला गया है।

2. जीवन का लक्ष्य प्रभु है- यही इसकी सफलता हैं।
3. रूपक अलंकार है।

**कबीर यह तन जात है, सकै तो ठाहर लाइ।
कै सेवा करि साध की, कै गुण गोबिंद के गाइ॥३६॥**

शब्दार्थ : ठाहर = ठिकाने लगाना।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि यह शरीर धूट रहा है अर्थात् यह शरीर नश्वर है और मृत्यु आ रही है। इसलिए इस शरीर को ठिकाने लगा दो अर्थात् सदुपयोग कर लो। या तो साधु संतों की सेवा कर या तो गोबिंद के गुणगान में लग जा। और इस प्रकार जीवन को सार्थक कर ले।

विशेष :

1. शरीर की सार्थकता या सदुपयोग इसी में है कि या तो -साधु-सेवा' या अन्यथा 'प्रभु गुण' गया जाए।
2. प्रथम पंक्ति में अर्थान्तर संक्रमित वा ध्वनि है।

**कबीर यह तन जात है सके तो लेहु बहोड़ि।
नागे हाथूं ते गए, जिनके लाख करोड़ि॥३७॥**

शब्दार्थ : लेहु बहोरि = लोटा ले। नागे हाथूं = खाली हाथ।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हे जीव! यह तेरा मानव शरीर व्यर्थ में ही नष्ट हो रहा है। अर्थात् यह बिना प्रभु भक्ति और साधना के सिर्फ विषयों और अन्य सांसारिक कार्यों में फंसकर ही रह गया है। हो सके तो इस जीवन को सांसारिक बंधनों से बचा ले क्योंकि ये सांसारिक चीजें किसी काम की नहीं हैं। जिन्होंने इस संसार में लाखों करोड़ों कमाया है वह भी यहाँ से खाली हाथ ही गए हैं।

विशेष :

1. प्रस्तुत साखी में 'सके तो लेहुं होड़ि' का सीधा अर्थ प्रतीत होता है-कि हो सके तो ऐसा सत्कर्म कर कि फिर तुझे मानव जीवन मिल सके, जिससे तू साधना कर सके। परन्तु इससे अर्थ की संगति नहीं बैठती। अतः उपर्युक्त अर्थ ही ठीक है।

**यह तनु काचा कुंभ है, चोट चहूँ दिसि खाइ।
एक राम के नाँव बिन, जदि तदि प्रलै जाइ॥३८॥**

शब्दार्थ : तन =शरीर। काचा कुंभ = कच्चा घड़ा।

भावार्थ : यह शरीर कच्चा घड़ा है। जिस प्रकार कच्चे घड़े को कुम्हार के अनेक थपेड़े सहन करने पड़ते हैं, उसी प्रकार मनुष्य को जीवन में अनेक प्रकार की यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। राम-नाम के आभाव के बिना उसे जन्म-जन्मान्तर तक जब-तब मिटना पड़ता है अर्थात् जन्म लेना और मरना पड़ता है। इसलिए केवल राम-नाम ही मनुष्य के लिए शान्ति प्राप्त करने का एक मात्र उपाय है।

विशेष :

1. 'रूपक' अलंकार है।
2. अर्थ ध्वनि होता है कि राम-नाम ही अमरता प्रदान करता है, उसके लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।

**यह तन काचा कुंभ है, लियाँ फिरै था साथि।
ढबका लागा फूटि गया, कधू न आया हाथि।।३६।।**

शब्दार्थ : तन = शरीर। साथि = साथ में। ढबका = धक्का, ठेस। फूटि = फूट।

भावार्थ : यह शरीर कच्चे घड़े के समान है, जिस पर मनुष्य इतना गर्व करता है। जैसे कच्चा घड़ा थोड़ी सी ठेस पहुंचने पर टूट जाता है और फिर हाथ में कुछ नहीं आता उसी प्रकार यह शरीर भी नश्वर है। इस का कोई ठिकाना नहीं। और म त्तु के बाद कुछ हाथ नहीं लगता।

विशेष :

1. 'रूपक' अलंकार है।
2. अर्थ ध्वनित होता है-शरीर क्षणभंगुर है अन्तः आत्मकल्याण की चिंता करनी चाहिए।

**काँची कारी जिनि करै, दिन दिन वधै बियाधि।
राम कबीरै कचि भई, याही ओषदि साधि।।४०।।**

शब्दार्थ : काँची कारी = टालमटोल करना। वधे = बढ़ना। बियाधि = रोग। साधि = भलीभाँति प्रयोग करना।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि विषय-भोगों से कच्चे काम मत करो। यह कर्म नाशवान् होते हैं और इस ने केवल व्याधियाँ (रोग) ही बढ़ते हैं। राम-नाम के प्रति सुरुचि का उत्पन्न होना ही सबसे उत्तम जीवन सार्थक होगा। इसलिए इसी राम-नाम रूपी औषधि का भलीभाँति प्रयोग करो।

विशेष :

1. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

**कबीर अपने जीवतैं, ए दोह बातैं धोइ।
लोग बड़ाई कारणै, अछता मूल न खोइ।।४१।।**

शब्दार्थ : अछता = अक्षत, अछूता, अखण्ड आत्मा। मूल = मूलधन, पूंजी। खोइ = नष्ट होना, खो जाना।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि तुम अपने जीवन से दो बातों को निकाल दो अर्थात् उनके प्रति अपने मन से लालसा निकाल दो, एक तो लोभ दूसरा आत्म प्रशंसा की चाह। इन दोनों के कारण अपनी अखण्ड आत्मा रूपी पूँजी को मत खोओ।

विशेष :

1. यहाँ अछता शब्द में श्लेष है। इसके दो अर्थ हैं
प्रथम अर्थ-विद्यमान या रहते हुए।
द्वितीय अर्थ- अक्षत या अखण्ड।
प्रथम -अर्थ में-इन दोनों दोषों के कारण अपने इस विद्यमान आत्मा रूपी पूँजी को मत खोओ।
द्वितीय अर्थ में-अपनी अखण्ड आत्मा रूपी पूंजी को मत खोओ। दोनों अर्थ संगत हैं।

**खंभा एक गइंद दोइ, क्यूं करि बंधिसि बारि।
मानि करै तो पीव नहीं, पीव तौ मानि निवारि।।४२।।**

शब्दार्थ : इंद = गजेन्द्र, हाथी, गायन्द। बारि = द्वार पर। मानि = अहंभाव, अंता-ममता। निवारि = निकाल।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हे जीव! खंभा एक ही है और हाथी दो हैं। दोनों हाथियों को एक ही साथ एक खंभे से अनेक द्वार पर तू कैसे बांध सकेगा। ठीक इसी प्रकार एक मन में तू अहंभाव और प्रभु भक्ति को एक साथ नहीं रख सकता। यदि तू अहंभाव में रहता है तो प्रिय प्रभु नहीं रह सकते और यदि प्रभु को चाहते हो तो मन से अहंभाव को निकालना पड़ेगा।

विशेष :

1. 'प्रेम शलि अति सौकरी' वाली ध्वनि व्यंजित होती है।
2. अन्योक्ति, अर्थान्तर न्यास अलंकार है।

दीन गँवाया दूनी सौं, दूनी न चली साथि।

पाइ कुहाड़ा मारिया, गाफिल अपणै हाथि।।४३।।

शब्दार्थ : दीन = धर्म दूनी सौं = दुनिया के साथ, संसार के साथ। पाइ = पैर। कुहाड़ा = कुल्हाड़ी। गाफिल = असावधान। हाथि = हाथ में।

भावार्थ : कबीर कहते हैं हे जीव! तुमने संसार के मोह में अपना धर्म गंवा दिया है। परन्तु यह दुनिया तेरे मरने के बाद तेरे साथ नहीं जाएगी। तू इतना असावधान है कि अपने ही हाथों अपने पैर में तूने कुल्हाड़ी मार ली है अर्थात् अपने मोह के कारण तूने स्वयं अपना जीवन नष्ट कर लिया है।

विशेष :

1. 'पाइ कुहाड़ा मारिया' एक प्रसिद्ध लोकोक्ति हैं। इसी के माध्यम से कबीर सांसारिकता की क्षणभंगुरता को समझा रहे हैं।

यह तन तौ सब बन भया, करंम भए कुहाड़ि।

आप आप कूँ काटिहैं, कहैं कबीर बिचारि।।४४।।

शब्दार्थ : बन = वन। कुहाड़ि = कुल्हाड़ि

भावार्थ : यह शरीर वन के समान है, और कर्म कुल्हाड़ी बन गये हैं। कबीर विचार कर रहे हैं कि हे जीव-तू अपने ही कर्म रची कुल्हाड़ी से अपने जीवन रूपी वन को काट रहा, विनष्ट कर रहा है। यह तू स्वयं अपना नुकसान आप कर रहा है। स्वयं अपना दुश्मन बन गया है।

विशेष :

1. रूपक अलंकार है।

कुल खोयां कुल ऊबरै, कुल राख्यां कुल जाइ।

राम निकुल कुल भेंटि लै, सब कुछ रह्या समाइ।।४५।।

शब्दार्थ : कुल = कुटुम्ब, ससीम। कुल = समग्र पूर्ण ब्रह्म। निकल = कुलहीन, सीमाहीन, असीम। भेंटि लै = समर्पण कर दे। ऊबरै = बचता है।

भावार्थ : जो केवल ससीम, कुटुम्ब, वंश आदि के पालन में पड़ा रहता है वह वास्तविक कुल अर्थात् पूर्ण ब्रह्म या भूमा का खो देता है। ससीम, कुटुम्ब, वंश आदि के मोह को त्याग कर ही असीम, पूर्ण या सर्वस्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। राम निकुल है, अर्थात् वह कुटुम्ब आदि परिसीमाओं से सीमित नहीं हैं। हे मनुष्य तू उसी में वंशादि ससीम का समर्पण कर दे। उसी में ससीम समाया हुआ है, अर्थात् वह सब में व्याप्त है।

विशेष :

1. इस साखी में 'निकुल' राम का विशेषण है, यदि निकुल को क्रिया-विशेषण के रूप में लिया जाए तो अर्थ होगा-निकुल होकर अर्थात् कुलादि की सीमाओं को छोड़कर तू कुल को राम में समर्पित कर दे।
2. यमक और विरोधाभास अलंकार है।

दुनियां के धोखे मुवा, चलै जु कुल की कांणि।

तब कुल किसका लाजसो, जब ले धरचा मसांणि।।४६।।

शब्दार्थ : कांणि = मर्यादा। लाजसी = लज्जित होना। मसांणि = श्मशान।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि जो कुल-मर्यादा के चक्कर में पड़े रहते हैं, वे इसी संसार के भुलावे में मारे जाते हैं। वे यह नहीं सोचते कि मरने के पश्चात जब कुल को महत्त्व देने का आधार शरीर ही श्मशान में पड़ा होगा, तब किस का कुल लज्जित होगा? अर्थात् किसके कुल की प्रतिष्ठा का प्रश्न रह जायगा? अर्थात् जिस कुल के चक्कर में तू पड़ा रहता है, वह अन्त समय तेरे कोई काम नहीं आएंगे।

विशेष :

1. कुल सम्मान अभिमान व्यर्थ, झूठा है।
2. अतः इसकी सीमाओं का अतिक्रमण करके मुख्य कुल (राम) की मर्यादा, प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नरत रहना ही सच्चे कुलशील का प्रमाण है।
3. यमक और वक्रोक्ति अलंकार है।

दुनियाँ भाँडा दुख का, भरी मुहांमुख भूष।

अदया अलह राम की, कुरलै ऊँणी कूष।।४७।।

शब्दार्थ : भाँडा = वर्तन, पात्र। मुहां मुख = लबालब। भूष = तृष्णा, चाह। अदया = दया बिना। कुरलै = चिल्लाना, किलोल करना।

भावार्थ : यह संसार तृष्णा से लबालब भरे पात्र के समान है। अतः यह दुःख का भण्डार है। इसमें पूर्ण तृप्ति के लिए खोज करना व्यर्थ है। अल्लाह या राम की दया के बिना यह तृष्णा समाप्त नहीं हो सकती। हे जीव! सारा संसार एक अतृप्त वासना का भण्डार है तो ऐसे संसार में किस कोष या खजाने के लिए चीखता रहता है?

विशेष :

1. यहाँ 'भूष' का तात्पर्य संदभानुसार 'भूसा' है। अर्थ है कि दुनिया ऊपर तक सारहीन विषयरूपी भूसे से भरी हुई है।
2. रूपक तथा रूपकातिशयोक्ति अलंकार की संसृष्टि है।

जिहि जेवड़ी जग बंधिया, तूँ जिनि बंधे कबीर।

हैसी आटा लूणें ज्यूँ, सोना सँवाँ शरीर।।४८।।

शब्दार्थ : जेवरी = रस्सी, हैसी = हो जायेगा, लूणें = नमक। सँवाँ = समान।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जिस माया की रस्सी से जगत् बंध हुआ है, हे जीव तूँ उसमें मत फँस। यदि तूँ उसमें फँसता है तो तेरा यह सोने के समान बहुमूल्य शरीर अर्थात् मानव जीवन का व्यक्तित्व वैसे ही हो जायेगा जैसे आटे में नमक। अतः जिस प्रकार आटे में नमक घुल-मिल जाता है, उसे पथक नहीं किया जा सकता, उसी भाँति हे जीव, तू माया में लिप्त हो जाने पर अपने व्यक्तित्व को ही घुला बैठेगा, अर्थात् तू उससे पथक नहीं हो पायेगा।

विशेष :

1. उपमा और रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।
2. आटा-नमक-माया सुंदर, सटीक और प्रभावपूर्ण प्रतीक बन पड़े है।

कहत सुनत जग जात है, विषै न सूझै काल।

कबीर प्यालै प्रेम के, भरि-भरि पिवै रसाल।।४६।।

शब्दार्थ : जग = संसार के लोग। जात है = नष्ट हो रहे है। रसाल = मधुर।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि यह संसार विभिन्न प्रकार की चर्चा करते हुए जीव व्यतीत कर देता है। विषय -वासनाओं = वमें लिख रहने के कारण उन्हें काल (मृत्यु) की सुधि नहीं रहती; वे सिष का प्याला पीते रहते हैं, उसी में भूले रहते हैं। उन्हें यह नहीं सूझता की जो शरीर और इन्द्रियाँ विषमभोग कर रही है।, वे शीघ्र ही काल के गाल में चली जायेंगी। परंतु कबीर जैसे संत विषय के प्याले को मुख ले नहीं लगाते, वे मधुर प्रेम से परिपूर्ण प्याले को भर-भर कर पीते है। इसीलिए उन्हें काल भी कोई चिंता नहीं होती।

विशेष :

1. रूपक अलंकार है।

कबीर हद के जीव सूँ, हित करि मुखौं न बोलि।

जे लागे बेहद सूँ, तिन सूँ अंतर खोलि।।५०।।

शब्दार्थ : हद के जीव सूँ = सीमाओं में बंधे हुए लोग। हित करि = प्रेम पूर्वक, मुखौं = मुख से। बेहद् = असीम, अंतर खोलि = हृदय खोल कर।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि सांसारिकता से बंधे हुए मनुष्यों के साथ प्रेमपूर्वक बोलना ठीक नहीं। अन्यथा तुम भी उन लोगों की बातों में फँस जाओगे। जो साधक असीम में अनुरक्त है, उन्हीं से तुम अपने हृदय की बात कहो। उन्हीं का संग करो।

विशेष :

1. संगत के प्रभाव प्रभावित करता है।
2. ससीम, असीम के माध्यम से मनुष्य (साधक) को सत्मार्ग समझाया गया है।
3. निरुद्ध उपादान लक्षण है।

कबीर केवल राम की, तूँ जिनि छाड़े ओर।

धण अहराणि विचि लोह ज्युँ धणी सहै सिर चोट।।५१।।

शब्दार्थ : ओट = अवलम्ब, सहारा। घन = हथौड़ा। अहरण = निहाई। सिरि = सिर पर।

भावार्थ : कबीर कहते है कि हे जीव तूँ केवल प्रभु की शरण में जा, केवल उसी को अपना अवलम्ब बना। वही तुझको सब दुःखों से छुटकारा दिला सकता है। अन्यथा जैसे अहरण (निहाई) पर रखा हुआ लोहा हथौड़े की चोट से पीटा जाता है, वैसे ही तुझे भी सिर पर सांसरिक दुःखों की चोट सहनी पड़ेगी।

विशेष :

1. उपमा और उदाहरण अलंकार है।

**कबीरै केवल राम कहि, सुध गरीबी झालि।
कूड़ बड़ाई बूड़सी, भारी पड़सी काल्हि।।५२।।**

शब्दार्थ : झालि = होती है, कुड़ेर (कुल) तुच्छ।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हे भटके हुए मनुष्य तू केवल राम का नाम ले, गरीबी में ये ही भगवान की सुध रहती है। कूड़े जैसे तुच्छ या कुल के बड़प्पन में तू बेकार ही डूब रहा है। मरने पर यह बड़प्पन तेरे लिए बोझ बन जायेगा। अतः प्रतिष्ठा की चिंता किए बिना गरीबी में ही भगवान् का भजन कर लें।

विशेष :

1. यहाँ 'झालि' और कूड़ दोनों शब्द मराठी के हैं। सम्भवतः राजस्थान में साखियों के संकलन में ऐसी साखियों का भी संकलन हो गया हो जो कि मराठी क्षेत्र के संतों की हो।
2. कुछ साखियों में कूड़ के ख्यान पर क्रूर शब्द मिलता है जिसका अर्थ है 'व्यर्थ' ही।

**काया मंजन क्या करै, कपड़ घोड़म धोइ।
उजल हूवा न छूटिए, सुख नीदड़ी न सोह।।५३।।**

शब्दार्थ : मंजन = स्नान। धोड़म = धोकर, उजल = उजज्वल स्वच्छ। न छूटिए दुटकारा नहीं पाएगा, मुक्त नहीं होगा।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हे जीव! तूने स्वच्छता के वास्तविक मर्म को नहीं समझा है। तू समझता है कि शरीर और वस्त्रों की सफाई से ही स्वच्छ हो जायेगा। किंतु वास्तविक स्वच्छता मन की है। तू शरीर और कपड़ों को धोकर स्वच्छता का व्यर्थ आडम्बर करता है। काया और वस्त्रों के स्वच्छ होने से तु मुक्त नहीं होगा। इसलिए बाह्य स्वच्छता को वास्तविक स्वच्छता समझते हुए निश्चित होकर मत रह। सब आन्तरिक परिष्कार का प्रयास करता रह।

विशेष :

1. बाह्य दिखावा व्यर्थ है, कल्याण के लिए आन्तरिक स्वच्छता की आवश्यकता है।

**अजल कपड़ा पहरि करि, पान सुपारी खाँहि।
एक हरि के नौव बिन, बाँधे जमपुरि जाँहि।।५४।।**

शब्दार्थ : नौण = नाम सुमरिण, बाँचौ = बंधकर। पाप = माया के बंधनों से बंधकर।

भावार्थ : कबीर दास कहते हैं, तू उज्ज्वल, सुंदर साफ बाह्य स्वरूप द्वारा और मुख को सुशोभित करने वाले पान-सुपारी पदार्थों के सेवन द्वारा, तू अपने आप को बहुत ऊँचा समझता है। परंतु आन्तरिक शुद्धि-भजन बिना यह सभी व्यर्थ हैं। केवल हरि स्मरण से ही मुक्ति मिलेगी। काल के पाश में बंधे हुए ऐसे लोग अंत में यमपुरी जाते हैं, और उन्हें नकर की यातना भोगनी पड़ती है।

विशेष :

1. विनोक्ति अलंकार है।

**तेरी संगी कोई नहीं, सब स्वारथ बंधी लोइ।
मनि परतीति न उपजै, जीव बैसास न होइ।।५५।।**

शब्दार्थ : लोह = लोग। परतीति = प्रतीति। बैसाप = विश्वास।

भावार्थ : हे जीव तेरा कोई वास्तविक साथी नहीं है सब लोग अपने-अपने स्वार्थ में बंधे हुए हैं किंतु तू ऐसा अज्ञानी है कि इस कटु सत्य के प्रति तेरे मन में प्रतीति नहीं होती और न तेरे हृदय में विश्वास जमता है। कोई भी तेरे साथ जाएगा, तू अपना मार्ग स्वयं खोज।

विशेष :

1. संसार की असारता पर प्रकाश डाला गया है।
2. जीव के अविश्वासी (माया-प्रभाव) के प्रति सचेत किया गया है।

मोड़ विडारणें बाप विड़, हम भी मंझि बिडोइ।

दरिया केरी नाव ज्यू, संजोगे मिलियोह।।५६।।

शब्दार्थ : बिडारणों = बिरानी, बेगाना, पराया, गैर। बिड़ = पराया। विडोह = पराए।

भावार्थ : संसार में सभी संबंध संयोजनक और क्षणिक होते हैं। इनकी तू अपना, स्थायीन समझ, तेरा आत्म स्वरूप ही तेरा अपना है। माँ भी पराई है, बाप भी पराया हैं हम सभी पराए लोगों के बीच में ही है। इनमें से कोई अपना निजी व्यक्ति नहीं है। संसार में हम लोग उसी प्रकार संयोग वश मिल जाते हैं जैसे भिन्न-भिन्न स्थानों से आई हुई नौकाएँ समुद्र या नदी में संयोग वश मिल जाती है।

विशेष :

1. व्यंजना से नौका भल वस्तु और समुद्र जल दोनों का संयोगवश मिलन हो जाता है। अर्थात् माता-पिता और मध्य में 'हम' (पुत्र) यह सभी संयोग वश बना हुआ है।
2. 'संयोग' शब्द में श्लेष का चमत्कार है जिसका एक अर्थ है-अकस्मात् और दूसरा है-मिल जाने से।
3. उपमा और श्लेष अलंकार है।

इस प्रघर उन घर, बड़जरण आए हाट।

करम किराँणा बेचि करि, उठि ज लागे बाट।।५७।।

शब्दार्थ : प्रघर = प्रर फर संसार। बड़जरण = वाणिज्य, व्यापार। हाट = बाजार, किराणों = सोदा। वाट = मार्ग।

भावार्थ : यह संसार जीव का नैसर्गिक धाम नहीं है। वास्तविक धाम तो केशव धाम है, जहाँ से हम आए हैं। संसार एक बाजार के समान है, जहाँ पर लोग वाणिज्य के लिए आते हैं और अपना कर्मरूपी सौदा बेच कर अपने-अपने मार्ग पर चले जाते हैं। इसलिए हे जीव! तू संसार को अपना वास्तविक धाम न समझ प्रभु ही तेरा वास्तविक, शाश्वत धाम है।

विशेष :

1. रूपक, रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

नान्हों काती चित दे, महंगे मोलि विकाइ।

गाहक राजा राम हैं, और व नेड़ा आइ।।५८।।

शब्दार्थ : नान्हों = महीन। काती = कताई। नेड़ा = निकट।

भावार्थ : हे जीव तू मन लगाकर कताई कर, क्योंकि बारीक सूत महंगे भाव बिकता है, अर्थात् तू साधनामय कष्टकारी परन्तु पवित्र जीवन जी, वह ही मूल्यवान हैं, क्योंकि उसके ग्राहक सांसारिक राजा न होकर स्वयं राजा राम हैं। कोई दूसरा तेरे निकट नहीं आयेगा, अर्थात् इस माल को कोई दूसरा नहीं खरीदेगा। तू उसी प्रभु के लिए अपने शुभ कर्मों के द्वारा सुन्दर माल तैयार कर, वही तेरा उचित मूल्य देगा।

विशेष :

1. 'दे' शब्द में देहरीदीपक, अन्योक्ति अलंकार है।

2. कबीर द्वार कताई, बुनाई, मदीन सूत कातने के उदाहरण देना कबीर के स्वयं जुलाहा होने का साक्ष माना जा सकता है।

डागल उपरि दोडणों, सुख नीदड़ी न सोइ।

पुनः पाए घोंहडे, ओधी ठौर न खोइ।।५६।।

शब्दार्थ : डागल = ऊबड़-खाबड़, भूमि। घौहाड़ी = देवालय। शरीर, ओधी = दुद्र, तुच्छ।

भावार्थ : हे जीव यह मानव जीव पुष्पों की शय्या नहीं है। यह ऊबड़-खाबड़ कंटकाकीर्ण मार्ग पर दौड़ने के समान है। अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तुझे कठिन साधना करनी पड़ेगी। क्षुद्र सांसारिक सुखों में लिप्त तू सुख की नीदं न सो। तूझे कठिन साधना करनी है। बड़े शुभ कर्मों और संचित पुण्यों के प्रताप से तुझे देवालय के समान भर पवित्र मानव-शरीर मिला है। इसे तुच्छ कार्यों में लगाकर तू नष्ट न कर। सांसारिक माया जाल में इसका दुरुपयोग न कर। इसके द्वारा तू साधना करके प्रभु प्राप्त करने का प्रयत्न कर।

विशेष :

1. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

मैं मैं बड़ी बलाइ है, सकै तो निकसी भाजि।

कब लग राखौ हे सखी, रुई पलेटी आगि।।६०।।

शब्दार्थ : मैं-मैं = अहं बुद्धि। बलाइ = बला, रोग। पलेटी = लपेटी (वर्ण विपर्यय)

भावार्थ : अहं बुद्धि, आपा बहुत बड़ा रोग है। इसलिए हे जीव तू उससे भाग निकलने का प्रयत्न कर अर्थात् तू उससे ऊपर उठ जा, क्योंकि मैं मैं से जिल बुद्धि आग द्वारा लिपटी हुई रुई के समान है, जो तेरे सारे जीवन को नष्ट कर देगी। जिस प्रकार आग से लिपटी रुई बचाई नहीं जा सकती उसी प्रकार अहं बुद्धि ले युक्त इस जीव को, हे सखी कब तब बचाया जा सकता है।

विशेष :

1. दृष्टांत अलंकार है।
2. रुई का उदाहरण जीव के लिए अत्यंत प्रभावपूर्ण एवं सटीक बन पड़ा है।

मैं मैं मेरी जिनि करै, मेरी मूल विनास।

मेरी पग का पैषड़ा, मेरी गल की पास।।६१।।

शब्दार्थ : मैं = अहंभाव। मेरी =ममत्व। पैषड़ा = पैकड़ा, बेड़ी, बंधन। पास = जाल।

भावार्थ : हे जीव तू अहंभाव और ममत्व से दूर रह। अहंभाव और मेरापन तेरे जीवन के मूल को ही नष्ट कर डालेगा। मेरे पर का भावव पैरों की बेड़ी है और गले की फाँसी है। जिस प्रकार पैरों में बेड़ी पहनने से मनुष्य आगे नहीं चल सकता, उसी प्रकार ममत्व के बंधन से मनुष्य आध्यात्मिक जीवन में प्रगति नहीं कर सकता। जिस प्रकार गले में फास पड़ने से मनुष्य जीवन खो बैठता है, उसी प्रकार आपा और मेरा पन का भाव आध्यात्मिक जीवन को ही नष्ट कर देता है।

विशेष :

1. उल्लेख अलंकार है।

कबीर नाव जरजरी, कूड़े खेवणहार।

हलके हलके तिरि गए, बूड़े तिनि सिर भार।।६२।।

शब्दार्थ : नाव =जीवन, जरजरी = जर्जर, जीणी। कूड़े = घास, पतवार,अज्ञानी। खेवनकूर = वासना, अहंभाव युक्त मन।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि भव-सागर से पार जाने के लिए यह प्राण, मनयुक्त मानव तन एक नाव के समान है। यह ऐसी नाव है जो एक तो जर्जर हो चुकी है। अर्थात् इसमें मोह, मद, राम द्वेष आदि के छिद्र हो गए हैं। दूसरे इस का नाविक वासना और अहंभावयुक्त अज्ञानी मन है जो कि सर्वथा मूड़ा या निकम्मा है। भवसागर भयंकर है। ऐसी नाव से जीवन-यात्रा कैसे पूरी हो सकती है। थोड़े से भी प्रलोभन आदि तुफान एवं झटको से यह डूब जानेवाली है। जिन लोगों ने भक्ति और साधन से अपनी वासना और अहंभाव को समाप्त कर, अपने को हल्का कर लिया है, वे तो निश्चय ही इस भवसागर में डूब मरेंगे।

विशेष :

1. रूपकातिशयोक्ति, अन्योक्ति तथा रूपक अलंकार है।

८. 'मन कौ अंग'

'मन कौ अंग' में वे साखियों संग्रहीत हैं जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबंध मन से है। इनमें मन के चंचल स्वरूप और उसमें उठने वाले विभिन्न विकारों का विस्तारपूर्वक वर्णन है। वस्तुतः हमारा मन हमारे बंधनों और साथ ही साथ मोक्ष का कारण बनता है। सिद्धों-नाथों ने मन को विभिन्न विकृतियों-विकारों का मूल मान कर इसको संयमित (मारने) की शिक्षा-साधना पर बल दिया है। निर्गुण साहित्य और विशेष तौर पर कबीर सीधे-असीधे तौर पर सिद्धों-नाथों की परम्परा लेकर प्रेम तत्त्व को मिश्रित करके भक्ति मार्ग का प्रतिपादन करते हैं। परिणामतः कबीर भी लगभग उन्हीं की भाँति सोचते हुए मन को बुराईयों का घर मानते हुए मन को मारने (संयमित) करने की राय देते हैं। इन्हीं तथा ऐसे ही मन से संबंधित भावों का विस्तार इन साखियों में हुआ है।

मन के मते न चालिये, छाँडि जीव की बाँणि।

ताकू करे सूत ज्यूँ, उलटि अपूठा आँणि॥१॥

शब्दार्थ : मर्त = अनुसार। बाँणि = स्वभाव। ताकू = तकली। अपूण = पीछे की ओर।

भावार्थ : जीव का सामान्य स्वभाव है कि वह मन के अनुसार कान-सम्प्रक्त होकर, विषय भोगों (सांसारिकता) की ओर चल पड़ता है। ऐसे ही जीव-स्वभाव का सचेत करते हुए कबीर कहते हैं कि हे जीव तू ऐसे कामनाओं से युक्त मन के अनुसार न चल। अर्थात् इस प्रवृत्ति को छोड़ दे। जैसे तकली में लिपटे हुए सूत को कपड़ा बनाने के लिए पुनः नली पर चढ़ाते हैं, वैसे ही विषयों की आरे प्रवृत्ति मन को उलटकर आध्यात्मिक चेतना के लिए परम, चैतना की ओर ले चल।

विशेष :

1. उपमा अलंकार है।

चिंता चिति निबारिए, फिर बूझिए न कोड।

इंद्री पसर मिटाइए, सहजि मिलैगा सोइ॥२॥

शब्दार्थ : चिति = चित्त में से। पसर = प्रसार। सोइ = वह, ईश्वर।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि अपने मन से चिन्ताओं को निकाल दो और इन्द्रियों का विषय-भोग की ओर जाना रोक दो। इसके पश्चात् किसी से कुछ पूछने या उपदेश लेने की आवश्यकता नहीं। अर्थात् मन को विषयों से रोकने पर सहज रूप से ही परमात्मा प्राप्त हो जायेगा।

विशेष :

1. 'सहज' सिद्धों-नाथों से लिया गया प्रतीक है। बुद्ध-धर्म में 'सहामान' के अन्तर्गत जीवन में सभी कुछ का ग्रहण स्वीकार्य हो गया था। कबीर ने इसका मूल-अर्थ अपनाते हुए इसे हठयोग के विपरीत प्रयोग किया है।

आसा का ईधण करूँ, मनसा करूँ बिभूति।

जोगी फेरी फिल करौँ, पौ बिनवाँ वै सुति॥३॥

शब्दार्थ : आसा = तृष्णा, इच्छाए। ईधण = ईधन जलाने वाली लकड़ी। मनसा = वासानायुक्त मन, कामना। बिभूति = भस्म, राख। जोगी फेरी = जोगी के समान

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मैं इच्छाओं को ईधन करना चाहता हूँ ताकि ज्ञान अग्नि जल सके। इस प्रकार इच्छामय मन को भस्म कर डालना चाहता हूँ। इसके पश्चात् मैं जोगियों की तरह फेरी लगाऊंगा तथा अहंभाव रहित हो कर मैं इस जीवन सूत्र को बीनूंगा। तभी प्रभु से मिलन होगा।

विशेष :

1. 'बिनानां वै' के स्थान पर 'बिन नावै' मुद्रित होना चाहिए। 'फिल' फिट का ही दूसरा रूप है।
2. यहाँ जोगी मन के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिस प्रकार जोगी चारो-ओर चक्कर लगता रहता है, उसी प्रकार यह मन विषयों के चक्र लगाता रहता है। इसी अर्थ में गोरखवाणी में इसका प्रयोग मिलता है।
3. सांगरूपक अलंकार है।

कबीर सेरी साँकड़ी चंचल मनवाँ चोर।

गुण गावै लैलीन होइ कछू एक मन मैं ओर।।४।।

शब्दार्थ : सेरी = गली, मार्ग। साँकड़ी = संकीर्ण, सँकरी। लैलीन = अत्यंत लीन।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि प्रभु तक पहुंचने का रास्ता बहुत ही संकीर्ण है। इसमें उच्चकोटि के साधक ही जा पाते हैं। लेकिन मन चंचल होने के कारण चोर के समान है ओर यह इस संकीर्ण रास्ते पर नहीं जा सकता। क्योंकि यह ऊपर से ध्यानमग्न होकर प्रभु का गुणगान करता हुआ प्रतीत होता है। किन्तु भीतर कुछ ओर ही रहता है। अर्थात् भीतर से यह विषयों की लालसा या तष्णा रखता है। इसलिए कबीर कहते हैं कि इस चंचल चोर मन के द्वारा प्रभु को प्राप्त करना कठिन है, क्योंकि ऊपरी अर्थात् चेतन मन से यह उसका गुणगान किया करता है और भीतर अर्थात् अचेतन मन में विषयों की लालसा कुरेदती रहती है।

विशेष :

1. आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार हमारा चेतन मन (ऊपरी मन) कुछ ओर करता रहता है जबकि अवचेतन मनमें (आन्तरिक मन) कुछ और छिपी रहती हैं। इसलिए मन चंचल चीर के समान है।
2. भेद कातिशयोक्ति अलंकार है।

कबीर मारुँ मन कूँ, दूक दूक है जाइ।

विष की म्यारी बोइ करि, लुणत कहा पछिताइ।।५।।

शब्दार्थ : लुणत = काटते हुए।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि यह मन ही विषय-वासना रूपी विष की क्यारी उपजाता है, परन्तु फिर उसके फल काटने के समय पछताता है। ये कैसे संभव है कि कर्म का फल न मिले? कर्मों का फल तो सबको ही भोगना ही पड़ता है। जब तक मन रहेगा यह विषय-विष को उपजाता ही रहेगा इसलिए आवश्यक है कि इसे इस प्रकार मारा जाए कि यह सर्वथा छिन्न-भिन्न हो जाए।

विशेष :

1. मारने से तात्पर्य है साधना द्वारा रूपांतरण जिससे मन की वासना-विष बोन की शक्ति क्षीण हो जाए, समाप्त हो जाए।
2. दृष्टांत अलंकार है।

इस मन कौँ बिसमल करौँ दीठा करौँ अदीठ।

जे सिर राखौँ आपणां तौ पर सिरिज अंगीठ।।६।।

शब्दार्थ : बिसमल = घायल। क्षत = विक्षत, आहत। दीठा = देखा गया।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मैं इस दृष्ट को अदृष्ट कर दूँ अर्थात् इन्द्रियों की विषयोन्मुखता को पलट दूँ। मैं अशुद्ध मन को सर्वरूपेण इस प्रकार क्षत-विक्षत कर दूँ कि अदृष्ट परमात्मा की अनुभूति होने लग जाये, अथवा जो इन्द्रियों-मार्ग द्वारा मन

की विषमयोग की ओर दौड़ लगाने की प्रवृत्ति है, वह सरूपेण बदल जाए। यदि मैं अपना सिर खूँ अर्थात् मैं अपनेपन को पूर्ण रूप से न्यौछावर न कर दूँ तो फिर मेरे सिर पर अंगीठी पड़े, अर्थात् मेरे ऊपर अंगारे यह काए जाएँ।

विशेष :

1. अगीठ शब्द की व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं है। इस को 'तौ पर सिरिज अंगीठ' पड़ा जाने पर अर्थ होगा यदि मुझे अपने सच्चे सिर की रक्षा करनी है तो इस मन रूपी दूसरे सिर को अंगीठी में देना होगा।
2. मानवीकरण अलंकार है।

**मन जांगै सब बात, जाणत ही औगुण करै।
काहे की कुसलात, कर दीपक के वै पड़े।७।।**

शब्दार्थ : औगुण करै = अवगुणों को धारण करना। कूवै = कुँआ।

भावार्थ : यद्यपि मन उपदेश और परिवेश के प्रभाव से अवगुणों को समझता है। फिर भी वह कुमार्ग पर प्रवृत्त होता है। यदि हाथ में दीपक लिए हुए भी कोई कुँ में गिर पड़े, तो फिर उसकी क्या कुशल।

विशेष :

1. निदर्शना अलंकार है।

**हिरदा भीतरि आरसी, मुख देषणां न जाइ।
मुख तौ तौपरि देखिए, जे मन की दुबिधा जाइ।८।।**

शब्दार्थ : आरसी = दर्पण। देखिए = देख सकता है। दुबिधा = दो ओर जाना, चंचलता, डांवाडोल।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि आत्मा के मुख को दिखाने वाला दर्पण तो हृदय ही है, किंतु कुछ प्रयत्नों के अभाव के कारण मुख उसमें स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता, वह तो तभी दिखाई पड़ सकता है, जब व्यवधान उत्पन्न वाले मन की दुबिधा, चंचलता समाप्त हो जाए।

विशेष :

1. मन एक दर्पण भी है, परंतु आत्मस्वरूप केवल एकाग्र अथवा निरुद्ध मन में ही प्रतिबिम्बित हो सकता है।
2. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

**मन दीयां मन पाइए, मन बिन मन नहीं होइ।
मन उनमन उस अंड ज्यूँ खनल अकासा जोइ।९।।**

शब्दार्थ : उन्मन = उद्गतं मनः यस्यां अवस्थायां = मन के विभिन्न स्तर, उन्मन मन उच्चस्तरीय, दिल मन होता है। अंड = अंडां अनल = एक पक्षी विशेष। आकासों = आकाश में।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि मन लगाने पर ही मन चाही बात होती है, मन के स्थिर न होने पर मनोवांछित नहीं होता। मन ही उन्मनावस्था में पहुँच कर उसे अण्डे का स्वरूप ग्रहण करता है, जो पृथ्वी पर तथा आकाश में भी ज्योतिषित है। आकाश में ही उससे बच्चा निकलता है और उड़ जाता है। तात्पर्य यह है कि मन प्रभु के मन से मिल जाने पर पुनः संसार की ओर प्रवृत्त नहीं होता। वह आकाश की ओर अर्थात् उच्चतरावस्था की ओर प्रवृत्त होता है।

विशेष :

1. साधकों के मतानुसार उन्मन मन परमात्मा स्वरूप हो जाता है।

2. यमक, उपमा अलंकार हैं।

**मन गोरख मन गोबिंदों, मन ही औघड़ होइ।
जो मन राखे जतन करि, तौ आपे करता सोइ।।१०।।**

शब्दार्थ : गोरख = नाथ पंथ के प्रसिद्ध योगी-गोरखनाथ। औघड़ = आहार-विहार में शुचि-अशुचि को सम्भाव से ग्रहण करने वाला अधोरपंथी साधु। करता = स्रष्टा।

भावार्थ : मनुष्य के विकास में परमोत्कृष्ट साधन मन है। इसी मन के द्वारा मानव गोरख के समान सिद्ध योगी हो सकता है, परमात्मा के परमपद को प्राप्त कर सकता है। और शुचि-अशुचि के द्वन्द्व भी परे हो सकता है। यदि मन को कोई यत्नपूर्वक नियन्त्रित करे तो वह अपना स्रष्टा बन सकता है, अर्थात् वह जीवन में जितना चाहे ऊँचा उठ सकता है।

विशेष :

1. उल्लेख अलंकार है।

**एक ज दोसत हम किया जिस गलि लाल कबाइ।
सब जग धोबी धोई मरै, तौ भी रंग न जाइ।।११।।**

शब्दार्थ : गलि = गले में। कबाइ (अरबी) चोंगा।

भावार्थ : प्रस्तुत साखी में उच्चस्तरीय मन का वर्णन है। इस मन को अपना मित्र बनाने से मानव साधना में प्रगति करता है। कबीर कहते हैं कि हमने शुद्ध उच्चस्तरीय मन को (हरि) अपना मित्र बनाया है, जिसके गले में लाल चोंगा पड़ा हुआ है। निम्नस्तरीय मन विषय-प्रवण होता है, उच्च स्तरीय मन स्वभावतः प्रभु प्रवण होता है। यह मन ऐसा लाल चोंगा पहने हुए है कि सारे संसार के धोबी इसे धोते-धोते थक जाएँ तो भी इसका रंग छूट नहीं सकता अर्थात् उच्चस्तरीय मन में प्रभु प्रेम स्वयाततः प्रगाढ होता है और वह किसी भी ढंग से कम नहीं हो सकता।

विशेष :

1. लाल कबह में व्यंजना है कि मन अनुराग से परिपूर्ण है।
2. मन ही मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण होता है।
3. कबाइ अरबी शब्द है जिसका अर्थ घुटने तक लटकने वाला लम्बा पहनावा है।
4. रूपकतिशयोक्ति अलंकार है।

**पांणी ही ते पातला, धूवा ही तै झीण।
पवनां वेगि उतावला, सो दो सत कबी कीन्ह।।१२।।**

शब्दार्थ : झीण = सूक्ष्म, पतला। उतावला = उत्सुक।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मैंने ऐसा मित्र बनाया है जो पानी से भी अधिक पतला है, धुएँ से भी अधिक सूक्ष्म और पवन से भी त्वरित गति वाला है। तात्पर्य है कि उच्चस्तरीय मन अत्यंत सूक्ष्म और गतिशील है। यदि इसको अपना मित्र बना लिया जाए अर्थात् इसका उचित उपयोग किया जाए तो वह हमें परमपद तक पहुँचा सकता है।

विशेष :

1. व्यतिरेक अलंकार है।

**कबीर तुरी पलांड़ियाँ, चाबक लिया हाथि।
दिवस थकों साँई मिलो, पीछे पड़िहै ज्ञाति।।१३।।**

शब्दार्थ : तुरी = घोड़ी। पलान = जीन, जीन कसना। थकों = बीतते-बीतते।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मैंने मन रूपी घोड़े पर एकाग्रता की जीन कस लिया है और संयम रूपी चाबुक हाथ में ले लिया है, जिससे मन रूपी अश्व इधर-उधर न बहके अर्थात् एकाग्र भाव बना रहे।

विशेष :

1. इस साखी के द्वितीय चरण में दिवस जीवन का प्रतीक है और ज्ञति म त्यु का। जीवन रूपी दिवस के रहते हुए मैं मन रूपी अश्व पर चढ़ कर अर्थात् मन की एकग्रता द्वारा प्रभु से मिलना चाहता हूँ अन्यथा म त्यु रची रात्रि आ जायेगी, तब प्रभु से मिलना संभव होगा।
2. रूपकतिशयोक्ति अलंकार है।

मनवा तो उधर बस्या, बहुतक झीणा होई।

आलोकन सचु पाइया, कबहूँ न न्भारा सोइ॥१४॥

शब्दार्थ : अधर = बीच में। जिसका आधार न हो। शून्य = ब्रह्मरंध्र। झीण = सूक्ष्म। सचु = आनन्द।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि मेरा मन बहुत सूक्ष्म हो गया है, अर्थात् मन परमप्रिय ईश्वर को सन्निधि में बस गया है। ब्रह्मरंध्र अथवा शून्य में स्थिति हो गया है। यह अपनी विकृतियों को छोड़कर, पारदर्शी वस्त्र की तरह स्वच्छ और पवित्र हो गया है, अर्थात् इसने अमरलोक के सुख को प्राप्त कर लिया है। इसे (मन को) उस परम प्रिय के देखते ही सुख मिल गया था। वह अब कभी भी उस परमपद से पथक् नहीं हो सकता। अब यह कभी भी अकेला रहता या सोता नहीं।

विशेष :

1. यहाँ 'यदि 'आलोकन सचु पाइया' से अभिप्राय है कि प्रभु के दर्शन से इसे सुख प्राप्त हो गया।
2. मानवीकरण अलंकार है।

मन न मारथा मन करि, सके न पंच प्रहारि।

सीला साध सरधा नहीं, इंद्री अजहूँ उधारि॥१५॥

शब्दार्थ : मन करि = दत्तचित्त, एकाग्र होकर। पंच = पाँ ज्ञानेन्द्रियाँ अथवा काम, क्रोध मद मोह, लोभ। उधारि = खुली हुई।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मनुष्य ने पूर्ण दत्तचित्त होकर मन की अभी तक वश में नहीं किया, उसकी चंचलता को दूर न कर सका और पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अथवा काम, क्रोध मद, लोभ, मोह-इन पाँच शत्रुओं पर प्रहार न कर सका अर्थात् इनको नियंत्रित न कर सका। इसलिए उसमें शील, सत्य, क्षुद्धा के भाव नहीं जाग सके और उसकी इन्द्रियाँ अभी तक विषयों की ओर उघड़ी हुई हैं, खुली हुई है, अर्थात् अनियन्त्रित हैं।

विशेष :

1. रूपकतिशयोक्ति अलंकार है।

कबीर मन बिकरै पड़या, गया स्वाद के साथि।

गलका खाया बरजता, अब क्यूँ आवै हाथि॥१६॥

शब्दार्थ : बिकरै = विकार में, विकार ग्रस्त। गलाक = गले तक। बरजता = मन करने पर।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मन विकार ग्रस्त हो गया है। उपभोग की कामना के साथ फँस गया है। गले तक खाया हुआ भोजन प्रयत्न करने पर नीचे उतरेगा ही। वह रोका नहीं जा सकता। उसी प्रकार मन जब विषयों में पूर्ण रूप से लिप्त हो जाता है, तब समझाने पर भी उस पर नियंत्रण संभव नहीं हो पाता।

विशेष :

1. यहाँ गलका शब्द अस्पष्ट -सा है।
2. यदि इसका अर्थ 'फोड़ा' लिया जाए तो अर्थ होगा -फोड़े के समान विषय-विकार।

कबीर मन शाफिल भया, सुमिरण लागै नाहि।

छजी सहैगा सासनं, जन की दगाह मांहि।।१७।।

शब्दार्थ : सासनो = कष्ट। दरगह = दरगाह, दरबार, सभा।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि विकारग्रस्त मन अपने लक्ष्य से भटक गया है। प्रभु-सुमिरण की ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं रही। यम के दरबार में उसको भयकर कष्ट भोगना पड़ेगा।

विशेष :

1. मानवीकरण अलंकार है।

कोटि कर्म पल में कई, बहु मन विणिया स्वादि।

सतगुरु सबद न मानई, जन्म गंवाया बादि।।१८।।

शब्दार्थ : सबद = उपदेश। स्वादि = स्वाद में। बादि = व्यर्थ है।

भावार्थ : यह मन विषयों के स्वाद में इस प्रकार लिप्त हो गया है कि एक-एक पल में नाना प्रकार के कर्मकर डालता है। विषयों के आकर्षण के कारण वह सद्गुरु के उपदेश नहीं मानता। अतः उसके कारण व्यर्थ में मानव का जीवन नष्ट हो जाता है।

विशेष :

1. विषयों के आकर्षण के प्रभाव का वर्णन है।
2. मन के भटकाव का चित्रण है।

मैमंता मन मारि के, घटहीं माँहें घेरि।

जबहीं चालै पीठि दै, अंकुस दे दे फेरि।।१९।।

शब्दार्थ : मैमंता = मदमत्त, उन्मत्त।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मनमत्त हाथी के समान मन को भीतर ही रोककर वश में कर लो। अर्थात् विषयों की ओर मत जाने दो। यदि यह कभी प्रभु से मुख मोड़कर चल भी दे तो उसे ज्ञान के अंकुर से वापस कर लो।

विशेष :

1. विषयक्त मन की तुलना मनमत्त हाथी से अत्यंतन उपयुक्त एवं सटीक बन पड़ी है।
2. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

मैमता मन मारि के, नाँहों करि करि पीसि।

तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलकै सोसि।।२०।।

शब्दार्थ : नाँहों = सूक्ष्म, छोटा। पीसि = पीस कर। सुन्दरी = जीवात्मा, साधक। सीसि = ब्रह्मरंध्र।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि इस मदमत्त हाथी समान मन को वश में कर। अपनी साधना से तू उसे पीसते-पीसते इतना छोटा अथवा सूक्ष्म बना दे कि वह ऊपर चढ़कर ब्रह्मरंध्र में जा सके। तभी जीवात्मा रूपी सुन्दरी वास्तविक आनन्द को प्राप्त कर सकती है और ब्रह्मरंध्र पर ब्रह्म की ज्योति प्रकाशित हो सकती है।

विशेष :

1. रूपक अलंकार है।
2. डॉ० पारसनाथ तिवारी ने ब्रह्म के स्थान पर पदुम पाठ को स्वीकार किया है, जिसके अनुसार अर्थ होगा-सिर पर कान्ति झलक उठेगी।

कह कागद केरी नॉन री, पांणी केरी गंग।

कहै कबीर कैसे तिरुँ, पंच कुसंगी संग।।२१।।

शब्दार्थ : कगद = कागज। गंग = भवसागर का प्रतीक।

भावार्थ : यदि कोई सरिता जल से लबालब भरी हुई हो और उसे कोई काज की नाव से पार करना चाहता हो, साथ ही उस नाव में पाँच दुष्ट मनोवृत्तियाँ साथी बैठे हों, जो योग-सा भी अवसर मिलने पर डूबो देने के लिए तैयार हों, तो फिर कोई उस सरिता को कैसे पार कर सकता है? ठीक इसी प्रकार यह भव-सागर माया रूपी जल से परिपूर्ण है और पंच महाभूतों के भंगुर शरीर की नाव है, साथ ही इस शरीर रूपी नौका के भीतर ही पंचन्द्रियाँ अथवा यम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि पाँच दुष्ट साथी नीचे की ओर ढकेलने के अवसर की ताक में बैठे हुए हैं, तो भला इस भव-सागर को कैसे पार किया जा सकता है।

विशेष :

1. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

कबीर यह मन कत गया, जो मन होता कालिह।

डूंगरि बूठा मेह ज्युँ, गया निवाँणों चालि।।२२।।

शब्दार्थ : डूंगरि = टोला या पहाड़ी पर। बूठा = बरसा हुआ। निवाँणों = नीची जमीन।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मेरा यह अस्थिर मन जो कल गुरु-उपदेश से प्रभु की ओर कुछ प्रवृत्त हुआ था, आज किधर चला गया? इसकी वही दशा है जो पहाड़ी पर बरसे हुए जल की होती है। जैसे वह जल अस्थिर होता है, थोड़ी देर पहाड़ी पर रहकर नीचे की ओर ढुकल जाता है। वैसे ही अस्थिर मन भी सदुपदेश के द्वारा ऊँचाई तक थोड़ी ही देर के लिए जाता है फिर निम्न इष्टों की ओर फिसल जाता है।

विशेष :

1. उपमा अलंकार है।
2. मन की चंचलता के लिए पहाड़ी, जल की उपमा उपयुक्त एवं सटीक बन पड़ी है।

म तक कूँ धी जौं नहीं, मेरा मन बी है।

बाजे बाव बिकार की, भी मूवा जीवे।।२३।।

शब्दार्थ : म तक = मरा हुआ। धी = बोध। जौं = ज्यों जैसे। बी = भी। बाव = वायु। बिकार = विषय।

भावार्थ : जैसे मरे हुए को अपने विषय में कुछ बोध नहीं रह जाता, वैसे ही मेरे मन की गति है अर्थात् मैंने मन को विषयों से इतना विरत कर लिया है कि वह म तक के समान हो गया है। उसे अब अपनेपन का भी बोध नहीं है। किंतु जब विकार रूपी वायु भीतर ध्वनित हो उठता है तो यह म तक मन भी जी उठता है अर्थात् उसके भीतर वासनाएँ पुनः जग उठती हैं।

विशेष :

1. 'धी जौं' के स्थान पर धीजौं पढ़ना संगत है। धीजना क्रिया का अर्थ है अंगीकार करना।

काटी कूटि मछली, धीकै धीर चहोड़ि।

कोई एक अषिर मन वस्या, दह में पड़ी बहोड़ि।।२४।।

शब्दार्थ : मछली = मन। धीके = ब्रह्मरंध्र। चहोड़ि = चढ़कर, संभालकर। अषिर = अक्षर, वासना। दह = हृद, तालाब। बहोरि = पुनः।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मैंने मन रूपी मछली को कट कूटकर अर्थात् संयम द्वारा नियंत्रित करके, बहुत यत्न से धीके के ऊपर रखा था अर्थात् ब्रह्मरंध्र तक चढ़ाकर संभाल लिया था। इसी बीच माया की विकृति का एक स्वर उसके पास पहुँचा और वह उसके साथ ही पुनः भव-नदी में कूद पड़ा।

विशेष :

1. 'चहोड़ि' शब्द चाह से जुड़ज़ हुआ प्रतीत होता है।
2. बहोड़ि पुनः के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।
3. अन्योक्ति अलंकार है।

कबीर मन पंषी भया बहुतक चढ़या अकास।

उहां हीं तैं गिरि पड़या, मन माया के पास।।२५।।

शब्दार्थ : पंषी = पक्षी।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि साधना द्वारा मेरा मन पक्षी के समान उड़कर ऊपर शून्य रूपी आकाश या ब्रह्मरंध्र तक पहुँच गया था। किंतु कोई गुप्त वासना उसमें अवशिष्ट रह गई थी। जिसमें पुनः वह वहाँ से गिरकर माया में आ लिपटा।

विशेष :

1. रूपक अलंकार है।
2. माया के प्रभाव को रेखांकित किया गया है।

भगति दुवारा, राई दसवैं भाइ।

मन तौ मैंगल है रह्यो, क्यँ करि सकै समाइ।।२६।।

शब्दार्थ : दुवार = द्वार। सकड़ा = संकीर्ण, संकरा। भाइ = भाग। मैंगल = मतवाला हाथी।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि भक्ति का द्वार तो अत्यन्त संकरा है, राई के दरारें भाग के बराबर है अर्थात् अत्यन्त छोटा है और मन मतवाले हाथी के समान उन्मत्त और वासनाओं के समूह से विशालकाय हो रहा है। ऐसी अवस्था में मदादि विकारों का परित्याग किये बिना वह उस द्वार में कैसे घुस सकता है।

विशेष :

1. रूपक अलंकार है।
2. तुलनीय-रघुपति भगति करत कठिनाई
कहत सुगम करनी अपार जाने सोइ
जीहि बनि आई। (तुलसी)

करता था तौ क्यँ रह्या, अब करि क्यँ पछताइ।

बोवै पेड़ बैबूल का, अंब कहां तैं खाइ।।२७।।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हे मूढ़ नर। यदि तू वासनाओं के वशीभूत होकर कुकर्म करता था, तो क्यों कर रहा था? उस समय क्या तुने इसके परिणाम के बारे में कुछ नहीं सोचा था? अब पछताने से क्या होगा? कुकर्मों का फल तो भोगना ही पड़ेगा। बबूल का पेड़ लगाकर सरस, मधुर आम कहाँ से खाया जा सकता है? कुकर्म का दुष्परिणाम भोगना ही होगा।

विशेष :

1. निदर्शना अलंकार है।
2. तुलनीय

कोड न काहु सुख दुख कर दाता।
निज कृत कर्म योग सनु भ्राता।

(तुलसी)

**काया देवल मन धजा, बिपै लहरि फरराइ।
मन चाल्यौ देवल चलै, ताका सर्वस जाइ॥२८॥**

शब्दार्थ : देवल = देवालय। धजा = ध्वजा, पताका।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि यह शरीर मन्दिर के समान है और मन ध्वजा के समान है। जैसे ध्वजा वायु के झोंको से फहराती रहती है, वैसे ही मन विषयों के झोंको से विचलित होता रहता है। यदि ध्वजा के विचलित होने से देवालय भी विचलित हो जाय, तब तो विनाशः अवश्यभावी है। ठीक इसी प्रकार विषयों की आसक्ति से जब मन विचलित होता, उसी के साथ तन भी विषयों की ओर प्रवृत्त हो, तब तो सर्वनाश अवश्य ही हो जाता है

विशेष :

1. सांगरूपक अलंकार है

**मनह मनोर्थ छाड़ि दे, तेरा किया न होइ।
पाँणी मैं छीव गीकसै, तौ रुखा खाइ न कोइ॥२९॥**

शब्दार्थ : छाड़ि दे = छोड़ दे। पाँणी = पानी।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हे मन। तू मनोरथों को छोड़ दे, क्योंकि सभी मनोरथों की पूर्ति तेरे द्वारा नहीं हो सकती। तुझे अपनी परिशीमता का बोध होना चाहिए। सभी इच्छाओं की पूर्ति तेरे द्वारा नहीं हो सकती। तुझे अपनी परिशीमता का बोध होना चाहिए। सभी इच्छाओं की पूर्ति तो स्वभावतः ही असंभव है। यदि पानी के मथने से थोड़ी निकल सके तो संसार में कोई भी बिना घी चुपड़े रुखी रोटी न खाये।

विशेष :

1. दष्ट अलंकार है।

**काया कसू कमाण ज्यू, पंचतम करि बाण।
मारौ तौ मन म ग मैं नहीं तौ मिथ्या जाँण॥३०॥**

शब्दार्थ : काया = शरीर। पंचतम = पंच तत्त्व, अग्नि-जलादि। म ग = इच्छा।

भावार्थ : कबीर दास जी कहते हैं कि मैं इस तन को कमान बनाना चाहता हूँ (साधनामय) और पाँच तत्त्वों के बाण का उस पर संधान करना चाहता हूँ उस बाण से मैं यदि इस मन को न मार डालूँ, तो समझो कि मेरा जीवन ही व्यर्थ हो गया।

टिप्पणी: मानव तन में ही आध्यात्मिक साधना संभव है। इसके दो मुख्य परिधान मिले हुए हैं-एक तो पाँच तत्त्वों से बना हुआ शरीर और दूसरा उसके भीतर सूक्ष्म मन जो इस शरीर को परिचालित करता रहता है।

विशेष :

1. हमारी इन्द्रियाँ जिन पाँच तत्त्वों से बनी हुई हैं वह स्वभावतः बाहर भी उन्हीं तत्त्वों की ओर आकर्षित होती है। अतः इन्द्रियों के अनतर्मुखी होने से मन स्वतः अन्तर्मुखी हो जायेगा। यही पंचतत्त्वों के बाण से मन को मारना है।
2. सांग रूपक अलंकार है।

६. 'माया कौ अंग'

सामान्यतः माया आवरण और विकल्प करने वाली शक्ति मानी गई है। किन्तु कबीर ने माया को विशेष रूप से मोहक और आकर्षित शक्ति के रूप में लिया है जिससे वह जीव को सांसारिक विषयों की ओर आकृष्ट करके उन्हीं में फँसाए रखती है। प्रस्तुत अंग में संकलित साखिया किसी-न किसी रूप में माया के इसी स्वरूप पर प्रकार डालती हैं। कबीर की दृष्टि में माया पापिनी है बहकाने वाली और ईश्वर से विमुख करने वाली है। मनुष्य इसके स्वरूप को न जानने के कारण संसार को अपने आगे कर लेता है और ईश्वर को पीछे डाल देता है। उल्लेखनीय है कि माया सदा अहितकारी नहीं होती। यदि कोई सच्चा भक्त है तो माया उसकी दासी बन कर उसकी सेवा भी करती है। और अपने स्वभाव को भी बदल लेती है। अतः प्रस्तुत अंग में माया के विभिन्न रूपों को दर्शाया गया है।

जग हटवाड़ा स्वाद ठग, मामा बेसौं लाइ।

रामचरन नीकाँ गही, जिनि जाइ जनम ठगाइ।।१।।

शब्दार्थ : हटवाड़ा = हाट, बाजार। वैसौं =वेश्या। लाइ = लगाकर। नीकाँ = अच्छी तरह।

भावार्थ : यह संसार एक बाजार है। इन्द्रियाँ स्वाद के सग इसमें विचरण करते हैं। मामा वेश्या इसमें लाई गई है। मैं- ज्ञान द श्य को देखते ही राम के चरणों का द ढता से पकड़ लिया, क्योंकि मुझे भय है कि कहीं ठग कर यह मेरा जन्म ही न ले लें।

विशेष :

1. संसार की बाजार, ठगों की स्वाद और वेश्या तुलना सटीक बन पड़ी है। बाजार कर्म क्षेत्र का प्रतीक है।
2. सांग रूपक अलंकार है।

कबीर माया पापणी फंध ले बैठी हाटि।

सत्त जग तो फंधै पड़या, गया कबीरा काटि।।२।।

शब्दार्थ : पापिनी = पाप में ले जाने वाली दुष्टा। फंध = फंदा, पाश। हाटि = बाजार में। काटि = काटकर।

भावार्थ : कबीर दास कहते हैं कि पाप में ले जाने वाली माया इस संसार रूपी बाजार में फंदा लिए बैठी है। संसार के सारे लोग उसी पाश में फंस गये। केवल कबीर उस फंदे को काट कर निकल गया। अर्थात् उसके प्रलोभन से बच गया और परमार्थ को प्राप्त हो गया।

विशेष :

1. व्यतिरेक अलंकार है।

कबीर माया पापणी, लालै लाया लोग।

पूरी किनहूँ न भोगई, इनका इहै वियोग।।३।।

शब्दार्थ : लालै = लालसा, तृष्णा।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि माया अद्भूत पाप में फँसाने वाली है। उसने लोगों को नाना प्रकार की लालसाओं में उलझा रखा है। कोई भी उसका पूर्ण रूप से भोग नहीं कर सकता, अर्थात् वह एक की होकर नहीं रह सकती, क्योंकि उसका स्वरूप वेश्या के समान है। लोगों का यही विचित्रत वियोग है।

टिप्पणी: तात्पर्य है कि मन विषया-भोगों में लिप्त रहता है और एक दिन असहाय होकर मन को विषया से वियुक्त होना पड़ता है। यह वियोग भोग के क्षणित्व का द्योतक है। जीव पुनः उसका स्वाद लेना चाहता है और भोग के बाद पुनः वियोग होता है। अतः इससे सिद्ध होता है कि सांसारिक सुख-दुख न होकर वियोग का दुःख है, विषय भोगों में वियोग अवश्यम्भावी है।

वास्तविक सुख परमार्थ में है।

विशेष :

1. माया पापनी में मानवीकरण है और दूसरे चरण में काव्यर्लिंग अलंकार है।

कबीर माया पापणी, हरि सू करै हराम।

मुखि कड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम॥४॥

शब्दार्थ : हराम = विमुख। कड़ियाली = कड़ी लगाम।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जीव को पाप में फँसाने वाली दुष्टा माया, उसे प्रभु से विमुख कर देती है और अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। वह मुख में दुबुद्धि की लगाम लगा देती है और रामनाम का उच्चारण नहीं करने देती। वह अपने मोहक रूप से जीवों को अपनी ओर आकृष्ट करके प्रभु से विमुख कर देती है।

विशेष :

1. रूपक और मानवीकरण अलंकार है।
2. हराम अश्लील विशेषण है जिसका अर्थ धर्म-विरुद्ध आचरण है। कड़ियाली का संबंध कही से है और अर्थ है लगाम।

जाणौ जे हरि को भजौ, मो मनि मोटी आस।

हरि विचि छालै अंतरा, माया बड़ी विसास॥५॥

शब्दार्थ : जे = यदि। मनि = मन में। आस = आशा, त घणा। छाले = डौरे डालती है। विसास = कपटी छली।

भावार्थ : माया अपनी मोहक शक्ति से विषयों की आरे आकृष्ट रहती है और परमार्थ से वियुक्त कर देती है। इस कारण मैं हरि को नहीं जान पाता। यदि जान सकूँ तो उसका भजन करूँ। मेरे मन में बड़ी आशा लगी है। परन्तु माया विश्वास छानिनी है। वह मेरे और प्रभु के बीच व्यवधान डाल देती है। इसलिए मैं हरि का भजन नहीं कर पाता।

द्वितीय अर्थ- कबीर कहते हैं कि सामान्यतः मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मानों मैं भगवान का भक्त हूँ। किंतु मेरे मन में अनेक वासनाएँ और त घणाएँ स्थित हैं। वह (माया) मेरे और प्रभु के बीच में अंतर डाल देती है। यह माया बड़ी कपटी है।

विशेष :

1. मानवीकरण अलंकार है।

कबीर माया मोहनी, मोहे जौण सुजौण।

भागों ही छूटै नहीं, भरि-भरि भारे बाणों॥६॥

शब्दार्थ : सुजौण = चतुर, ज्ञानी।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि माया में विचित्र आकर्षण शक्ति है श्रेष्ठ ज्ञानी भी उससे मोहित हो जाते हैं। उससे भागने पर भी छुटकारा नहीं मिलता क्योंकि वह आकर्षण के बाणों का तीव्र प्रहार किया करती है।

विशेष :

1. यहाँ सुजौण को जौण का विशेषण लिया गया है। यदि दोनों को अलग-अलग संज्ञा पद माने तो अर्थ होगा = चतुर और ज्ञानी भी मोहित हो जाते हैं।
2. विशेषोक्ति और मानवीकरण अलंकार है।

**कबीर माया मोहिनी, जैसी मीठी खाँड।
सतगुरु की कृपा भई, नहीं तो करती भाँड।।७।।**

शब्दार्थ : भाँड = विनाश।

भावार्थ : कबीर माया के प्रभाव और सद्गुरु की कृपा के संदर्भ में कहते हैं कि माया-जाल इतना आकर्षक है, जितनी मीठी खाँड होती है। यह सभी को अपने जाल में फँसा कर, मोहित कर लेती हैं केवल सद्गुरु की कृपा जिन (मुझ) जीवों पर होती हैं वही इसके विनाशकारी प्रभाव से बच सकते हैं।

विशेष :

1. माया के विनाशकारी व्यापक प्रभाव का वर्णन है।
2. सद्गुरु की कृपा औषध के रूप में चित्रित हुई है जो मोहिनी रूपी रोग को काट देती है।
3. उपमा अलंकार है।

**कबीर माया मोहनी, सब जग घाल्या घाँणि।
कोई एक जन ऊबरै, जिनि तोड़ी कुल की काँणि।।८।।**

शब्दार्थ : छाल्या = डाल दिया। घानि = घानी। कानि = मर्यादा, नियमादि।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि माया में एक विचित्र आकर्षण शक्ति है, उसने सभी को सांसारिकता के फेरे में डाल रखा है (घानी में) केवल वही उसके चुगुल से बच सकते हैं, जिन्होंने लौकिक परम्पराओं और मर्यादाओं को छोड़ कर सत्य के सुन्दर मुख को देख रखा है।

विशेष :

1. रूपक अलंकार है।

**कबीर माया मोहिनी, माँगी मिलै न हाथि।
मनह उतारी झूठ करि, तब लागी डीलै साथि।।९।।**

शब्दार्थ : मिलै न हाथि = वश में न होना। मनह = मन से।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि माया ऐसी मोहिनी है, जो कि अनुन्य-विनय करने पर भी हाथ में नहीं आती। उस मोहिनी की यही विशेषता है कि जो उसकी और आकृष्ट होता है, वही उसी के वश में हो जाता है। उसका अनुचर बनकर रह जाता है। वह स्वयं उसके वश में नहीं आती। परंतु जब वह उसको असत्य समझ कर अपने चित्त से अलग कर देता है, अर्थात् उससे विरत हो जाता है तब वह अनुचर की भाँति उसके पीछे-पीछे चलने लगती है।

विशेष :

1. यहाँ अनुनय विनय का अर्थ है उसमें रत होना।
2. विरोधाभास अलंकार है।

**माया दासी संत की, उँभी देह असीस।
बिलासी अरु लातौ छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीश।।१०।।**

शब्दार्थ : उँभी = खड़ी हुई। लातौ छड़ी = ठुकरा जाना।

भावार्थ : प्राकृत जन माया के दास होते हैं। वे उसकी मोहक शक्ति के कारण सदा उसके वश में रहते हैं। किंतु संत उसके दास नहीं होते, वह स्वयं संत की दासी हो जाती है और खड़ी-खड़ी सेविका की भाँति जम मनाती रहती है। संत, प्रभु स्मरा बल से माया का उपभोग तो कर लेते हैं परन्तु उसके दास न होकर उसको लवाड़ते रहते हैं।

विशेष :

1. बिलसी अरु लातो छड़ी अर्थात् संत मायाजन्य विषयों का भोग तो कर लेते हैं, परन्तु उसे लात भार कर दूर भी कर देते हैं।

माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया शरीर।

आसा त ष्णां नों मुई, यो कहि गया कबीर।।११।।

शब्दार्थ : आसा-त ष्णां = मन की इच्छाएँ।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि माथा का प्रभाव इतना व्यापक और विस्तृत है कि यह शरीर के समाप्त हो जाने पर भी, असहाय हो जाने पर भी मनुष्य की मायाजनित इच्छाएँ समाप्त नहीं होती। शरीर तो बार-बार मरता है परन्तु शरीरान्त के साथ न तो माया की मोहिनी शक्ति का अंत होता है और न ही मन की लिप्सा समाप्त होती है। अतः प्राणी के भीतर आशा और त ष्णा बराबर बनी रहती है।

विशेष :

1. अर्थ व्यजित होता है कि मनुष्य को माया, मन और आशा-त ष्णा पर विजय पाने का प्रयत्न करना चाहिए।

आसा जीवे जग मरै, लोग मरे करि जाइ।

सोइ मूने धन संचते, सो उबरे जे खाइ।।१२।।

शब्दार्थ : आसा = त ष्णा, इच्छाएँ। संचते = इकट्ठा करते-करते।

भावार्थ : संसार के सभी लोग मरते रहते हैं। परन्तु वासना नहीं मरती। मरने के बाद लोग पुनः जन्म लेते हैं-पुनः मरते हैं-यह क्रम निरन्तर जारी रहता है। परन्तु त ष्णा और म त्पु से पिण्ड नहीं छूटता। जो लोग धन संचय करते रहते हैं, उसका सम्यक् प्रयोग नहीं जानते, वे म त के समान ही हैं। किंतु जो इस धन का उपयोग करते हैं, वस्तुतः वह ही जीवित है। इसी प्रकार जो केवल कर्मों का संचय करते हैं वे म्रत के समान हैं, परन्तु जो कर्मों को ज्ञान और वैराग्यपूर्वक भोग कर उन्हें क्षीण कर देते हैं उनके उनकी वासना नहीं रह जाती। वे ही वास्तव में जीवित हैं। उन्हीं का जीवन साश्रक है।

विशेष :

1. विरोधाभास अलंकार है।

कबीर सो धन संचिये, जो आगें कूं होइ।

सीस चढ़ायें पोटली, ले जात न देख्या कोई।।१३।।

शब्दार्थ : आगें को = भाव जीवन के लिए। पोटली = संचित करके, गड़री बांध कर।

भावार्थ : कबीर दास कहते हैं कि हम ऐसा धन संचय करें जो हमारे भावी जीवन में काम आए। अर्थात् पुण्य रूपी धन, शुभ कर्मों का संय करें। ऐसा धन संचित करने का क्या लाभ है जो कुछ दिनों (इसी जीवन) के लिए रह जाता है, जिसको हम साथ न ले जा सक। पुनः कहते हैं मैंने इस माया रूपी संचित धन अगले जीवन के लिए पोटली बांध कर कोई भी ले जाते नहीं देखा। अर्थात् सभी यही छोड़ देते हैं।

विशेष :

1. यपकातिशयोक्ति अलंकार है।

**त्रीयां त्रिष्णां पापणीं तासु प्रीति न जोड़ि।
पैड़ी चढी पाछां पड़े, लागे मीटी खोड़ि।।१४।।**

शब्दार्थ : त्रीयां = स्त्री। पैड़ी चढी = घात लगा कर। खोड़ि = दोष।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि स्त्री और त्रिष्णां दोनों ही पाप की ओर प्रवृत्त करने वाली हैं। अतः इनसे प्रेम न करो। इनसे प्रेम करना सीढ़ी पर चढ़कर पीछे गिरने के समान है। जिस प्रकार सीढ़ी से उलट कर गिने पर बहुत चोट लगती है। उसी प्रकार स्त्री और त्रिष्णा से संबंध रखने के कारण बहुत दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

विशेष :

1. रूपक और दृष्टांत अलंकार है।

**त्रिष्णां सींची नां बुझै, दिन दिन बँधती जाइ।
जवासा के रूस ज्यूँ, घण मेहां कुमिलाइ।।१५।।**

शब्दार्थ : जवासा = एक कंटीला पौधा जिसके पत्ते वृष्टि से मुरझा कर गिर जाते हैं। घण मेहां = भारी वर्षा। कुमिलाइ = मुरझा जाना।

भावार्थ : आग को शांत करने का उपाय है उस पर पानी डालना। त्रिष्णा को शांत करने के लिए जीव सींचता है कि यदि उसका योग कर लिया जाए तो वह मिट जायेगी। परन्तु यह ऐसी विचित्र आग है कि बढ़ती जाती है। परन्तु प्रभु की धनी कृपा से यह उसी प्रकार बुझ जाती है, जिस प्रकार धनी वर्षा से जवासा को पौधा पत्रहीन हो जाता है, मुरझा जाता है।

विशेष :

1. त्रिष्णां के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।
2. ईश्वर कृपा की शक्ति से असम्भव संभव हो जाता है।
3. विशेषोक्ति तथा उपमा अलंकार है।

**कबीर जग की कौ कहै, भोजलि बूडे दास।
पारब्रह्म पति छाँड़ि कर; करें मानि की आस।।१६।।**

शब्दार्थ : भौज जलि = संसार रूपी जल में। पति = स्वामी। मजि = सम्मान, अहंभाव।

भावार्थ : कबीर कहता है कि सांसारिक लोगों की बात कौन कहे? इस भव सागर में वे भक्त भी डूब जाते हैं जो प्रभु जैसे स्वामी को छोड़कर मान-सम्मान की आशा में लोगों के सम्मुख अपने प्रभुत्व और सिद्धियों के प्रदर्शन में लगे रहते हैं।

विशेष :

1. 'भौज जलि' में रूपक अलंकार है।

**माया तणि तौ का मया, यानि तजि नहीं जाइ।
मानि बड़े मुनिमर गिले, मानि सबनि को खाइ।।१७।।**

शब्दार्थ : माया = विषयों का आकर्षण। गिले = निगल गया।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि मायाशक्ति का त्याग किया तो कोई बड़ी बात नहीं की। अर्थात् यदि धन-द्रव्य और विषयों के आकर्षण को छोड़ भी दिया जाय, तब भी पूर्णता नहीं प्राप्त होती क्योंकि मानाशक्ति उससे भी कठिन है, वह त्यागी नहीं जाती। मन के लोभ ने श्रेष्ठ मुनियों को भी खा डाला है अर्थात् उन्हें भी नष्ट कर दिया है। वे भी उसके कारण आध्यात्मिक उत्कर्ष से पतित हो गए हैं। मान का लोभ सबको खा जाता है। अर्थात् नष्ट कर देता है।

विशेष :

1. माया के प्रभाव या मोह से सशक्त, बलशाली भ्रमित करनेवाली यश/लिप्सा होती है।
2. मानवीकरण और व्यतिरेक अलंकार है।

**रौंमहिं थोड़ा जांड़ि करि, दुनियाँ आगैं दीन।
जीवा कौं राज कहैं, माया के अधीन॥१८॥**

शब्दार्थ : जांरि करि = जान कर, समझकर। जीवा = साधारण प्राणी।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मायासक्त होने के कारण मनुष्य राम की अपर्याप्त समझकर संसार के तथाकथित ऐश्वर्यवान जनों के सामने अपनी दीनता प्रकट करते हैं और उनसे सहायता-प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं। मायाजन्य अज्ञान के अधीन होकर वे उन जीवों को स्वामी मान बैठते हैं। और इन्हीं को राम से अधिक महत्त्व देता है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि मनुष्य माया के वश में पड़ जाता है।

विशेष :

1. सांसारिक ऐश्वर्य राजा-भ्रम है, सच्चे राजा तो राम है।

**रज बीरज की कली, तापरि साज्या रूप।
राम नाम बिन बूडि है, कनक कामणी कूप॥१९॥**

शब्दार्थ : तापर = इसके ऊ। साज्या = सजाया हुआ।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि रज-वीर्य के मिश्रण से नर रूपी कली का विकास होता है। उसके ऊपर से हाड़-माँस का सजाया हुआ रूप। अर्थात् यही कली रूपी नर विकसित होकर सौन्दर्य से समन्वित हो जाती है, किन्तु इसमें यदि राम नाम समन्वित नहीं हुआ तो यह कनक और कामिनी रूप कूप की ओर झुककर उसी में डूब जायेगा।

विशेष :

1. रूपक अलंकार है।

**माया तखर त्रिविध का, साखा दुख संताप।
शीतलता सुपिनै नहीं, फल फीकौ तनि ताप॥२०॥**

शब्दार्थ : तखर = वक्ष। त्रिविध = तीन प्रकार का त्रिगुणात्मक। सुपिनै = स्वप्न में भी। तनि = तन में, शरीक में

भावार्थ : माया त्रिगुणात्मक वक्ष है। अर्थात् माया सत्त्व रज तथा तम विविध गुणों से समन्वित तरु है। दुःख और संतोष इसकी शाखाएँ हैं सामान्य वक्षों में यह विशेषता होती है कि उसकी छाया में शीतलता प्राप्त होती है, किन्तु माया ऐसा विचित्र वक्ष है कि इसमें स्वप्न में भी शीतलता नहीं प्राप्त हो सकती है। यह सदा शोक और मोह का कारण बना रहता है। इसमें सत्त्व गुण दबा रहता है। अन्य वक्षों में मीठा फल प्राप्त होता है। किन्तु इस वक्ष का फल भी फीका और निरुसार होता है अर्थात् माया के वशीभूत होकर कोई भी जीव जीव के माधुर्य का अनुभव नहीं कर सकता। इसके फल का स्वाद तो फीका होता ही है, तन में ताप भी पैदा करता है।

विशेष :

1. माया के त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रज और तम) स्वरूप का वर्णन हुआ है।
2. सांगरूपक और व्यतिरेक अलंकार है।

**कबीर माया डाकर्णी, सब किसही कौं खाइ।
दांत उपाड़ौ पापणी, जे संतौ नेड़ी जाइ।।२१।।**

शब्दार्थ : डाकर्णी = राक्षसी, पिशाचनी। उपाड़ो = उखाड़ लूं। जे = यदि। नियरे = निकट।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि माया ऐसी भयंकर पिशाचिनी है जो सबको रग जाती है अर्थात् सबका विनाश कररती है। परंतु यदि वह संत के निकट फटके तो मैं उस पापिनी का दांत उखाड़ दूँगा अर्थात् उसके असमर्थ कर दूँगा।

विशेष :

1. व्यतिरेक और रूपक अलंकार है।

**नलनी सायर घर किया, दौं लागी बहुतैणि।
जलही माहें जलि मुई, पूरब जनम लिषेणि।।२२।।**

शब्दार्थ : नलनी = जीवात्मा। सायर = संसार सागर। दौं = आग बडवाग्नि। बहेतेन = बहुत भारी। लिषेणि = लेख के अनुसार।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि जीव रूपी नलिनी ने माया रूपी सागर में निवास बनाया। उसने यही सोचा था कि इसमें हमें शीतलता प्राप्त होगी। उसको यह पता नहीं था कि सागर में बड़वानल है। जल में रहते हुए भी पूर्व-जनम के कर्मों के लेखाअनुसार वह भयंकर आग में जल मरी अर्थात् उसका विनाश हो गया।

विशेष :

1. माया को सागर से साद श्य व्यंजक है।
2. नलिनी की तुलना जीवात्मा से की गई है।
3. माया रची जलाशय में जल की प्रतीति होने पर भी उसमें उसके भीतर बड़वानल धधकता है, परिणतः जीव में विषय की तष्णां जाग्रत होती है। इस तष्णां के कारण नलिनी रूपी जीवात्मा विनाश को प्राप्त होती है।
4. रूपकातिशयोक्ति और विरोधाभास अलंकार है।

**कबीर गुण की बादली, तो तरवानीं छांहि।
बाहरि रहे तो ऊबरे। भीगे मंदिर माँहि।।२३।।**

शब्दार्थ : तरवानी = तीतरवर्णी, मिश्रत रंगवाली। मंदिर = आश्रय-स्थलं

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि त्रिगुणात्मिका माया बदली जैसे है जिसकी तीतरवर्णी अर्थात् रंग-बिरंगी मिश्रित छाया होती है। अर्थात् माँ की ही तरह उसकी छाया भी बहुरंगी है। जो व्यक्ति वर्षा से बचने के लिए माया रूपी बदली की छाया में आश्रय दूँढता है वह पूरी तरह से भीग जाता है-अर्थात् विनष्ट हो जाता है। और जो माया रूपी बदली से दूर हट जाता है, अर्थात् माया के आश्रय से दूर हो जाता है वह भीगने से बच जाता है अर्थात् वह नष्ट, पतित होने से बच जाता है।

विशेष :

1. माया-आश्रय-पतन का कारण है।
2. विरोधाभास अलंकार है।

**कबीर माया मोह की, भई अंधारी लोइ।
जे सुंते ते मुसि लिए, रहे बसत कूं रोइ।।२४।।**

शब्दार्थ : लोइ = लोक, सृष्टि, संसार। मुसि लिए = लुट गए, चुरा लिये गए।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि माया और मोह का अन्धकार नेत्रों को भी अंधा बना रहा है। जो अज्ञानवश मोह निद्रा में पड़ गए वे अपने मूल धन अर्थात् आत्मस्वरूप को खो बैठे, परन्तु जो अभी बसे हुए हैं, उनके लिए भी सब रोते हैं कि पता नहीं कब वो भी चले पड़े।

विशेष :

1. शब्द शक्ति उद्भव वस्तु से वस्तु ध्वनि है, ध्वनित वस्तु है-माया मोह किसी को नहीं छोड़ते भगवान् के भवन में लग जाओं।

**संकल ही तै सब लहै, माया इहि संसार।
ते क्यूं छूटै बापुड़े, बांधे सिरजनहार।।२५।।**

शब्दार्थ : संकल = जंजीर, बंधन।

भावार्थ : इस संसार में माया ने अपनी आसक्ति रूपी जंजीर से सब को बांध रखा है। परन्तु वस्तु सत्य यह है कि जिन बेचारे जीवों का स्वयं भगवान् ने माया रूपी बंधन में बांध रखा है वो कैसे छूट सकते हैं?

विशेष :

1. मानवीकरण और रूपक अलंकार है।
2. अर्थ व्यंजित होता है कि -भगवान् के भजन बिना मुक्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है।

**बाड़ि चढंती बेलि ज्यूँ, उलझी, आंसा फंध।
तूटे पणि छूटे नहीं, भई ज बाचा बंध।।२६।।**

शब्दार्थ : बाड़ि = बाड़ पर; घेरा। चढंती = चढती। बेलि = लता। आशा फद्य = आशापाश, आशाबंधन। लूटै = टूटती है। पणि = परन्तु। बाचा बंध = वचनबद्ध।

भावार्थ : माया के कारण मानव में उत्पन्न त ष्णा, बाड़ पर चढी हुई बेल के समान है। उसका फंदा या बन्धन बाड़ के काँटे के समान है। जिस प्रकार लता को बाड़ के काँटे से छुड़ाने का यत्न करतने पर उसे सुलझाने का प्रयत्न करनेपर वह उसी से अधिकाधिक उलझती जाती है। वह टूट भले जाय, किन्तु छूट नहीं पाती। उसी प्रकार जीव त ष्णा के फंदे में ऐसा फँसा रहता है कि प्रत्यन करने पर समझाने-बुझाने पर वह त ष्णा कुछ समय के लिए क्षीण भले ही हो जाय, किन्तु सर्वथा विनष्ट नहीं होती। वह जीव की अवचेतना में वासना के रूप में विद्यमान रहती है। जैसे कोई वचनबद्ध मनुष्य अपने वचन से अलग नहीं होता। वैसे ही जीव त ष्णा से छुटकारा नहीं प्राप्त कर पाता।

विशेष :

1. उपमा अलंकार है।

**सब आसण आसा तणों, त्रिवर्तिकै को नाहिं।
त्रिवरति कै निबहै नहीं, परिवर्ति परपंच माँहि।।२७।।**

शब्दार्थ : आसण = योगासन। त्रिवर्तिकै = निव त्ति। निबहै = निर्वाह। परिवर्ति = प्रव त्ति। माँहि = में।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि कठिन योगासन लगाने वाले योगी भी सिद्धि की आशा में लगे हुए हैं। ये आसन निव त्ति या निरासक्ति की ओर ले जाने वाले नहीं हैं। जो प्रव त्ति के प्रपंच में फँसे हुए हैं, उनसे निव त्ति का निर्वाह नहीं हो सकता। प्रव त्ति आसक्ति की ओर ले जाती है, चाहे वह आसक्ति संसारिक विषयों के लिए हो या सिद्धि के लिए। निव त्ति मुक्ति की ओर ले जाती है। जो किसी भी प्रकार की प्रव त्ति में फंसा हुआ है, भला वह निव त्ति का निर्वाह कैसे कर सकेगा?

विशेष :

1. योगियों को लक्षित करके, उनको सिद्धियों की लालसा रखने के कारण प्रवृत्ति परक घोषित किया है।
2. 'तपां का' के अर्थ में परसर्ग है।
3. मानवीकरण चमत्कार विधायक है।

कबीर इस संसार का, झूठा माया मोह।

जिहि घरि जिता बँधावणाँ, तिहि घूरि तिता अँदोह॥२८॥

शब्दार्थ : बँधावणां = बधवा, उत्सव, समारोह। तिहि = उस। तिता = उतना। अँदोह = दुख, अवसाद।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि इस संसार के प्रति माया और मोह व्यर्थ है, यह देखने में आता है कि जिस परिवार में व्यापक बंधन होते हैं - बड़ा परिवार और साज-सज्जा होती है उसमें उतनी ही शाकमय घटनाएं अथवा अवसाद भी होते रहते हैं। अर्थात् सुख और दुख माया के ही दो छोर हैं। परम आनन्द माया के परे की वस्तु है।

विशेष :

1. माया सुख और दुःखात्मक होती है।
2. दूसरी पंक्ति में विरोधाभास है।

माया हमसाँ ये कह्या, तू मति दे रे पूठि।

और हमारा हम बलू, गया कबीरा रुठि॥२९॥

शब्दार्थ : पूठि = पीठ। रुठि = रुष्ट, विमुख।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि माया ने मुझसे यह कहा कि तुम मुझसे पीठ न दिखाओ, मुँह मत मोड़ो। अर्थात् मेरी उपेक्षा मत करो और मेरे बने रहो। किन्तु यह सुनकर भी कबीर उससे विमुख ही रहा। उसके चक्कर में नहीं आया।

विशेष :

1. 'हम बलू' रहबर की तरह विकसित ज्ञान होता है अर्थ है-माया कह रही है हमारे वश में पड़ा।
2. मानवीकरण अलंकार है।

बुगली नीर बिटालिया, सायर चढ़या कलंक।

और पँखेरु पी गए, हंस न बोवै चंच॥३०॥

शब्दार्थ : बुगली = माया। बिटालिया = गंदा कर दिया। सायर = सागर, भव सागर। पँखेरु = जीवात्म का, संसारिक लोग। हंस = मुक्त आत्मा, पवित्रात्मा। बोवै = डुबोना।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं माया रूपी बुगली ने भव-सागर के जल को मटमैला कर डाला है, अज्ञानी नर रूपी पक्षी हंसी जल को पीता है, किन्तु महात्मा रूपी हंस उस जल में अपनी चोंच नहीं डालते। अर्थात् मुक्त आत्मा विषय-वासना से सदाविरक्त रहते हैं।

विशेष :

1. रूपकातिशयोक्ति और अन्योक्ति अलंकार है।

कबीर मया जिनि मिलैं, सौ बरियाँ दे बाँह।

नारद से मुनियर गिले, किसौ भरौसो त्याँह॥३१॥

शब्दार्थ : जिनि = मत। बरियाँ = बार। मिले = खा गई, निगल गई। त्याँह = उसका। मुनियर = मुनिवर।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि माया चाहे सौ बार बाँह दे अर्थात् मिलने के लिए उत्सुक ही, वह तुझे वश में करने के लिए कितने प्रलाभ दे, किंतु उससे नहीं मिलना चाहिए। उसके फंदे में नहीं पड़ना चाहिए। उसने नारद जैसे श्रेष्ठ मुनि को भी निगल लिया अर्थात् नष्ट कर दिया। फिर उसका विश्वास कौन कर सकता है?

विशेष :

1. 'नारद से मुनियर गिले' में तुलसी के मानस में वर्णित नारद-मोह के समान प्रसंग प्रतीत होता है।
2. मानवीकरण अलंकार है।

माया की झल जग जल्य, कनक काँमणी लागि।

कहुँ धौं किहि बिधि, राखिये, रुई पलेटी आगि ॥३४॥

शब्दार्थ : झलि = ज्वाला में लागि = के कारण।

भावार्थ : माया रूपी अग्नि की ज्वाला को सारा संसार जल रहा है। कंचन और कामिनी (धन और माया) के रूप में उसे देखकर सभी उसमें पड़ जाते हैं; वस्तुतः यह तो नश्वर-जग रूपी रुई में लिपटी आग है, इसे गुप्त कब तक रखा जा सकता है, किसी दिन यह तो जलायेगी।

विशेष :

1. निदर्शना और रूपक अलंकार है।

१०. 'सहज को अंग'

'सहज' शब्द का अर्थ है -स्वभावतः। सह जायते इति सहजः। सहजावस्थ वह है, जहाँ आत्म-अनात्म, पुरुष-प्रकृति, शिव-शक्ति पज्ञा-उपाय, निवृत्ति-प्रवृत्ति समरस रहते हैं। जब जीव अनात्म की ओर उन्मुख हो जाता है और आत्मस्वरूप से वियुक्त हो जाता है; प्रवृत्ति की ओर, संसार की ओर, विषयों की ओर उन्मुख रहता है, तब असमान्य; अहस वास्था होती है। सहज साधनों का लक्ष्य है-शिव-शक्ति प्रवृत्ति-निवृत्ति, करुणा-उपाय को पुनः अपनी स्वामलिक अवस्था समरस अवस्था में स्थापित कर देना। कबीर के शब्दों में यही समरस का अनुभव है। कबीर - (निर्गुण) पर नार्थो-सिद्धों का प्रकारान्तर से प्रभाव है। अतः कबीर ने तद्युगीन प्रचलित शब्दावली, साधना-पद्धति को अनुभवपूर्वक स्वीकारा, उपयोग में लिया है। बौद्धों की एक साखा -है सहजयान। इसके अन्तर्गत सभी लौकिक मैथ्यादि क्रियाओं के उपयोग को सद्धत मान लिया गया है। यहाँ कबीर उन सहजमानियों की भी खबर लेते हैं।

सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्हे कोइ।

जिन्ह सहजै विषिया तजी, सहज कहीज सोई ॥१॥

शब्दार्थ : सहज= सम्प्रदाय विशेष। चीन्हे = पहचानना। विषिया तजी = सहज, स्वाभाविक तौर पर विषयों का तजना, छोड़ देना।

भावार्थ : कबीर दास कहते हैं कि आजकल (उन दिनों) सहज-सहज (सम्प्रदाय विशेष) की सभी इट लगाते रहते हैं। परन्तु सहज-क्रिया को वास्तविक रूप में कोई नहीं जानता। सही अर्थों में सहज साधना वही है जहाँ मनुष्य बिना कठिनाई-प्रयत्न के मन के स्वभाव के कारण ही विषयों से दूर हो जाता है। इस स्वभाव के व्यक्ति को ही सहज माना जा सकता है।

विशेष :

1. बौद्धों के सम्प्रदाय सहज के विक्रतिपूर्वक प्रयोग -प्रभाव थे। ललित करके कबीर सहज के तात्त्विक अर्थ को समझाते हैं।
2. स्वभाव से ही विषम-योग को त्यागना ही सहज-साधना है।
3. सहज शब्द में यमक अलंकार है।

सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्हे कोइ।

पांचू राखै परसती, सहज कहीजै सोइ ॥२॥

शब्दार्थ : सबको कहै = सभी कहते हैं। चीन्हे = पहचानना। पांचू = पंचतत्त्व।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि 'सहज-सहज' सभी कहते हैं, परन्तु 'सहज' को पहचानना कोई नहीं अर्थात् इसका तात्त्विक अर्थ कोई नहीं समझता। वास्तव में 'सहज' उसे कहते हैं जो सत्पुरुष की स्थिति में रहता हुआ पांचों इन्द्रियों-स्पर्शों से विचलित नहीं होता। अर्थात् जीव सहजता से विषयों को छोड़ देता है उन की ओर आकृष्ट नहीं होता।

विशेष :

1. सिद्धों के एक सम्प्रदाय-विभाग का नाम सहजयाने था। कालान्तर में शक्ति सम्प्रदाय के मिश्रण के कारण उसमें विकृति आ गई थी, सभी सांसारिक सुखों को भोगना ही सहज से अभिप्रायः लिया जाने लगा था। उन्हीं सहज नियमों को संबोधित करते हुए कबीर सहज-सहज शब्द का प्रयोग करते हैं।
2. लाटनुप्रास अलंकार है

सहजे सहजे सब गए, सुत बित कांमणि कांम।

एकमेक है मिलि रह्या, दास, कबीरा रांम ॥३॥

शब्दार्थ : सहंजै-सहंजै = सरलापूर्वक। सुत = पुत्र। वित = सम्पत्ति। कामिनी = स्त्री।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि साधना के कारण मेरी पुत्र, धन, कामिनी और काम से आसक्ति सहज भाव से अर्थात् सरलता पूर्वक चली गई है और मैं राम से एकरस हो गया। अर्थात् प्रभु से तीव्र अनुराग हो जाने पर विषयों का आकर्षण स्वतः छूट जाता है।

विशेष :

1. सहज शब्द यहाँ हठयोग-नाथों की एक क्रिया के विलोम में प्रयुक्त होता है कि बिना किसी कठिन साधना के केवल प्रभु सुमरिण एवं आकांक्षा के फलस्वरूप ही मनुष्य ही सांसारिक बंधन सरलता से छूट सकता है।
2. पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार है।

सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्हें कोई।

जिन्ह सहजै हरिजी मिले। सहज कहीजै सोइ॥४॥

शब्दार्थ : हरिजी = प्रभु, भगवान्। कहीजै = कहलाता है, कहना चाहिए।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि सहज शब्द की तो सभी दुहाई देते रहते हैं परन्तु इसे पहचानता कोई नहीं। जिसको सहज-शील से हरी मिल जाए उसी को सहज कहते हैं।

विशेष :

1. सहजयानियों को संबोधित करते हुए उनकी विकृतियों को कराया है।
2. पुनरुक्ति प्रकाश एवं यमक अलंकार है।
3. प्रथम सहज से अभिप्रायः है सरलता द्वितीय सहज से सहजयान -सम्प्रदाय विशेष की मान्यता।

११. 'सौच कौ अंग'

सौच से अभिप्रायः है-सत्य, अर्थात् सत्य-व्यवहार। प्रस्तुत अंग में इसी विषय से जुड़ी हुई साखियाँ सम्मिलित हैं। इनमें सत्य व्यवहार की बात कही गई है, जिनसे यह ध्वनित होता है कि सत्य व्यवहार ही काम्य होता है। असत्य व्यवहार के दुष्परिणामों को भी इनमें दिखाया गया है। सत्य के विषय में चर्चा करते हुए अल्पसत्य को भी श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता, तथापि असल की तुलना में ग्रहणीय है। सभी सम्प्रदायों, धर्मों के पीर-पैगम्बर, काजी मुल्ला, पंडित द्वारा किया जाने वाला धार्मिक व्यवहार भी असत्य ही हैं

कबीर पूंजी साह की, तू जिनि खोवै ख्वार।

खरी बिगूर्यान होइगी, लेखा देती बार॥१॥

शब्दार्थ : साहू = महाजन। ख्वार = उपमानित। गिगूचनि = असमंजस में पड़ना। लेखा = हिसाब।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हे जीव यह मानव जीवन प्रभु रूपी महाजन के द्वारा एक पूंजी के समान दिया गया है। तू इसको वषयासक्ति और कुकर्मों से बुरी तरह नष्ट न कर अन्यथा प्रभु को हिसाब देते समय तूझे भारी अड़चन का सामना करना पड़ेगा।

विशेष :

1. जीवन की विशिष्टता का वर्णन है।
2. ख्वार फारवसी विशेषण है।
3. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

लेखा देखां सोहरा, जे दिल सांचा होइ।

उस चंगे दीवान मैं, पला न पकड़े कोइ॥२॥

शब्दार्थ : सोहरा = सरल शुद्ध। चंगे = खाखा, निर्मल। दीवान = दरबार। पहला पकड़े = दामन पकड़ना।

भावार्थ : जिसका मन पवित्र-सच्चा है उसे हिसाब देने में कोई कठिनाई नहीं होती। जिसने सत्य-जीवन जीया हो उस प्रभु के निर्मल दरवार में भी कोई पल्ला नहीं पकड़ सकता। अर्थात् उसे कोई रोक नहीं सकता।

विशेष :

1. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

कबीर चित चमकिया, किया पयाना दूरि।

काइथि कागद काढ़िया, तब दरिगह लेखा पूरि॥३॥

शब्दार्थ : चमकिया = चोंकना। पमाण = प्रमाणं काइथि = कायस्थ (लेखा लेने वाला) चित्रगुप्त दरिगह = दरवार। पूरि = पूर्ण किया।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जब जीव ने दूर प्रचार किया अर्थात् यमपुरी गया और चित्रगुप्त ने वही-खाता निकाल कर हिसाब सामने रखा, तो जीव का चित अपने कर्मों का विवरण देखकर चोंक गया।

विशेष :

1. भारतीय दर्शनों के अनुसार, कर्म-लेखा भाग्य चित्रगुप्त आदि का उल्लेख हुआ है।

2. फल-कर्म-सिद्धान्त में विश्वास व्यक्त हुआ है।
3. रूपकतिशयोक्ति अलंकार है।

काइथि कागद काढ़िया, तब लैखे बार न पार।

जब लग साँस शरीर में, तब लग रूप सँभार।।४।।

शब्दार्थ : सँभार = ध्यान देना।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हे जीव जब चित्रगुप्त तेरे कर्मों का बही खाता तेरे सामने रखेगा तब तेरे आनन्द कर्मों का आर-पार नहीं मिलेगा, अर्थात् वह इतने अधिक होंगे कि गिने नहीं जा सकेंगे। इसलिए जब -तक अपनी चेतना में राम-नाम को संभाल कर रखता चल। वह तेरी चेतना से कभी अलग न होन पर।

विशेष :

1. इस्लाम और हिन्दू धर्म की मान्यताओं का उल्लेख हुआ है। इस्लाम में कयामत के दिन कर्मों का हिसाब होता है, जबकि हिन्दू धर्म में धर्मराज निर्णायक होते हैं।
2. रूपकतिशयोक्ति अलंकार है।

यहु सब झूठी बंदिगी, बरियाँ पंच निवाज।

साचै मारै झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज।।५।।

शब्दार्थ : बंदगी = वंदना करना, पूजा। विरिचा पाँच = पाँच बार।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हे काजी तू पाँच बार नमाज पढ़ता है। क्या तू कुरान की आयतों के अनुसार आचरण भी करता है। यदि तू केवल तोते के समान उन आयतों का पाठ मात्र करता है, तो तेरी यह बंदगी झूठी है। यंत्रवत् वाचिक प्रार्थना से तू तत्त्व को नहीं पहचान सकता। शब्दों के जाल में कँसा रहने से तत्त्व की हत्या ही होगी। और तू अपना ही अकाज करेगा, अर्थात् जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तू वंदना करता है उससे च्युत हो जायेगा। तू अपनी ही हानी करेगा।

विशेष :

1. बंदिगी में पर्याय वक्रता है।
2. दूसरी पंक्ति में विरोधाभास है।

कबीर काजि स्वादि बसि, ब्रह्म हतै तब दोइ।

चढ़ि मसीत एकै कहै, दरि क्यूँ होई।।६।।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जब काजी स्वाद के वश में होकर जीव को हलाल कर रहा होता है उस समय वह ब्रह्म की द्वैत की दृष्टि से देखता है। अर्थात् वह स्वयं तथा जिस जीव का वध करता है, दोनों में भिन्न-भिन्न ब्रह्म मानता है। किन्तु मस्जिद पर चढ़कर जब वह बांग देता है-अर्थात् अल्ला केवल एक जीव है कहकर ब्रह्म के एकत्व की घोषणा करता है। ईश्वर के दरबार में वह अपनी इसी सच्चाई को कैसे प्रकट करेगा। वह इस द्वैत भाव को कैसे छिपाएगा। करनी और कथनी के अंतर को कैसे छिपायेगा।

विशेष :

1. द्वैत कर्म की तात्त्विक व्याख्या है।
2. हिंसा करना धर्म बा है।

**काजी मुल्लाँ भ्रमियाँ, चल्या दूनी के साथि।
दिल में दीन विसारिया, करद लई जब हाथि ॥७॥**

शब्दार्थ : दूनी = संसार। दीन = धर्म। करद = छुरी। विसारिया = भूलाना।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि काजी और मुल्ला जो ओरों को भ्रम से हटाकर धर्म का उपदेश देते हैं स्वयं भ्रम के शिकार होते हैं। एक ओर तो वह छुरी हाथ में लेकर इलाल करते हैं और दूसरी ओर उपदेश देते हैं। इस प्रकार वह स्वयं भ्रमित व्यक्ति के समान आचरण करने लगते हैं, और धर्म को हृदय से भुला देते हैं।

विशेष :

1. भ्रमित व्यक्ति दूसरे को भ्रममुक्त नहीं कर सकता। काजी-मुल्ला आदि इसी प्रकार से भ्रमित हैं।

**जोरी कलिर जिहै करै, कहतै हैं ज हलाल।
जब दफतर देखंगा दई, तब हैगा कौण हवाल॥८॥**

शब्दार्थ : जोरी = बलपूर्वक। जिहै = वंध, हत्या, हलाल। दफतर = लेखा। दई = ईश्वर।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि लोग फश को बलपूर्वक मारते हैं और कहते हैं कि यह धर्मानुकूल है, किंतु गलत बात है। ऐसी हिंसा पाप है। जब ईश्वर के न्यायलय में न्याय होगा, तब पता चलेगा कि हिंसा करना कितना बड़ा पाप है। उस समय उसके फल को भोगने में कैसी स्थिति होगी, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

विशेष :

1. दफतर में पर्यार्य वक्रता है।

**जोरी कीयां जुलम है। मांगे न्याव खुदाइ।
खालिक दरि खूनी खड़ा, मार मुहै मुहिं खाइ॥९॥**

शब्दार्थ : जोरी = बलपूर्वक, जबर्दस्ती। जुलम = अत्याचार। खालिक = विधाता, ईश्वर। दरि = दरवाजे पर। खूनी = हत्यारा।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि बल प्रयोग करना अत्याचार है, खुदा मनुष्य को न्याय की मांग करता है। जो उसकी मांग को नहीं सुनते, वे हिंसा करने के पश्चात् उसके न्यायालय में पहुँचते हैं और दण्डस्वरूप चारों ओर से मुँह पर मार खाते हैं अर्थात् उन्हें भरपूर दण्ड मिलेगा।

विशेष :

1. हिंसा को सबसे बड़ा अपराध बतलाया गया है।

**सांइ सेती चोरियां, चोरों सेती गुझ।
जांगैगा रे जीवड़ा, मार पड़ैगी तुझ॥१०॥**

शब्दार्थ : सेती = से। चौरियां = छिपाना। गुझ = घनिष्ठता, मित्रता।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हे जीव! तू प्रभु से तो चोरी करता है और काम, क्रोधादि जीवन-सत्य के चारों से गठबन्धन करता है। इस का परिणाम तुझे तब समझ में आयेगा, जब इसके कारण तुझ पर ईश्वर के दरबार में मार पड़ेंगी।

विशेष :

1. 'गुझ' शब्द का विकास 'म ध' धातु से प्रतीत होता है जिसका अर्थ है-चाहना।

**सेष सबूरी बहिरा, क्या हज काबे जाइ।
जिनकी, दिल स्थावति नहीं, तिनकाँ कहाँ खुदाइ।।११।।**

शब्दार्थ : सबूरी = संतोष। सेष = शेख। बाहिरा = बाहर। स्यावति = सच्चा, स्थिर।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हे रोख! तू संतोष से वंचित है, विषयों में फँसा है, तब बाह्यचार करने से अर्थात् काबे में हज के लिए जाने से क्या लाभ? तू भीतर से विषयासक्त है और बाहर से इश्वर के दर्शन करना चाहता है। आवश्यकता तो हृदय को पूर्ण करने की है और पूर्णता परमात्मा के आने से होती है, इसके अभाव में तुझे ईश्वर के दर्शन नहीं हो सकते।

विशेष :

1. तीर्थादि बाह्याडम्बरों की व्यर्थता होती है।
2. आन्तरिक शुद्धि पर बल देते हुए, इसे ईश्वर प्राप्ति का साधन माना है।

**खूब खांड है खीचड़ी, माँहि पड़े टुक लूण।
पेड़ा रोटी खाइ करि, गला कटावै काँण।।१२।।**

शब्दार्थ : खाँड = मीठी। लूण = नमक।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि सादा भोजन खिचड़ी आदि उसमें थोड़ा सा नमक पड़ा हो, काफी मीठा एवं तृप्तिकर है। उस सादे भोजन को छोड़कर भोग लिप्सा की दृष्टि से अधिक स्वादिष्ट पेड़ा-रोटी का भोजन खाकर अपना गला कौन कटावे अर्थात् कौन ऐसा मूढ़ होगा जो अपने विनाश की ओर अग्रसर होगा। क्योंकि भोग-लिप्सा की दृष्टि से अधिक स्वादिष्ट भोजन करने वाले वासना के राज्य में पड़कर अपना विनाश करवा लेते हैं।

विशेष :

1. संतुष्ट रहने में सर्वोत्तम स्वार्थ सिद्धि है।

**पापी पूजा बैसि करि, भवे मांस मद दोइ।
तनिकी दष्या मुकति नहीं, कोटि नरक फल होइ।।१३।।**

शब्दार्थ : बैसि करि = बैठ कर।

भावार्थ : पापी लोग सामान्य ढंग से माँ-मदिरा का सेवन तो करते ही हैं किन्तु दुःख इस बात का है कि वे पूजा में बैठकर भी देवी-देवता के नाम पर मांस-मदिरा का भक्षण करते हैं। ऐसे लोगों की कही मुक्ति नहीं मिलती अर्थात् ऐसे लोग कभी मुक्त नहीं होते। उन्हें अपने कुकर्माँ के लिए-करोड़ों नरक का फल भोगना पड़ता है।

विशेष :

1. तामसिक पूजा अनिष्टकारी है।

**सकल बरण इकत्र है, सकति पूजि मिलि खांहि।
हरि दासनि की भ्रांति करि, केवल जमपुरि नांहि।।१४।।**

शब्दार्थ : बरण = वर्ण। सकति = शक्ति।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि आमतौर पर विभिन्न वर्णों के लोग एक साथ बैठकर भोजन नहीं करते, किंतु शक्ति की पूजा के नाम पर माँ-मदिरा के सेवन के लिए विभिन्न वर्णों के कट्टरपंथी लोग भी एक साथ मिलकर प्रसाद के आवरण में जी खोलकर मांस-मदिरा का सेवन करते हैं। वे लोगों में केवल हरि भक्ति का भ्रम फैलाते हैं। हरि का भक्त कभी हरि के जीव की हत्या करके भोजन नहीं करेगा। ऐसे लोग निःसन्देह यमपुर जाँगे।

विशेष :

1. मिथ-बिन्ध का प्रयोग अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने में सहायक है।

कबीर लज्या लोक की, सुमिरै नाहीं साच।

जानि बूझि कंचन तजै, काठा पकड़े काच ॥१५॥

शब्दार्थ : काठा = किनारा, सहारा, आश्रम।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि कितने लोग हैं जो केवल लोक-लाज के कारण प्रभु का सुमिरन करते हैं। जप किया करते हैं। पर सच्चे मन से भक्ति नहीं करते। ऐसे लोग जान बूझकर परमतत्त्व ज्ञान रूप स्वर्ण का परित्याग करते हैं तथा विषयवासना रूप कांच का सहारा लेते हैं अर्थात् विषयवासना को अपनाते हैं।

विशेष :

1. यहाँ प्रयुक्त 'काठा' से अभिप्रायः कांठा आभूषण से है। जो कण्ठहार से विकसित हुआ है।

2. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

कबीर जिनि जिनि जांणियां, करता केवल सार।

सो प्रांणी काहै चलै, झूठे जग की लार ॥१६॥

शब्दार्थ : लार = साथ-साथ, पीछे।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जो लोग समझदार हैं ज्ञानी हैं वे यह मानते हैं कि सार-तत्त्व यदि कुछ है तो वह जगत का कर्ता परमेश्वर है। अर्थात् ब्रह्म ही जीवन का सार है। इस तथ्य को जानने वाला प्राणी झूठे जग के साथ क्यों चलेगा अर्थात् वह संसार की आसक्ति में नहीं बहेगा।

विशेष :

1. 'लार' मुँह से निकलने वाली लेषपार वस्तु है। यहाँ आसक्ति के संदर्भ में इसका लाक्षणिक प्रयोग हुआ है।

झूठे कौं झूठा मिलै, दूणां बधे सनेह।

झूठे कूं साचा मिलै, तब ही तूटै तेह ॥१७॥

शब्दार्थ : दूणां = दो गुना। बधै = बढ़ता है।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि संसार के मिथ्या बन्धनों में लिप्त मनुष्य को जब वैसा ही दूसरा संसारी पुरुष मिलता है तो दोनों में दोगुना प्रेम बढ़ जाता है। यह स्नेह केवल मायाजनि अनुराग है किन्तु मिया वस्तु के अनुरागी व्यक्ति को यदि सद्गुरु मिल जाए तो मायाजनि स्नेह तथा विषयानुराग नष्ट हो जाता है।

विशेष :

1. सच्चे हृदय व्यक्ति को झूठों से प्रेम की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

१२. 'भ्रम विधौसन कौ अंग'

भ्रम विधौरस से अभिप्राय है कि भ्रम को दूर करना साधना-धर्म क्षेत्र में प्रचलित सम्प्रदाय विशेष के अनुदायियों, मुला-पंडितों ने अपने-अपने क्षेत्र में धर्म के नाम पर अनेक मिथ्या-आडम्बरों को प्रचलित कर रखा है। परिणामतः जीव-सांसारिक-व्यक्ति उन भ्रमों में भटकता हुआ अनेक कुरीतियों का शिकार हो रहा है। कबीर इन भ्रमों को साधन-ईश्वरा प्राप्ति में सबसे बड़ा अवरोधक मानते हैं इसलिए वह इन पर करारी चोट करते समय चूकते नहीं। प्रस्तुत अंग में ऐसी ही साखियाँ संकलित हैं।

पाइण केरा पूतला, करि पूजै करतार।

इही भरोसे जे रहे, ते बूड़े काली धार ॥१॥

शब्दार्थ : विधौसन = विध्वंस। पाहन = पत्थर। करि = मानकर। पूतला = मूर्ति।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जो पत्थर की मूर्ति का स्रष्टा मानकर पूजा करते हैं और उसी के भरोसे रहते हैं, वे भवसागर की काली धार में डूबे हुए हैं।

विशेष :

1. प्रस्तुत साखी में 'वुतपरस्ती' पर प्रहार किया गया है, अर्थात् जो पत्थर को ही ईश्वर मानकर पूजा करते हैं। जो पत्थर को ईश्वर का प्रतीक मानकर पूजा करते हैं। उन पर नहीं।
2. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

काजल केरी कोठरी, मसि के कर्म कपाट।

पांहनि बोई पथमी, पंडित पाड़ी बाट ॥२॥

शब्दार्थ : मसि = स्याही। बोई = बिछाई, फैलाई। बाहपारी = बिगाड़ लिया, नष्ट कर लिया।

भावार्थ : यह संसार अंधकारमय काजल की कोठरी है। इसमें काली स्याही के किवाड़ है। एक तो कोठरी काली है दूसरे कर्मों के पार भी काले हैं। ऊपर से इस मार्ग में पूरी पथी पर पंडिता के पत्थरों की मूर्तियाँ स्थापित की की हुई हैं। अतः यहाँ से बचकर निकलने का कोई मार्ग नहीं रहा। वुनपरस्ती, पंडितों ने पूरे विनाश का ही पथ बनाया हुआ है।

विशेष :

1. सांगरूपक अलंकार है।

पांहन कु का पूजिए, जे जनम न देई जाब।

आंधा नर आसामुषी, यौही खौने आव ॥३॥

शब्दार्थ : जाव = उत्तर। आसामुषी = आशोन्मुख। आव = जल।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि पत्थर (मूर्ति) पूजना से क्या लाभ है वह तो हमारी अनुन्य-विनय का उत्तर भी नहीं देती। अतः आशोन्मुख, व्यक्ति मूर्ति पूजा करते समय ऊंचे स दश्य हो जाता है, व्यर्थ में ही अपनी मर्यादा खोता है।

विशेष :

1. यदि यहाँ 'आव' का अर्थ जल लिया जाए तो अर्थ होगा-वह व्यर्थ में ही जल को पत्थर पर गिरा कर बर्बाद करता है।

2. 'आव' शब्द में श्लेष है।

हम भी पाहन पूजते, होते रन के रोझ।

सतगुरु की कृपा भई, डारया सिर न्चै बीझ।।४।।

शब्दार्थ : रन = अरण्य। रोझ = (देशज) नीलगाय।

भावार्थ : कबीर दास कहते हैं कि यदि सद्गुरु की कृपा, न हुई होती तो हम भी पत्थर की ही पूजा करते होते और नीलगाय की भाँति ज्ञानहीन इधर-उधर भटकते रहते। यह तो सद्गुरु की ही कृपा है कि मैंने मूर्तिपूजा को बोझ को सिर से उतार फेंका है।

विशेष :

1. सिर से बोझ उतरने में संकेत है कि कबीर सद्गुरु के मिलने से पूर्व सामाजिक रीतिनुसार मूर्तिपूजक भी रही होंगे।
2. बोझ को मूर्ति अर्थ में न लेकर वाह्याचारों के अर्थ में लेना ही अधिक संगत प्रतीत होता है।

जेती देषीं आत्मा, तेता सालिगराम।

साधू प्रतषि देव है, नहीं पाथर सू काम।।५।।

शब्दार्थ : सालिगराम = शालग्राम। गण्डकी नदी में पाए जाने वाली पत्थर की टिकिया, जिसकी लोग विष्णु के रूप में पूजा करते हैं।। प्रतषि = प्रत्यक्ष।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मैं जितनी भी आत्माओं को देखता हूँ मुझे उतने ही शालग्राम (विष्णु) दिखाई देते हैं। वस्तुक्त मानव के भीतर जो ईश्वराश विद्यमान है उसी की मान्यता, पूजा, सम्मान होना चाहिए। प्रत्यक्ष देव तो वह संत हैं जिसने उस आत्मा से अपना वादात्म्य स्थापित कर लिया है। वही पूजनीय है मेरी निष्ठा भी उसी में लगी हुई है। पत्थर मेरा कोई प्रयोजन नहीं।

विशेष :

1. अर्थशक्ति उद्भवे वस्तु से अलंकार ध्वनित होता है। व्यतिरेक ध्वनन मिलता है।

सेवैं सालिगराम कूं, मन को भ्रांति न जाइ।

सीतलता सुपिने नहीं, दिन दिन अधकी लाइ।।६।।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि सालिगराम पूजने से मन का भ्रम (माया भ्रम) नहीं जाता, और माया के भ्रम-विनाश बिना मन शीतल नहीं हो सकता, अर्थात् इसका कल्पना (स्वप्न) भी नहीं की जा सकती। अपितु पापग्नि क्रमशः बढ़ती ही चली जाती है।

विशेष :

1. यपकातिशयोक्ति विशेषोक्ति अलंकार है।

सेवैं सालिगराम कूं, माया सेती हेत।

बोढे काला कापड़ा, नांव धरावै सेत।।७।।

भावार्थ : लोग प्रायः सालिगराम की पूजा करते हैं, किंतु उनके हृदय में प्रभु प्रेम नहीं होता। ऐसी यांत्रिक पूजा से क्या लाभ होता है। ऐसे व्यक्ति ओढ़ते तो अज्ञान, पाप आयादि का काला कपड़ा है परन्तु दिखाते हैं कि वे भद्रि रूपी श्वेत वस्त्र को धारण किए हुए हैं।

विशेष :

1. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

जप तप दीसै थोथरा तीरथ व्रत बेसास।

सवै सैंबल सेविया, यो जग चाल्या निरास।।८।।

शब्दार्थ : थोथरा = निस्सार, कोथा। बेसास = विश्वास। सैंबल = सेमर। सबै = तोता, शुक।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जप-तप, तीर्थ व तादि निस्सार हैं। जैसे तोता (शुक) सेंमल के फल में रस की भ्रान्ति से आकृष्ट होकर उसका भोग करना चाहता है किन्तु उसे निराशा ही हाथ लगती है। उसी प्रकार जप-तपादि के द्वारा मुक्ति की उम्मीद लगाकर लोग आश्रय ग्रहण करते हैं। किंतु उन्हें मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती-उन्हें निराशा ही हाथ लगती है।

विशेष :

1. उपमा और भ्रान्तिमान अलंकार है।

तीरथ त सब बेलड़ी, सब जग मेल्या छाड़।

कबीर मूल निकंदिया, कौज हलाहल खाड़।।९।।

शब्दार्थ : बेलड़ी = लता। मेल्या छाड़ = आच्छादित। मूल निकंदिया = जड़कार देना हलाहल = विष।

भावार्थ : तीर्थादि माया बेल के समान है, इसने सारे संसार को वश में किया हुआ है। कबीर कहते हैं कि मैंने उसको जड़ से उखाड़ दिया है, क्योंकि इससे उत्पन्न होने वाली विष रूपी असक्ति को कोन पीवै।

विशेष :

1. रूपक अलंकार है।

मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जांणि।

दसवौ द्वारा देहुरा, तामै जोति पिछांणि ।।१०।।

शब्दार्थ : देहुरा = देनहरा देवघर देवग ह) मंदिर। पिछांनि = पहचानों।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि यह मन ही मथुरा है हृदय द्वारिका है, शरीर ही काशी है तथा तीर्थों में प्रतिष्ठित देवालयों की तरह ब्रह्मरंध्र रूपी देवालय भी इसी में है। अतः तीर्थों में भटकना छोड़कर, इसी मन्दिर में परम-ज्योति को पहचानों।

विशेष :

1. जो कुछ पिण्डे सोई ब्रह्माण्डे, रूपक अलंकार है।

कबीर दनियां दे हरै, सीस नवांगण जाइ।

हिरदा भीतरि हरि वसै, तू ताही सौं ल्यौ लाइ।।११।।

शब्दार्थ : लौ = प्रेम, ध्यान।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि संसार के लोग मंदिर में भगवान् के सामने नतमस्तक होते हैं। हे साधक तुम्हारे हृदय के भीतर ही आत्मरूप में हरि विद्यमान हैं। उसे बाहर क्यों खोजते फिरते हों। उसी संग अपनी लौ जगाओ। उसी में सुरति जगाओ।

विशेष :

1. व्यतिरेक अलंकार है।

१३. 'भेष को अंग'

भेष से अभिप्राय है पहनावा। कबीर बाह्यचारों का खण्डन करते हुए, पहनावे से संबंधित छापा, तिलक भगवा वस्त्रादि को भी भ्रम का कारण व्यर्थ, पाखण्ड मानते हैं। उनका मानना है कि यह सभी कोई तात्त्विक अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकते। वह तो मन साधना, आन्तरिक अवस्था होती है। इसी से संबंधित अर्थ का ध्वनित करने वाली साखियाँ प्रस्तुत अंग में से कलित हैं।

कर सेती माला जपै, हिरदै बहै डंडल।

पग तो पाला मैं गिल्या, भाजण लागी सूल।।१।।

शब्दार्थ : सेती = से। डंडूल = वात्यचक्र बवणुर, द्वन्द्व। पाला = सुषार, गिला = गल जाना। सूल = काषा।

भावार्थ : जो व्यक्ति केवल बाह्याडम्बरों के लिए हाथ में माला जपता है उसके हृदय में वासनाओं का बवण्डर चलता रहता है, उसकी दशा उस व्यक्ति के समान है जो पाले में पैर रखता है तो पैर टंड से गलने लगता है और जब वहाँ से भागने की चेष्टा करता है तब उसके चारों ओर लगे काँटे चुभने लगते हैं। ऐसा व्यक्ति न तो टंडक का सुख पा सकता है और न सुखी जमीन की सुविधा।

विशेष :

1. बाह्याडम्बरों में फंसा, व्यक्ति लोक और परलोक, दीन-दुनिया दोनों को गँवा बैड़ता है। तात्पर्य है कि सांसारिक सुखों को तो आडम्बर के हृदय-निर्मल, आन्तरिक साधना न होने के कारण ईश्वर से भी वंचित रह जाता है। अतः ऐसे व्यक्ति का लोक और परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं।

कर पकरें अँगुरी गिनै, मन धावै चहुँ ओर।

जाहि किरायां हरि मिलै, सो भया काठ की ठौर।।२।।

शब्दार्थ : फिरायों = घुमाने से।

भावार्थ : पाखण्डी साधक हाथ में माला लिए अँगुलियों से मनकों की गिनते हुए घुमता रहता है, परन्तु उसका मन विषय-वासनाओं-कामनाओं में उलझा रहता है जिस मन को संसार की ओर उन्मुख करने से, प्रभु से मिलन हो सकता है, परन्तु ऐसे पाखण्डी में प्रेम भक्ति तो होती नहीं केवल दिखावा ही होता है। ऐसा पाखण्डी काठ के समान कठोर और जड़ ही गया होता है, ऐसे व्यक्ति को प्रभु की प्राप्ति कैसे हो सकती है।

विशेष :

1. फिरायों में पर्याय वक्रता है।

माला पहरै मनमुषी, ताथै कछू न होइ।

मन माला कौं फेरतां, जुग उजियारा सोइ।।१।।

शब्दार्थ : मनमुखी = मन के संकेत पर चलने वाला। ताथै = उससे।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि जो व्यक्ति विषयासक्त मन के संकेत पर चलता है, उसके माला फेरने से कोई, लाभ नहीं। जो मन रूपी माला को घुमाता है अर्थात् मन को विषयों से विमुख कर ईश्वरोन्मुख करता है, उसका हृदय प्रकाशित हो उठता है। लोक, परलोक प्रकाशित हो उठेंगे।

टिप्पणी: इस साखी के पहले चरण में 'पहरै' शब्द अभिधाथ में प्रयुक्त हुआ है और दूसरे चरण में फेरता में लक्षण अर्थ में। ज्ञान का अर्थ है-मन को संसार से घुमा कर ईश्वर में लगाना।

विशेष :

1. 'उजियारा' शब्द में पर्याय वक्रता है।

माला पहरे मनमुषी, बहुते फिरै अचेत।

गौंगी रोल बहि गया, हरि सू नौही हेत ॥४॥

शब्दार्थ : बहुतैक = बहुत से। अचेत = अज्ञानी। गौंगी = गंगा, संबंध गंगा के। रोल = बहाव, प्रवाह, शोर, जनख शोर। हेत = प्रेम

भावार्थ : कबीर दास कहते हैं कि बहुत से वेशधारी साधु मनमुखी माला को पहन लेता है, किंतु ईश्वर के ज्ञान से एकदम अछूते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति तो गागी माला (चाँदी, सोने या अन्य श्वेत रंग की माला) को फरेने में ही गंगा में बह जाते हैं, संसार से चले जाते हैं। परन्तु भगवान् की भक्ति नहीं प्राप्त कर पाते।

विशेष :

1. मनुष्य को वेश की चिंता छोड़कर, भगवान की भक्ति करनी चाहिए।
2. यहाँ 'गौंगी रालै' स्पष्ट नहीं है। यहां इसका अर्थ माला और फेरना भी लिया जा सकता है।

कबीर माला काठ की, कहि समझावै तोहि ।

मन न फिरावै आपणौ, कहा फिरावै मोहि॥५॥

शब्दार्थ : कहि = कहकर।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि काठ के मनके की माला फेरते समय ऐसा समझाती प्रतीत होती है कि मुझे शुष्क काष्ठ को फिराने से लाभ ही क्या है, अपना मन विषयों से क्यों नहीं फिराते, जिससे कल्याण हो सकता है।

विशेष :

1. 'फिरावै' शब्द में यमक अलंकार है।

कबीर माला मन की, और संसारी भेष।

माला पहर्या हरि मिलै, तौ अरहा के गलि देष॥६॥

शब्दार्थ : अरहर = रहर। गलि = गले में।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि सच्ची माला तो मन की है उसी को बार-बार प्रभु के प्रेम में फेरना चाहिए। गले में पड़ी हुई माला सांसारिक दिखावा मात्र है। यदि ऐसी माला को धारण कर सकने से प्रभु मिल सकते तो ऐसी बहुत बड़ी माला 'रहय' के गले में पड़ी होने के कारण उसे प्रभु मिल जाना चाहिए।

विशेष :

1. निदर्शना अलंकार ध्वनित होता है।

माला पहरया कुछ नहीं रुल्य मूवा इहि भारि।

बाहरि ढोलया ह गलूं, भीतरि भरी भंगारि॥७॥

शब्दार्थ : ढीलया = वहन किया है। हींगलूं = लाल रंग का। भंगारि = कूड़ा करकट, मल।

भावार्थ : गले में (बाहरी वेश में) माला डालने से कोई लाभ नहीं, उसको लटक कर संसारी लोग व्यर्थ का भार वहन करते हैं। पाषंडी साधु बाहर से लाल रंग का गुरुआ वस्त्र धारण किए रहते हैं। परन्तु उनके भीतर दूषित वासनाओं का कूड़ा-करकट भरा रहता है।

विशेष :

1. हींगलूं से अभिप्राय हिंगलाज-एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान जो बलूचिस्तान में है।
2. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

**माला पहरया कुछ नहीं, काती मन के साथि।
जब लग हरि प्रणटै नहीं, तब लग पड़ता हाथि॥८॥**

शब्दार्थ : काती = कैंची।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि गले में माला डालने से क्या प्रयोजन है? जब तक मन में मरिनी चलती रहती है अर्थात् मन धोखाधड़ी से भर रहता है तब तक मालावृदि से, बाहरी वेष बनाने से कोई लाभ नहीं, जब तक हृदय में प्रभु-प्रेम की वास्तविक ज्योत नहीं जगती। अर्थात् प्रभु प्रेम में माला व्यर्थ है। यह पाखण्ड का प्रतीक बन रक रह जाती है।

विशेष :

1. एक अन्य अर्थानुसार-जब तक हरि प्रगट नहीं होते तब तक तुम्हारे हाथ में 'मन' ही लगेगा, अतः उसी मन को वश में करना चाहिए।

**माला पहरयाँ कुछ नहीं गॉंठि हिरदा की खोइं
हरि चरनूं चित राखिये, तौ अमरपुर होइ॥९॥**

शब्दार्थ : गॉंठि = हृदय-कामना, माया, अमरपुर-स्वर्ग।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि माला पहनने से कोई लाभ नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि हृदय में जो जीव माया की ग्रंथि पड़ गई है, उसको खोला जाए, अर्थात् भगवान् के चरणों में चित लगाया जाए, तभी अमरपुर की प्राप्ति हो सकती है।

विशेष :

1. गॉंठि में रूढ उपादान लक्षण है।

**माला पहरया कुछ नहीं, भगति न आई हाथि।
माथौ मूध-मुंडाइ करि, चल्या जगत के साथि॥१०॥**

शब्दार्थ : माथौ = सिर

भावार्थ : यदि हृदय में भक्ति का संचार नहीं हुआ तो केवल माला डालना व्यर्थ है। सिर मूध-मुंडा कर साधु वेष में, जगत के विषय-वासनात्मक मार्ग पर बहुत से चले गये हैं।

विशेष :

1. विनोक्ति अलंकार है।

**साँई सेती साँच चलि, औरां सूँ सुध भाइ।
भावे ले वे केस करि, भावे घुरड़ि मुड़ाइ॥११॥**

शब्दार्थ : सुध भार = शुद्ध भाव। भावे = चाहे। घुरड़ि = घुटाकर

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि यदि कोई ईश्वर के प्रति सच्चा और अन्यों के प्रति शुद्ध, सकारात्मक भाव रखता है, तो वह सच्चा भक्त है। चाहे वह लम्बे केश रखता हो, चाहे एकदम घोटमघोट सिर मुड़ा लेता हो।

विशेष :

1. आन्तरिक शुद्धता ही भक्त की सही पहचान है।
2. बाह्य वेश एकदम निरर्थक एवं भ्रमात्मक, पतन की ओर, घमंड का कारण बनता है।

केसों कहा बिगाड़िया, जे मूंडे सौ बार।

मन को काहे न मूंडिए, जामै विषे-विकार ॥१२॥

शब्दार्थ : केसो = बाल। विषे विकार = विषम वासनाएँ।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि बालों को मुँडाने भाग से साधु भक्त नहीं बना जा सकता, उसके लिए मन को मूँडना पड़ता है। क्योंकि मन में ही, विषय-विकारों का जन्म होता है, और यही जीव को भटकाते हैं। अतः सौ-सौ-बार, अर्थात् बार-बार सिर मुँडाने से कोई लाभ नहीं।

विशेष :

1. मन -विकारों का घर है, इसे संयम-साधना द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है।

मन मैवासी मूँडि ले, केसा मूँडे कौह।

जे कुछ किया सु मन किया, केसों किया नौहि ॥१३॥

शब्दार्थ : मैवासी = गढ़पति, नायक।

भावार्थ : हे जीव इस शरीर रूपी गढ़ के अहंकार पूर्ण अधिपति मन को तू मूँड ले, अर्थात् उसे अहंकार को तू समाप्त कर ले, जिससे इस शरीर पर उसके वास्तविक, अधिकारी आत्मा का अधिकार हो जाए। बालों को मुँडाने से क्या लाभ होगा? तुम्हारे भीतर जो कुछ विकार हैं, उनका कारण मन है। वासनाओं में भटकाने वाला मन है, इसलिए उसे साफ करो। केसों ने क्या बिगाड़ रखा है।

विशेष :

1. मन समस्त संकल्पों-विकल्पों का कारण है अतः इसे ही सुन्दर, साका, स्वच्छा बनाने का एक मात्र साधन प्रभु भक्ति करनी चाहिए अल्ला सभी उपाय-साधन, बाह्यचार पाखण्ड है।

मूँड मुँडारत दिन गए, अजहूँ न मिलिया राम।

राम नाम कहु क्या करें, जे मन के औरे काम ॥१४॥

भावार्थ : सिर मुँडवाते-मुँडवाते जीवन समाप्त हो गया है, किंतु आज तक प्रभु से मिलन नहीं हो पाया। तुम जिह्वा से राम-राम का जप करत हो, किंतु मन विषयों में रमा रहता है। अर्थात् विषयों से विमुख होकर, ईश्वरोन्मुख होकर, नाम-जप करो, तभी प्रभु से मिलन होगा। यदि मन विषयों से विमुक्त रहित नहीं हुआ नाम-जप भी कोई फल देने वाला नहीं है।

विशेष :

1. अर्थ शक्ति उद्भव वस्तु से वस्तु ध्वनि है ध्वनित होता है-मन को वश में करना चाहिए।

स्वांग पहरि सोरहा गया, खाया पीया भूँदि।

जिहि सेरी साधु नीकले, सौ तौ मेल्ली मूँदि ॥१५॥

शब्दार्थ : सोरहा = सोहरत, ख्याति। भूँदि = कूद-कूदकर। सेरी = मार्ग, गली।

भावार्थ : हे जीव ऊपरी वंश बनाकर तूने बहुत बड़े साधु होने की ख्याति प्राप्त कर ली है। और इसी ख्याति के बल पर तुमने खूब मौज-मस्ती की। सही अर्थों में जिस रास्ते से साधु जाते हैं तूने आज तक उस को खोला ही नहीं है उलआ अपने पाखण्डी जीवन-वेश द्वारा उस गली के अवरुद्ध कर लिया है।

विशेष :

1. कुछ प्रतिभों के 'सोहदा' पाठ है जिसके अनुसार अर्थ होगा-वेश बनाकर तूछैला बन कर घूमता है।

बैसनो भया तो का भया, बूझा नह बवेक।

छापा तिलक बनाए करि, दगध्या लोक अनेक।।१६।।

शब्दार्थ : छापा = ठप्पा। बवेक = विवेक। दगध्या = पीड़ित किया।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं। कि हे जीव यदि तू वैष्णव और सत्-असत्य, विवेक ज्ञान को नहीं पहचाना, तो कोई लाभ नहीं। तू वैष्णव बन कर मस्तक पर तिलक और बाहु वस्त्रादि पर रामनाथ को दापा लगाकर अनेक भोले-भोल लोगों को ठगता रहता है और अपने कुकर्मों से पीड़ित करता रहता है।

विशेष :

1. वैष्णव वेशधारियों को बाह्य आडम्बरो के लिए लताड़ा गया है।

2. 'दगध्या लोक अनेक' का एक अर्थ हो सकता है कि अनेक लोकों में तू इसी प्रकार से आडम्बर के कारण पीड़ित होता रहेगा।

तन को जोगी सब करै, मन कौ बिरला कोई।

सब सिधि सहजै पाइए, जे मन जोगी होय ।।१७।।

शब्दार्थ : जे = यदि। सहजै = बिना कठिनाई के।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य अनेक आडम्बरयुक्त साधु-जोगियों के वेश बना कर ईश्वर, ज्ञान नहीं मिलता, ऐसे तो बहुत लोग जोगी बने घूत रहे हैं परन्तु, इन में से कोई विरला ही मन से आन्तरिक रूप से जोगी, वैराग्य धारण किए हुए होता है। यही सिधियों का मूल है। मन योगी-वैराग्य युक्त बना लेने से बिना किसी कठिनाई के, सहज रूप में ही सम्पूर्ण सिद्धियाँ मिल जाती हैं।

विशेष :

1. मन का वैराग्य, योग ही मूल तत्त्व वस्तु है।

2. यहाँ 'सब सिद्धि' से भाव है-परमार्थ की सफलता सिद्धि नहीं।

कबीर यहु तो एक है, पड़दा दीया भेष।

भरम-करम सब दूर करि, सबहीं मोहि अलेष।।१८।।

शब्दार्थ : अलेष = अलक्ष्य, ब्रह्म, परमात्मा

व्याख्या : कबीर कहते हैं कि घर-घर में एक ही प्रभु का वास है, किंतु बाहरी रूप ने परदा डाल रखा है। अर्थात् रूप में विभिन्न के कारण, ब्रह्म के एकत्व की अनुभूति नहीं हो पाति। तू अज्ञान और भेद उत्पन्न करने वाले कर्मों को दूर करके, सभी के भीतर विद्यमान उस अदृश्य पक-प्रभु को देख।

विशेष :

1. ईश्वर, सृष्टि के प्रत्येक कण में विद्यमान है।

2. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

भ्रम न भागा जीय का, अनंतहि धरिया भेष।

सतगुरु परचै बाहिरा, आंतरि रहया अलेष।।१६।।

शब्दार्थ : बाहिरा . रहित, बिना

व्याख्या : कबीर कहते हैं कि माया का प्रभाव इतना अधिक है कि वह ज्ञान के बिना छूटता ही नहीं। बाहर से अनेक वेश धारण करने के बावजूद भी जीव का भ्रम नहीं जाता। सद्गुरु के परिचय से रहित होने के कारण उसके द्वारा हरि से 'परचा' करवाने के अभाव में भीतर विद्यमान अलक्ष्य (परम तत्त्व) अज्ञात ही रह जाता है।

विशेष :

1. बाह्य वेश, ज्ञान (तत्त्व परिचय) करवाने में अक्षम है।
2. ज्ञान-परिचय के लिए सद्गुरु आवश्यक है।
3. अभाव में भीतर विद्यमान ब्रह्म प्रकट नहीं होता, परिचय, जानकारी नहीं मिल सकती।
4. विनोक्ति अलंकार है।

जगत जहंदम राचिया, झूठे कुल की लाज।

तन बिनसे कुल बिनसि है, गहयौ न रोम जिहाज।।२०।।

शब्दार्थ : जहंदम = जहन्नम, नरक, दुःख और कष्ट की जगह राचिया = बनाया।

व्याख्या : कबीरदास कहते हैं कि झूठे ही कुल-बड़ाई की लज्जा रखने में संसार के अधिकांश व्यक्ति जहन्नम (नरक) से प्रेम करते रहे हैं। नारकीय जीवन बिता रहे हैं। मैं धोखा कर रहा हूँ कि शरीर के नष्ट होते ही व्यक्ति को यथाशीघ्र पकड़ लो - उनके आश्रय में चले जाओ।

विशेष :

1. कुलाभिमान व्यर्थ है, शरीर के साथ ही कुल भी छूट जाता है।
2. जीवन की श्रेष्ठता - कुल से न होकर ज्ञानाधारित है।
3. रूपक तथा गहेया न राम निहाज में वक्रोक्ति है।

पष ले बूडी पथम , झूठी कुल की लार।

अलष विझारयो भेष में, बूडे काली धार।।२१।।

शब्दार्थ : पष - पक्ष। लार = परम्परा, लीक।

व्याख्या : संसार के लोग भिन्न-भिन्न पंथों और वर्दों का पक्ष लेकर तथा कुल की झूठी और नाशवान् परम्पराओं के पीछे पड़े रहते हैं। इससे वे केवल विनाश को प्राप्त होते हैं। उन्होंने वंश को ही महत्व दे रखा है और अलक्ष्य परब्रह्मा को भुला रखा है। वेश तो प्रत्यक्ष है, इसलिए वे समझते हैं कि इसी में विशेषता है और अप्रत्यक्ष, अलक्ष्य परमतत्त्व से अनुराग करने की चेष्टा नहीं करते। इसलिए जीवन कलुषित, पापधारा में वह जाते हैं।

विशेष : रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग है।

चतुराई हरि नौ मिलै, ए वार्ता की बात।

ऐ निसप्रेही निरधार का, गाहक गोपीनाथ।।२२।।

शब्दार्थ : निसप्रेही = निष्काय। निरधार = नराक्षय, ग्राहक = ग्रहण करने वाला।

व्याख्या : कबीर कहते हैं कि मूल तात्त्विक बात यह है कि प्रभु पाण्डित्य, शास्त्रों के नैपुण्य से, बौद्धिक व्यायाम से नहीं प्राप्त हो सकते। जो व्यक्ति इस शास्त्रज्ञान का सहारा न लेकर सर्वथा निष्काम प्रेम को धारण करता है, गोपीनाथ, ईश्वर उसी को स्वीकार करते हैं।

टिप्पणी :

गोपीनाथ में बड़ी सुन्दर व्यंजना है, गोपियां सरल और निश्छल स्वभाव की थी, शास्त्र ज्ञान से अपरिचित थी, किन्तु कृष्ण में उनका सहज अनुराग था। इसलिए कृष्ण ने उन्हें अपनाया। ठीक इसी प्रकार जिन्हें पाण्डित्य का भरोसा नहीं है, किन्तु फिर भी प्रभु से अनुराग रखते हैं, ईश्वर उन्हें ही स्वीकार करते हैं।

नवसत साजे कौमनी, तन मन रही संजोइ।

पीव कै मनि भावै नही, परम की यै क्या कोइ।।२३।।

शब्दार्थ : नवसत (9+7) सोलह शं गार, परम = दिखाना, छदम्।

व्याख्या : कीमिनी चाहे सोलह शं गार कर ले, न-मन को सजाकर प्रिय को आकृष्ट करने का प्रयत्न करे, किन्तु यदि वह प्रिय के मन को प्रसन्न न कर सकी, तो बाहरी दिखावे से क्या लाभ। प्रिय तभी प्रसन्न होगा जब उसके मन में सच्चा प्रेम होगा। ठीक इसी प्रकार यदि साधक के मन में सच्ची भक्ति नहीं है तो माला-छापा-तिलक-त्रिपुंड आदि बाहरी वेश व्यर्थ हैं।

विशेष :

1. सच्चा हृदय से प्रेम ही आकृष्ट का साधन बन सकता है।
2. अन्योक्ति अलंकार है।

जब लग पिव परचा नहीं, कन्या क्वारी जाँनि।

हथलेवा हों सै लिया, मुसकलि पड़ि पिछाँणि।।२४।।

शब्दार्थ : हथलेवा = पाणिग्रहण, हौसैं = उल्लासपूर्वक, पिछाँनि = पीछे, बाद में।

व्याख्या : कबीरदास कहते हैं कि जब प्रिय से परिचय नहीं तब तक कन्या को कुंवारी ही समझना चाहिए। बहुत सी कुमारियां वैवाहिक कृत्य को उल्लास से ग्रहण करती हैं, परन्तु वैवाहिक कृत्य के परिचय, नियमों की जानकारी के अभाव में, अर्थात् पति के प्रति पूर्ण आत्म समर्पण करना होगा, इस ज्ञान के अभाव में आगे चल कर अनेक कठिनाईयों का सामना पड़ता है। क्योंकि प्रियतम हाव-भाव, बाहरी शं गार पर रीझने वाला नहीं है, वह तो पूर्ण समर्पण का आकांक्षी है। ठीक ऐसी ही दशा जीव की होती है वह बड़े उत्साह से साधना के मार्ग में अग्रसर होता है, परन्तु साधना मार्ग की कठिनाईयों, समर्पण राग-द्वेष, अहं के त्याग) की जानकारी के अभाव में अनेक कठिनाईयों का सामना करता है। तब वह सोचता है कि मैंने व्यर्थ ही इस मार्ग को चुना है।

विशेष :

1. साधक के मार्ग की कठिनाईयों को बहुत ही सुन्दर ढंग से वैवाहित कृत्य द्वारा समझाया गया है।
2. अन्योक्ति अलंकार है।

कबीर हरि की भक्ति का, मन में षरा उल्लास।

मैवासा भाजै नहीं, हूज मतै निज दास।।२५।।

शब्दार्थ : मैवासा = स्वामित्व, मैं का भाव, भाँजै = भग्न होना।

व्याख्या : कबीर कहते हैं कि प्रायः लोगों के मन में प्रभु का भक्त बनने का उल्लास होता है। एक अभिलाषा जगती है कि हम भी प्रभु के भक्तों में सम्मिलित हो जाएं, किन्तु अहं भाव समाप्त नहीं होता, बिना अहं भाव नष्ट हुए कोई प्रभु का वास्तविक भक्त नहीं बन सकता।

टिप्पणी :

1. मैवासा शब्द में श्लेष है। मैवासे का अर्थ है - दुर्ग, किला। इसका दूसरा अर्थ है - मैं या 'अहं' का वास। जब तक यह दुर्ग नहीं टूटता तब तक प्रभु से मिलन नहीं होता।
2. हूज = मैं का पर्यायवाची है।
3. मानवीकरण अलंकार है।

मैवासी मोई किया, दुरिजन काठें दूरि।

राज पियोर राम का, नगर बस्या भरिपूरि॥२६॥

शब्दार्थ : मोई - विनष्ट।

व्याख्या : जीव ने अहं का दुर्ग खड़ा कर रखा है। उसमें प्रभु का प्रवेश कैसे सम्भव है? अतः इस दुर्ग को नष्ट करके अपने भीतर निवास करने वाले काम, क्रोध, राग-द्वेष आदि दुर्जनों को निकाल भगाना है, तभी अंतःकरण रूपी नगर में प्रिय राम का राज्य होगा और यह नगर सत कर्मों और सद्भावनाओं से परिपूर्ण होगा।

विशेष :

1. मैवासा में श्लेष है।
2. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

१४. कुसंगति कौ अंग

प्रस्तुत अंग में कुसंगति के प्रभाव पर प्रकाश डालने वाली साखियों का संग्रह है। कुसंग का अर्थ उन्होंने मूर्ख, शाक्त तथा संसार में आसक्त व्यक्तियों का साथ माना है। वे कुसंग को गुड़ समझते हैं। अर्थात् कुसंग गुड़ की भांति मीठा, प्यारा लगता है। और व्यक्ति को उसमें चिकने वाली मक्खी। एक बार कुसंग में पड़ने पर मनुष्य उसमें अधिक फंसता ही चला जाता है।

निरमल बूंद अकास की, पड़ि गई भूमि विकार।

मूल विनंठा मॉनवी, बिन संगति भठछार।।१।।

शब्दार्थ : मूल = पूर्ण रूप से। विनंठा = विनष्ट हुआ। मानवी = मनुष्य। भठछार = भट्टे की राख।

व्याख्या : आकाश की निर्मल बूंद पथ्वी पर गिर कर नष्ट, भ्रष्ट हो जाती है। ठीक उसी प्रकार से जीवन ब्रह्म से विमुक्त (अलग) होकर माया द्वारा ग्रसित होकर मलिन हो जाता है जीव की यह गति उसी प्रकार है जैसे भट्टे की राख में सभी स्वाह हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का मूल तत्त्व ब्रह्म संसार में आकर विनष्ट, स्वाह हो जाता है।

विशेष : उपमा अलंकार है।

मूरिष संग न कीजिए, लोहा जिल न तिराइ।

कदली सीप भवंग मुषी, एक बूंद तिहुँ।।२।।

शब्दार्थ : मूरिष = मूर्ख। तिराइ = तैरना। कदली = केला। भवंग = सर्प। भाइ = भाव, प्रकार।

भावार्थ : मूर्ख का साथ नहीं करना चाहिए। वह लोहे के समान है। जैसे लोहे पर बैठ नदी को पार नहीं किया जा सकता, वैसे ही मूर्ख की संगति से भवसागर नहीं पार किया जा सकता। संसर्ग का विचित्र परिणाम होता है। एक ही स्वाति नक्षत्र की बूंद कदली के संसर्ग में कूपर, सीप के संसर्ग में मोती आँसु सर्प के मुख में विष में बदल जाती है। बूंद एक ही है किन्तु संसर्ग की भिन्नता से परिणाम भिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

विशेष :

1. संगति के प्रभाव को वर्णित करते हुए कुसंग के परिणामों पर प्रकाश डाला गया है।
2. उपमा अलंकार है।

हरिजन सेती रुसणां, संसारी सूं हेत।

ते नर कदे न नीपजै, ज्यूँ कालर का खेत।।३।।

शब्दार्थ : रुसणां = रोष करते हैं, विमुख रहते हैं। कदे = कभी भी। नीपजै = विकसित होना, उत्थान। कालर = नोनी मिट्टी, रेल, ऊसर।

भावार्थ : जो प्रभु-भक्तों से रोष करते हैं, सत्संग से दूर रहते हैं और कुसंगत में रहते हैं अर्थात् विषयी लोगों के साथ रहते हैं, उनका कभी भी उत्थान नहीं हो सकता। उनके भीतर शक्ति का अंकुर उसी प्रकार नहीं जग सकता, जिस प्रकार ऊसर खेत में कोई बीज नहीं उग सकता।

विशेष :

1. कुसंग की गति की तुलना बंजर खेत से अत्यंत सटीक बन पड़ी है।

2. उत्प्रेक्षा अलंकार है।

मारी मरुँ कुसंग की, केला काँटे बेरि।

वो हालै वो धीरिये, साषित संग न बेरि।।४।।

शब्दार्थ : काँटे = निकट, किनारा। बेरि = बेर। शाषित = शाक्त। निबेरि = निवारण करो।

भावार्थ : मैं कुसंग के कारण उसी प्रकार विनाश को प्राप्त हो रहा हूँ, जिस प्रकार बेर के निकट लगा केला नष्ट होता है। जब कांटों वाला बेर वायु के कारण हिलता है तो अपने निकट के केले के पत्तों को चीर डालता है। उसी प्रकार दुष्ट पुरुष अपने दुर्गणों से सम्पर्क में आए हुए व्यक्ति को दूषित कर देता है। इसलिए जीवों को चाहिए कि वे शाक्तों की संगति से दूर रहें।

विशेष :

1. शाक्तों (सम्प्रदाय) से बचने का उपदेश देते हुए उन्हें बेर के कांटों के समान समझा गया है।
2. कबीर ने एक अन्य स्थल पर शाक्तों के विरोध में लिखा है - 'साकट संग न की जयै'
3. बेर और केला संदर्भ से संग के प्रभाव को प्रभावपूर्वक बनाया गया है।

मेरी नीसांणी मीच की कुसंगति हो काल।

कबीर कहै रे प्राणिया, बांणी ब्रह्म संभाल।।५।।

शब्दार्थ : मेर = मेरापन, ममत्व। नीसांणी = चिन्ह। मीच = म त्याग।

व्याख्या : अहं और मनत्व का भाव म त्याग की निशानी है अर्थात् आध्यात्मिक विनाश का चिन्ह है। और कुसंग ही, हानिकर आसक्ति उत्पन्न करने के कारण, काल है, अतः कबीर जी कहते हैं कि हे प्राणियों! ब्रह्मवाणी को समझने का प्रयत्न करो - भगवान् को समझो।

विशेष :

1. अहं को आध्यात्मिक जीवन की म त्यागकारक कहा गया है।
2. अहं को त्याग कर ही अर्थात् कुसंग को त्याग कर ही भक्ति अपने स्वयं ब्रह्म को पहचान सकता है।
3. रूपक अलंकार है।

माषी गुड़ में गड़ि रही, पंष रही लपटाइ।

ताली पीटै सिरि धुनै, मीठे बोई माइ।।६।।

शब्दार्थ : बोई = फंस जाना, समा जाना। माई = मक्खी।

भावार्थ : मिठास के लोभ से बेचारी मक्खी गुड़ की ओर आकृष्ट होकर जब उसमें गिरती है तो उसका पंख गुड़ से चिपट जाता है। वह उस गुड़ से अलग नहीं हो पाती तब वह पश्चाताप करती है और कहती है कि हे सखी! मिठास के आकर्षण से मैं इस गुड़ में बुरी तरह फंस गई। ठीक इसी प्रकार जीव, विषयों के माधुर्य से आकृष्ट होकर जब उनका भोग करता है तो वह उनमें इतना फंस जाता है कि उनसे निकलना उसके लिए असम्भव हो जाता है।

विशेष :

1. आसक्त मन का मक्खी उदाहरण अत्यंत सटीक बन पड़ा है।
2. अन्योक्ति अलंकार है।

**ऊँचे कुल क्या जनमियाँ, जे करणी ऊँच न होइ।।
सोवन कलस सुरे भइया, साधूं निंघा सोइ।।७।।**

शब्दार्थ : जनमियां = जन्म लेने से। करनी = कर्म। सुबरन = स्वर्ण। सुरा = शराब।

भावार्थ : ऊँचे कुल में जन्म लेने से क्या लाभ हो सकता है, यदि कर्म ऊँचा न हो। जैसे कलश तो स्वर्ण का हो, किन्तु सके भीतर मदिरा भरी हो तो सज्जनों द्वारा इसकी निन्दा ही होती है। वैसे ही शरीर से चाहे कोई ऊँचे कुल में जन्मा हो, किन्तु यदि उसके भीतर दुर्गुण भरे हैं तो वह सज्जनों द्वारा निन्दा ही होगी।

विशेष :

1. द ध्यंत और अर्थान्तर-भाव का संकर है।

१५. साधु कौ अंग

‘साधु कौ अंग’ शीर्षक के अंतर्गत उन साखियों को संकलित किया गया है, जिनमें साधु संगति के महत्व को प्रतिपादित किया गया है। कबीर की दृष्टि में साधु की संगति से ही कल्याण सम्भव है। इसके अभाव में तीर्थादि सभी व्यर्थ हैं। कबीर के अनुसार साधु चन्दन के वक्ष के समान है वह अपनी आस-पास के सभी लता-मुल्मों एवं वक्षादियों को चन्दन ही बना डालता है। यह ऐसा प्रभावकारी है, कि धीरे-धीरे जड़यति को भी सुजान, ज्ञानी बना देता है।

कबीर संगति साध की, कदे न निरफल होय।

चंदन होसी बांवना, नीव न कहसी कोय॥१॥

शब्दार्थ : निरकल = निष्फल, व्यर्थ। बाँवना = छोटा।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि साधु की संगति कभी व्यर्थ नहीं जाती। साधु बाहरी आकार-प्रकार में चाहे जितना साधारण प्रतीत होता हो किंतु आन्तरिक आध्यात्मिकता के कारण उसकी संगति से लाभ ही होगा। जैसे चंदन का वक्ष चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो, फिर भी उसकी सुगन्ध चतुर्दिक फैलती रहती है, और उसे कोई नीम नहीं कह सकता।

विशेष : दृष्टांत और निर्दर्शना अलंकार है।

कबीर संगति साध की, बेगि करीजे जाइ।

दुरमति दूरि गँवाइसी, देसी सुमति बताइ॥२॥

शब्दार्थ : दुरमति = दुर्बुद्धि! देसी = देगा। सुमति = सुबुद्धि।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि साधु की संगति तत्काल करनी चाहिए। वह तुम्हारी दुर्बुद्धि को निकाल फेंकेगा और तुम्हें सुबुद्धि प्रदान करेगा।

विशेष : लाक्षणिक शब्दावली काव्योपयुक्त है।

मथुरा जावै द्वारिका, भावै जावै जगनाथ।

साध संगति हरि भगति बिन, कछु न आवै हाथ॥३॥

शब्दार्थ : भावै = चाहे। आवै = आएगा।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि कोई द्वारका, मथुरा या जगनाथ पुरी में क्यों जन जाय, साधु की संगति और भगवान की भक्ति के बिना वह कुछ सारतत्त्व प्राप्त नहीं कर सकता।

विशेष :

1. विनोक्ति अलंकार है।

मेरे संगी दोइ जणां एक वैष्णों एक राम।

वो हैं दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाम॥४॥

शब्दार्थ : संगी = साथी। मुकति = मुक्ति। वैष्णों = प्रभु-भक्त।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मेरे दो ही साथी हैं - एक राम या प्रभु और दूसरा वैष्णव अर्थात् प्रभु-भक्त। प्रभु मुक्ति को प्रदान करते हैं और प्रभु-भक्त उनका नामस्मरण कराता रहता है।

विशेष :

1. वैष्णव से यहां अभिप्राय प्रभु भक्त से है।
2. कबीर की दृष्टि में नाम-स्मरण करने वाला ही वैष्णव है।

कबीरा बन बन में फिरा, कारणि अपणें रांम।

राम सरीखे जन मिले, तिन सारे सब कांम॥५॥

शब्दार्थ : सरीखे = सद श। जन = भक्त। सारे = सम्पन्न किया।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मैं अपने राम के लिए वन-वन में भटकता रहा। उस यात्रा में मुझे राम के भक्त मिल गये, जो रामगुण सम्पन्न थे। उन्होंने मेरा सब काम बना दिया।

विशेष :

1. उपमा अलंकार किया गया है।

कबीर सोई दिन भला, जा दिन संत मिलाहिं।

अंक भरे भरि भेंटिया, पाप सरीरौ जाँहि॥६॥

शब्दार्थ : भेंटिया = मिलकर। सरीरौ = शरीर से।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि वही दिन श्रेष्ठ है जिस दिन कोई सच्चा संत मिल जाता है उसका आलिंगन करने से शरीर के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।

विशेष :

1. साधु की असीम महिला को प्रतिपादित किया गया है।

कबीर चंदन का बिड़ा, बैट्या आक पलास।

आप सरीखे करि लिए, जे होते उन पास॥७॥

शब्दार्थ : बिड़ा = व क्ष, वितप। बैट्या = घिरा हुआ। आक = मदार। पलास = ढाक।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि यदि चंदन का व क्ष मदार और ढाक से घिरा हुआ हो तो वह अपनी सुगन्ध को उसमें संक्रान्त कर देता है। जो उसके पास होते हैं, उन सबको अपने समान बना लेता है, उसी प्रकार संतजन के निकट जो संसारी व्यक्ति होते हैं वे भी उनके साथ से साधु बन जाते हैं।

विशेष :

1. अन्योक्ति अलंकार का प्रयोग है।

कबीर खाई कोट की, पांणी पीवे न कोई।

आइ मिलै जब गंग मैं, तब सब गंगोदिक होइ॥८॥

शब्दार्थ : कोट = दुर्ग, किला। गंगोदिक = गंगाजल।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि दुर्ग की खाई का पानी दूषित माना जाता है, उसे कोई नहीं पीता। परन्तु वही जब बहकर गंगा में मिल जाता है, तब वह गंगाजल के समान पवित्र हो जाता है और सभी उसका पान करते हैं। वैसे ही जब तुच्छ जीव संतों का संग करता है, तब उसमें शुद्धता आ जाती है और सभी लोग उसका आदरपूर्वक स्वागत करते हैं।

विशेष : रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

जॉनि बूझि साचहि तजै, करै झूठ सँ नेह।
ताको संगति राम जी, सुपिनै हो जिनि देहु॥६॥

शब्दार्थ : तजै = त्याग करना। ताको = उनकी, ऐसे लोगों की।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि हे प्रभु। जो जान-बूझकर सत्य का त्याग करते हैं और झूठ से स्नेह करते हैं ऐसे लोगों की संगति स्वप्न में भी मत दो।

विशेष :

1. सत्य-अचारणधारी ही लाभकारी होता है।

कबीर तास मिलाइ, जास हियाली तूँ बसै।
वहि तर वेगि उठाई, नित को गंजन को सहै॥१०॥

शब्दार्थ : हियाली = हृदय में। गंजन = दुःख।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! आप उनसे भेंट कराइये जिनके हृदय में आप बसते हैं, यदि ऐसा संभव न हो तो मुझे शीघ्र ही उठा लो। क्योंकि दुर्जनों के बीच में नित्यप्रति की वेदना को कौन सहता रहे?

विशेष :

1. अभिलाषा संचारी भाव है।

केती तहरि समंद की, कत उपजै कत जाइ।
बलिहारी ता दास की, उलटी माँहि समाइ॥११॥

शब्दार्थ : कत = कितने।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि इस भव-सागर में प्राणी रूपी अनेक लहरें उठती हैं और इसी में विलीन हो जाती हैं। अर्थात् इस जीवन-समुद्र में न जाने कितने जीव आते-जाते हैं यह क्रम महत्वहीन है। मैं तो उस हरि-भक्ति पर निछावर होता हूँ, जो प्रकृति मार्ग के विपरीत चलकर हरि में समा जाता है, पुनः लहर-रूप में नहीं उठता।

विशेष : रूपकातिशयोक्त अलंकार का प्रयोग किया गया है।

काजल केरी कोठड़ी, काजल ही का कोट।
बलिहारी ता दास की, जे रहै रॉम की ओट॥१२॥

शब्दार्थ : ओट = सहारा, आश्रय।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि यह संसार काजल की कोठरी के समान है। इसकी चारदीवारी भी काजल की ही है अर्थात् चारों ओर अज्ञान की कालिमा छाई हुई है। इस अज्ञान के घेरे में भी जो राम की शरण लेते हैं। प्रभु के प्रति जिनके हृदय में भक्ति है, वे धन्य हैं। मैं ऐसे हरि-भक्तों पर निछावर हूँ।

विशेष : रूपक अलंकार का प्रयोग किया गया है।

भगति हजारी कपड़ा, तामें मल न समाइ।
साषित काली कांवली, भावै तहां बिछाइ॥१३॥

शब्दार्थ : हजारी कपड़ा = बहुमूल्य झीना श्वेत वस्त्र।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि भक्ति उस बहुमूल्य, झीने, श्वेत वस्त्र के समान है, जो थोड़ी सी भी गन्दगी नहीं सहन कर सकता। उसमें थोड़ा सा भी मल व्यक्त हो जाता है। शाक्त-साधना काले कम्बल के समान है, जिसे चाहे जहाँ बिछाए, उसमें चाहे जितनी गन्दगी लग जाए, उसका पता नहीं चलता।

विशेष : रूपक अलंकार का प्रयोग किया गया है।

१६. साध महिमा कौ अंग

साधुओं के महत्व को व्यंजित कराने वाली साखियों को संगलन प्रस्तुत शीर्षक में है। साधुओं के प्रभाव से ही कोई स्थान पवित्र और महत्वपूर्ण बनता है। धन सम्पत्ति की तुलना में हरि भक्ति ही महत्वपूर्ण है, अतः हरि के भक्तों की महिला राजाओं से भी बढ़कर है। सच्चे भक्त वैष्णव हैं शाक्त नहीं। अतः महत्व भी ऐसे ही भक्तों का है।

चंदन की कुटकी भली, नां बंबूर की अबरांउ।

वैश्यों की छपरी भली, नां शाषत का बउ गाउं।।१।।

शब्दार्थ : कुटकी = छोटा टुकड़ा। अबरांउ = बाग।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि चंदन का एक छोटा-सा टुकड़ा, बबूल के पूरे बाग की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर है। ऐसे ही प्रभु भक्त वैष्णव की एक सामान्य झोंपड़ी शाक्तों के बड़े गांव से अधिक श्रेयस्कर है।

विशेष :

1. यहां कबीर ने वैष्णव (साधु-सज्जन) को शाक्तों (एक सम्प्रदाय विशेष जिसमें शक्ति पूजा प्रचलित है, जो कबीरादि के समय में धार्मिक क्षेत्र में फैली हुई अनेक बुराइयों का घर थी।) से उच्च घोषित किया है।
2. दृष्टांत अलंकार है।

पुरपाटण सूबस बसै, आनंद ठांये ठांइ।

रांम सनेही बाहिरा, ऊँजड़ मेरे भांइ।।२।।

शब्दार्थ : पुरपाटण = गांव और नगर। सूबस = सुन्दर बसा हुआ। ठाँवै-ठाँइ = स्थान-स्थान पर। बाहिरा = रहित, बिना। भांइ = दृष्टि में।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि गांव और नगर सुन्दर रूप से बसे हुए हैं और उनमें स्थान-स्थान पर आनन्द मनाया जा रहा है, किन्तु यदि उनमें राम-भक्त का निवास नहीं है, तो वह मेरे विचार में उजड़े हुए स्थान के समान है।

विशेष : विनोक्ति अलंकार का प्रयोग किया गया है।

जिहिं घरि साध न पूजिये, हरि की सेवा नाँहि।

ते घर मड़हट सारषे, भूत बसै तिन माँहि।।३।।

शब्दार्थ : मड़हट = मरघट, श्मशान। सारषे = के समान, सद श।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जिस घर में संतों का सम्मान नहीं होता और भगवान की पूजा नहीं होती, वह श्मशान के समान है और उसमें रहने वाले भूत के सद श हैं अर्थात् जीवित ही मृत के समान हैं।

विशेष : उपमा अलंकार का प्रयोग किया गया है।

हैं गै गँवर सघन घन, छत्रपती की नारि।

ता सुख थैं भिष्या भली, हरि सुमिरत दिन जाइ।।४।।

शब्दार्थ : है = घोड़ा। गै = हाथी। गँवर = वाहन। सघन = घन, अधिक संख्या में।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि यदि किसी के पास सवारी करने के लिए बहुत से हाथी - घोड़े और सिर पर छत्र तथा मकान पर ध्वजा भी फहरा रही है, तो भी यदि वहां हरि सिमरण नहीं होता, तो वहां के सुख की अपेक्षा भीख मांग कर प्रभु के स्मरण में जीवन बिताना ही श्रेयस्कर होगा।

विशेष : व्यतिरेक अलंकार है।

**क्यूं न प नारी नींदये, क्यूं पनिहारी कौं मान।
वामांग संवारै पीव कौ, वा नित उठि सुमिरै राम।।६।।**

शब्दार्थ : न प = राजा। पीव = पति।

भावार्थ : प्रभु-भक्त की पनिहारिन की अपेक्षा राजा की भी पत्नी को क्षुद्र क्यों समझा जाता है? कारण यह है कि रानी केवल अपने पति को प्रसन्न करने के लिए शं गार करती है और पनिहारिन नित्य प्रातः उठकर भगवत् स्मरण करती है।

विशेष : उत्तर अलंकार का प्रयोग किया गया है।

**कबीर धनि ते सुंदरी, जिनि जाया बैसनों पूत।
राम सुमरि निरभै हुवा, सब जग गया अऊत।।७।।**

शब्दार्थ : बैसनों पुत = हरि भक्त। अऊत = अपूत।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि वही नारी धन्य है जिसने हरि-भक्त पुत्र को जन्म दिया है वह राम के नाम का स्मरण करके निर्भय हो जाता है। उसके अतिरिक्त सारे संसार को निस्संतान ही समझना चाहिए।

विशेष : अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि है।

**कबीर कुल तौ सो भला, जिहि कुल उपजै दास।
जिहि कुल दास न ऊपजै, सो कुल आक पलास।।८।।**

शब्दार्थ : दास = भक्त। आक = मदार (एक कड़वा पौधा)।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जिस कुल में प्रभु भक्त जन्म ले वही कुल परिवार अच्छा, धन्य होता है, और जो कुल राम-भक्त से रहित होता है वहां तो आक और पलास की भांति निस्सार ही होता है।

विशेष : उपमा अलंकार है।

**साषत बांभाज मति मिले, बैसनों मिले चंडाल।
अंक माल दे भेंटिये, मानौं मिले गोपाल।।९।।**

शब्दार्थ : अंकमाल = आलिंगन।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि शाक्त सम्प्रदाय को मानने वाला चाहे ब्राह्मण की क्यों न हो, उससे मिलना अच्छा नहीं। और प्रभु भक्त वैष्णव धर्म सम्प्रदाय को मानने वाला चाण्डाल भी उससे अच्छा है क्योंकि उसे आलिंगन भर मिलने से ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्रभु गोपाल से ही मिल रहे हों।

विशेष :

1. शाक्तों की भर्त्सना की है।
2. उत्प्रेक्षा अलंकार है।

**राज जपत दालिद भला, दूटी घर की छानि।
ऊँचे मंदिर जालि दे, जहां भगति न सारंगपानि।।१०।।**

शब्दार्थ : दालिद = दालिद्रय। छानि = छप्पर। जालि दे = जला देना। सारंगपानि = धनुषधारी विष्णु, धनुर्धर प्रभु।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि राम-प्रभु की भक्ति में चाहे दारिद्र्य भी हो और घर का छप्पर भी टूटा हुआ है तब भी वह अभिनन्दनीय है। परन्तु जहां प्रभु की भक्ति नहीं है, ऐसा ऊँचा, प्रासाद भी जला देने, त्याग देने, नष्ट कर देने योग्य है।

विशेष : विनोक्ति अलंकार है।

**कबीर भया है केतकी, भंवर भये सब दास।
जहां-जहां भगति कबीर की, तहां तहां राम निवास।।११।।**

शब्दार्थ : केतकी = एक छोटा पौधा जिसमें सुगन्धिक पुष्प खिलते हैं।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि प्रभु का सच्चा भक्त केतकी के समान है और प्रभु के सभी सेवक भ्रमर के समान जहां-जहां कबीर जैसी सच्ची भक्ति है - वहां वहां प्रभु का निवास रहता है, और प्रभु के सारे भक्त वहां भंवर के समान मंडराते रहते हैं।

१७. मधि कौ अंग

मधि कौ अंग से तात्पर्य है मध्यम मार्ग। कबीर बुद्ध की भांति मध्यम मार्ग, सहज-साधना के अनुयायी हैं। उनके अनुसार कठोर तप (हठयोग) तथा पूर्णतः सरल (भोगवाद) दोनों मार्ग मनुष्य को असामान्य बनाते हैं। और असामान्य मनुष्य कभी भी सहज, सरल, भक्ति मार्ग का अनुयायी नहीं बन सकता। कबीर के समय में अनेक विरोधी-सम्प्रदाय प्रचलित थे। एक ओर नाथे-सिंहों के हठयोग साधनाएं थी तो दूसरी ओर शाक्तों - तांत्रिकों का माया जाल भागवाद - कबीर इन दोनों को त्यागते हुए मध्यममार्ग के लिए प्रेरित करते हैं। विवेच्य अंग में कबीर की इसी से जुड़ी हुई साखियों का संकलन किया गया है। इस अवस्था को कबीर सहजावस्था भी कहा है। इसमें सभी द्वंद्व अवशोषित हो जाते हैं। इसी को सामरस्य की अवस्था भी कहते हैं। इसी में उन्मनी का अनुभव होता है मधि का अन्य, योगपरक अर्थ है - इड़ा और पिंगला के मध्य सुषुम्ना का मार्ग यही मध्य मार्ग है।

कबीर मधि अंग जे को रहे, तो तिरत न लागै बार।

दुहु दुहु अंग सू लागि करि, डूबत है संसार।।१।।

शब्दार्थ : जे को = जो कोई। मधि = मध्य मार्ग। दुहु-दुहु = द्वंद्व।

भावार्थ : कबीर दास कहते हैं कि जो मध्य मार्ग का अनुसरण करता है, उसे भव-सागर पार करते देर नहीं लगती, जैसे द्वंद्व के चक्र में रहता है, वहीं संसार में डूबता है। द्वंद्व का तात्पर्य है - सुख-दुःख प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि।

विशेष : रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

कबीर दुविधा दूरि करि, एक अंग है लागि।

महु सीतल बहु तपति है, दोऊ कहिबे आगि।।२।।

शब्दार्थ : दुविधा = प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग। एक अंग है = एक बात को स्वीकार करके (मध्यम मार्ग)।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि दुविधा को छोड़कर, अतिवादी (प्रवृत्ति और निवृत्ति) दृष्टियों को त्याग कर मध्यम मार्ग में लग जाना चाहिए। अत्यधिक शीतलता और अत्यधिक लय दोनों अग्नि समान विनाशक हैं। इसलिए मध्यम मार्ग ही श्रेयस्कर है।

विशेष :

1. लौकिक जनों में वायु चन्द्रनाड़ी और सूर्यनाड़ी द्वारा गतिशील रहती है। सुषुम्ना इन दोनों के बीच में है। उसका दूसरा नाम है मध्यम नाड़ी। यहां शीतल से चन्द्रनाड़ी का संकेत है कि कहने के लिए एक नाड़ी शीतल है और दूसरी उष्ण, किंतु आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से दोनों ही आग के समान हैं। संकल्प - विकल्पात्मक मन तब-तक लय को प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक वायु की संचार 'मध्य नाड़ी' से न हो, और जब तक संकल्प विकल्पात्मक मन का लय नहीं हो जाता, तब-तक सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता।
2. रूपक अलंकार है।

अनल अलासां घर किया, मधि निरंतर बास।

वसुधा व्योम बिरकत रहै, बिनठा हर विसवास।।३।।

शब्दार्थ : अनल = एक पक्षी। अलासां = अंतरिक्ष में। बिरकत = विरक्त।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मध्यम मार्ग पर चलने के कारण 'अनल' पक्षी अंतरिक्ष में अपना नीड़ बनाता है। यद्यपि वहां कोई प्रत्यक्ष आश्रय नहीं होता तथापि वह अपने अडिग विश्वास से वहां स्थित रहता है। ठीक उसी प्रकार साधक को द्वंद्वों से अलग रहकर 'सहज-समरान' अवस्था में स्थित रहना चाहिए।

विशेष : 'अनल' और 'आकाश' नाथों के रूप प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।

**वासुरि गमि न रैणि गमि, नां सुपनै तरगंम।
कबीर तहां बिलंबिया, जहां छांहड़ी न धंम।।४।।**

शब्दार्थ : वासुरि = दिन। रैणि = रात। सुपने = स्वप्न में भी। बिलंबिया = स्थित। धंम = घाम, धूप।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मैं उस द्वंद्वातीत अवस्था में स्थित हूँ जाहं न दिन की पहुंच है, न रात की। जो स्वप्नों में भी नीं जाना जा सकता, और वहां न छाया है न धूप।

विशेष :

1. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।
2. वासर, रैन, धूप-धांह आदि द्वंद्व के उदाहरण हैं।

**जहि पैड़े पंडित गय। दुनिया परी बहीर।
औघर घाटी गुर कहीं, तिहि चढ़ि रहया कबीर।।५।।**

शब्दार्थ : पैड़े = मार्ग। बहीर = जन समूह, भीड़। औघर = विकट मार्ग। घाटी = पर्वतों के बीच का संकरा मार्ग।

भावार्थ : जिस मार्ग से शास्त्र, ज्ञानी पंडित लोग गये हैं और जिस परंपरा के मार्ग पर भीड़ चलती है, कबीर उस मार्ग पर नहीं चले। उस परमतत्त्व का मार्ग अत्यंत दुर्गम है। वह दुर्गम, कठिन और संकरा मार्ग गुरु ने बतलाया और कबीर ने उस मार्ग द्वारा परमतत्त्व तक आरोहण किया।

विशेष : रूपकातिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

**श्रगन कथै हूं रहया, सतगुरु के प्रसादि।
चरन कंवल की मौज में, रहिस्थूं अंतिरु आदि।।६।।**

शब्दार्थ : रहया = विलग, प थक् रहा। अंतिरु आदि = निरंतर।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि सतगुरु की कृपा से मैं स्वर्ग-नरक दोनों से दूर हूँ। ये दोनों भोग के स्थान, परिणाम हैं। इनमें जन्म-मरण का चक्र लगा रहता है। मैं तो निरन्तर प्रभु के चरण कमल में आनन्द में निमग्न रहता हूँ।

विशेष : चरनकमल में रूपक अलंकार है।

**हिंदु मुये राम कहि, मुसलमान खुदाइ।
कहे कबीर सो जीवता, दुह में कदे न जाइ।।७।।**

शब्दार्थ : मुये = मर गये। कदे = कभी भी।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हिन्दू लागू परमतत्त्व के लिए राम-राम तथा मुसलमान खुदा-खुदा कहते जन्म-मरण के चक्र में पड़े हुए हैं। वास्तव में वही जीवित हैं जो राम और खुदा के भेद में नहीं पड़ता, जो इन दोनों में व्याप्त अद्वैत तत्त्व को देखता है। जीवन की सार्थकता इस भेद-बुद्धि से ऊपर उठना है।

विशेष : व्यतिरेक अलंकार है।

**दुखिया मूवा दुख कों, सुखिया सूख कौ झूरि।
सब्र अनंडी राम के, जिनि सुख दुःख मेलह दूरि।।८।।**

शब्दार्थ : झूरि = संतप्त। मेलहे = फँक दिया।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि दुःखी व्यक्ति दुःख के कारण व्यथित रहता है और सुखी अधिक सुख की खोज में संतप्त रहता है। कबीर कहते हैं कि राम के भक्त जिन्होंने सुख-दुःख के द्वंद्व का त्याग कर दिया, वे ही सदा आनन्द में रहते हैं।

विशेष : व्यतिरेक अलंकार है।

कबीर हरदी पीयरी, चूना ऊजल भाइ।

राम सनेही यं मिले, दून्युं बरन गवाइ।।६।।

शब्दार्थ : बरन = रंग, जाति। भाइ = प्रकार, ढंग।

भावार्थ : इस साखी में कबीर ने आध्यात्मिक जीवन की एक उच्च स्थिति का संकेत किया है। हल्दी पीली होती है और चूना श्वेत रंग का होता है परन्तु जब दोनों एक होकर मिलते हैं, तब एक नया लाल रंग बन जाता है। इसी प्रकार जब राम और उनके भक्त मिलते हैं, तब न तो भक्त का आपा रह जाता है और न ब्रह्म का निर्गुणत्व। भक्त एक नयी स्थिति में परिणत हो जाता है। जहां न तो पूर्णरूपेण मनुष्य हैं और न पूर्ण ब्रह्म। वह भी रूपान्तरित होकर भगवती स्थिति में जीवन व्यतीत करता है। वह एक God-man बन जाता है।

विशेष : निर्दशना अलंकार है।

काबा फिर कासी भया, राम भया रहीम।

भरि चून मैदा भया, बैठि कबीरा जीम।।१०।।

शब्दार्थ : चून = चूनी (आटा)। जीम = भोजन करना।

भावार्थ : सम्प्रदायों के आग्रहों को छोड़कर मध्यम मार्ग अपनाने पर काबा, काशी हो जाता है और राम, रहीम बन जाते हैं। सम्प्रदायों की रूढ़ियां समाप्त हो जाती हैं भेदों का मोटा आटा अभेद का मैदा बन जाता है। हे कबीर तू इस अभेद रूपी मैदे का भोजन कर, स्थूल भेदों के चक्र में न पड़।

विशेष : रूपकतिशयोक्ति अलंकार है।

धरती अरु आसमान बिचि, दोइ तूं बड़ा अबध।

षट दरसन संसै पड़या, अरु चौरासी सिध।।११।।

शब्दार्थ : दोइ तूं बड़ा = दो तूबां - सूर्य और चन्द्र नाड़ी (इड़ा-पिंगला) अबध = (1) अवधि, अवकाश। (2) अबध्य = अविनाश्य, षटदरसन = छह दार्शनिक प्रणालियां - न्याय - वैशेषिक सांख्य - सोग, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा।

भावार्थ : यदि अबध का अर्थ अवधि लिया जाए तो अर्थ होगा - पृथ्वी और आकाश रूपी दो तूबां के बीच एक विस्तृत अवकाश है। इसी प्रकार इस शरीर में सूर्य और चन्द्र नाथी रूपी दो तूबां के बीच में भी अवकाश है। इसे करीब ने 'मध सुनि' कहा है। उसे लोग नहीं जानते - यही ब्रह्म नाड़ी है। इस अज्ञान के कारण छह दर्शन और चौरासी सिध संशय में पड़े हुए हैं। यदि अबध का अर्थ - अविनाश्य लिया जाए तो अर्थ होगा - पृथ्वी और आकाश के बीच में द्वैत-दृष्टि का तूबा अबध्य है। उसका सरलता से विनाश नहीं किया जा सकता। उसी द्वैत के कारण दहों दर्शन तथा चौरासी सिध संशय में पड़े रहते हैं और सत्य को ग्रहण नहीं करते।

१८. सारग्राही को अंग

प्रस्तुत अंग की साखियों में कबीर ने भगवान् के नाम वैष्णव भक्त, परमात्मा तत्व तथा संसार से भक्ति रूपी गंध को ग्रहण करने का उपदेश दिया है।

**षीर रूप हरि नांव है, नीर आन व्यौहार।
हंस रूप कोई साध है, तत का जानण हार॥१॥**

शब्दार्थ : षीर = खीर, दूध। आन = अन्य। तत = तत्व सार।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि यह संसार दूध के समान है दूध में लगभग 80 प्रतिशत नैसर्गिक रूप में जल रहता है शेष दूध का सार रहता है। इसी प्रकार इस संसार में केवल प्रभु का नाम वास्तविक दुग्ध तत्व है, अन्य प्रकार के व्यवहार जल के समान है। हंस में यह विशेषता के व्यवहार जल के समान है। हंस में यह विशेषता होली है कि वह अपने चंचु से तात्विक दूध या दूध के सार को ग्रहण कर लेता है और शेष जलांश को छोड़ देता है। इसी प्रकार संता इस संसार से प्रभु नाम रूपी सार तत्व को ग्रहण कर लेते हैं तथा अन्य सांसारिक व्यवहार का परित्याग कर देते हैं।

विशेष : परम्परित अलंकार है।

**कबीर साषत को नहीं, सवै वैशनों जारिण।
जा मुखि राम न उचरै, ताही तन को हारिण॥२॥**

शब्दार्थ : साषत = शाक्त। ऊचरै = उच्चारित हो।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जीव स्वभाव से ही वैष्णव होता है, शाक्त नहीं, सभी के भीतर प्रभु विद्यमान हैं। इसलिए सभी को वैष्णव अर्थात् विष्णु का भक्त समझो कि उसका मानव-तन व्यर्थ हो गया, क्योंकि केवल मानव-शरीर में ही भक्ति सम्भव है।

विशेष : कबीर के समय में शाक्त अनुयायी अपनी अनेक व्यभिचारिक-प्रक्रियाओं के कारण बदनाम हो चुके थे, और प्रायः लोग शाक्तों को नास्तिक ही समझते थे।

**कबीर औगुण ना गहँ, गुणै ही कों ले बीनि।
घर-घर महु के मधुप ज्यूँ पर आत्म ले चीन्हि॥३॥**

शब्दार्थ : महु = मधु। मधुप = मधुमक्षिका।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि अवगुणों को ग्रहण नहीं करना चाहिए। जगह-जगह से गुणों को ग्रहण कर लेना चाहिए। जिस प्रकार मधुमक्षिका पुष्प के अन्य उपादानों को छोड़कर केवल सार रूप केवल मधु को ग्रहण कर लेती है, उसी प्रकार तुम भी जीवों में विद्यमान सार रूप प्रत्यगात्मा (जो परम तत्त्व का अंश है) को ग्रहण करो और अवशिष्ट को छोड़ दो।

विशेष : उपमा अलंकार है।

**बसुधा बन बहु भांति है, फूल्यौ फल्यौ अगाध।
निष्ट सुबास कबीर राहि, विषम कहै किहि साध॥४॥**

शब्दार्थ : विषम = दूषित।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि इस पृथ्वी पर विशाल विषय कानन हैं जिसमें रूपासक्ति और भोग के अपार फल-फूल लगे हैं, मैं कहता हूँ कि इसमें मकरन्द की तरह मिष्ट भक्ति रूपी जो गंध है, उसको ही ग्रहण करना चाहिए। यह क्रिया अत्यंत सरल है, पता नहीं किस साधु ने इसको अत्यंत विषम बताया है।

विशेष :

1. रूपक अलंकार है।
2. डॉ. पारसनाथ तिवारी द्वारा स्वीकृत पाठ के अनुसार अर्थ है - विषम तत्व को साधु ग्रहण नहीं करते।

१६. उपदेश कौ अंग

उपदेश से सम्बन्धित साखियों का संकलन प्रस्तुत शीर्षक के अंतर्गत किया गया है। जीवन, जगत और समाज कल्याण के लिए मनुष्य के लिए क्या उचित है और क्या नहीं। परिस्थितियों - विशेष में किस प्रकार से अपनी जीवनचर्या का निर्धारण करें आदि विषयों से जुड़ी हुई उपदेशपरक साखियां यहां प्रस्तुत हैं।

हरि जी यहै बिचारिया, साषी कहौ कबीर।

भौ सागर में जीव है, जो कोई पकड़े तीर।।१।।

शब्दार्थ : बिचारिया = निश्चय किया। तीर = किनारे।

भावार्थ : कबीरदास जी कहते हैं कि प्रभु ने ही मुझे प्रेरित किया है, तभी मैंने जो प्रत्यक्ष अनुभव किया उन्हें साखियों द्वारा व्यक्त किया। परिणामतः जीव भवसागर में पड़ा हुआ साखियों के अनुसरण द्वारा पार उता जायेंगे।

विशेष : रूपक अलंकार है।

कलीकाल ततकाल है, बुरा करौ जिनि कोइ।

अनबावै लोहा दांहिजें, बोवै सु लुणतां होइ।।२।।

शब्दार्थ : कलीकाल = कलियुग। अनबावै = बिना बोये।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि कलिकाल में तत्काल फल मिलता है, इसलिए किसी को बुरा काम नहीं करना चाहिए। जो जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल मिलता है। कर्म करना बोन (बीजने) के समान है, उसे वैसा ही फल मिलता है। कर्म करना बोन के समान है, बिना बोये हुए कोई काट नहीं सकता। जो जैसा बोता है, वैसा ही काटता है।

विशेष : अर्थान्तर भास अलंकार है।

कबीर संसा जीव में, कोइ न कहै समझाइ।

विधि विधि बांजी बोलता, सो कत गया बिलाइ।।३।।

शब्दार्थ : संसा = संशय। कंत = कहा। विधि-विधि = विविध।

भावार्थ : जीव में अनेक संशय बने हुए हैं, कोई ऐसा नहीं है जो इनको दूर कर सके। जब तक शरीर में प्राण है तब तक वह विविध वाणी बोलता है। म त्पु होने पर वह बोलने वाली शक्ति कहां चली जाती है, कोई नहीं बतला सकता।

विशेष : अर्थ ध्वनत होता है कि - जीव की गति विचारणीय है।

कबीर संसा दूरि करि, जांमण मरण भरंम।

पंचतत तत्तहि मिले, सुरति समाना मन।।४।।

शब्दार्थ : जांमण-मरण = जन्म म त्पु। पंचतत = पंचभूत (पृथ्वी, जल, पवन, गगन, समीर)। सुरति = आत्मा का प्रतीक।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जन्म-मरण के विषय में अपने भ्रम को दूर करो। आत्मा का न जन्म होता है और न मरण। जन्म-मरण शरीर का धर्म है, जिन पांच तत्त्वों से यह शरीर बना है। वे तत्व अपने मूल पंचमहाभूतों में मिल जाते हैं, और मन सुरति, आत्मा में समा जाता है।

विशेष : म त्पु के समय शरीर पंचमहाभूतों में मिल जाता है परन्तु मन और बुद्धि परमात्मा (सुरति) में मिल जाते हैं।

**गिरी तो च्यंता घणी, वैरागी तो भीष।
दुह कात्यां बिचि जीव है, दौ हने संतो सीष।।५।।**

शब्दार्थ : कात्यां = कैंची। दौं = दोनों। हने = नष्ट करना।

भावार्थ : ग हस्थ नाना चिंताओं से घिरा रहता है वैरागी भी भीख की चिंता से मुक्त नहीं हो पाता। बेचारे जीव की स्थिति इन दोनों के बीच वैसी ही है जेसी कैंची के दो फलकों के बीच कपड़े की होती है। संतों की शिक्षा इन दोनों चिंताओं को दूर कर देती है।

**वैरागी बिरकत भला, गिरहीं चित उदार।
दुहं चूकां रीता पड़े, ताकू बार न पार।।६।।**

शब्दार्थ : बिरकत = विरक्त। रीता = रिक्त।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि वैरागी, विरक्त अच्छा होता है और ग हस्थ उदार चित वाला। यदि यह दोनों इन गुणों से रहित हो जायें तो अपनी विशेषताओं से रहित हो जाते हैं। अर्थात् वैरागी न सच्चा वैरागी रहता है और न ग हस्थ सच्चा ग हस्थ। ऐसे च्युत जनों का कोई ठिकाना नहीं होता।

विशेष : विनोक्ति अलंकार है।

**जैसी उपजे दंड सूं, तैसी निबहै ओरि।
पैकां पैका जोड़तां, जुडिसी लाष करोड़ि।।७।।**

शब्दार्थ : ओरि = अंत। निबहै = निर्वाह, संरक्षण। पैकां पैकां = थोड़ी-थोड़ी रकम, पैसा।

भावार्थ : कबीर कहते हैं जीवन के अंत तक, यदि व्यक्ति कमाता हुआ निर्वाह करे, जिस प्रकार पेड़ क्रमशः वृद्धि प्राप्त करता हुआ विशाल बन जाता है। तो वह सम्पन्न हो जाए। वह एक-एक पैसा इकट्ठा करता हुआ लाखों-करोड़ों का अधिपति बन जाए।

विशेषार्थ : जिस प्रकार पेड़ का फल सुरक्षित रहा हुआ सार्थक, पक जाता है। इसी प्रकार यदि गुरु उपदेश का अंत तक निर्वाह हो जाए तो जीवन सार्थक और फलदायक हो जाता है। उपदेश के अनुसार निरन्तर साधना से अन्त में सिद्धि मिल जाती है।

विशेष : दृष्टांत अलंकार है।

**कबीर हरि के नांव सू, प्रीति रहै एकतार।
तौ मुख तै, मोती झड़ै, हीरे अंत न पार।।८।।**

शब्दार्थ : इकतार = एकरस, मोती, ज्ञान युक्त वचन। हीरा = आत्म ज्योति, आत्मदर्शन।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि यदि प्रभु के नाम के प्रति हृदय में अनवरत प्रेम बना रहे तो साधक एक ऐसी स्थिति में पहुंच जायेगा, जहां उसके मुख से ज्ञान के मोती झरने लगेंगे। और उसे उस आत्मज्योति का दर्शन होगा जो अनन्त और अपार है।

विशेष : अतिशयोक्ति अलंकार है।

**ऐसी बांणी बोलिये, मन का आपा खोइ।
अपना तन सीतल करै, औरन को सुख होइ।।९।।**

शब्दार्थ : आपा खोइ = अहं को भूलकर।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य वाणी ऐसी बोलनी चाहिए जिससे आपका अहं रहित मन आनन्दित हो जाय। ऐसी वाणी से मनुष्य आप भी तनावरहित रहता है और दूसरों को भी प्रसन्नता देता है।

विशेष : अर्थात्तर संमित वाच्य ध्वनि है।

कोइ एक राखै सावधान, चेतनि पहरे जाति।

बरतन बासन सुं खिसै, चोर न सकई लागि॥१०॥

शब्दार्थ : राखै = रक्षा करे। चेतनि = सचेत होकर। बासन = थैली। खिसै = खिसकना।

भावार्थ : यदि कोई सावधान रहकर, पहरे के समान जागता हुआ अपने सामान की रक्षा करता है, तो उसकी पूंजी न तो थैली से खिसक सकती है और न ही चोर उसकी चोरी कर सकते हैं। इसी प्रकार जो आत्मरूपी धन की रक्षा में सावधान रहता हुआ, माया निद्रा में न फंसकर सावधान रहता है, उसका आत्मरूपी परमधन सुरक्षित रहता है और काम-क्रोधादि चोर उसके पीछे नहीं लगते।

विशेष : अन्योक्ति अलंकार है।

२०. बेसास को अंग

बेसास का अर्थ होता है विश्वास, संसार की प्रत्येक वस्तु गतिशील, परिवर्तनशील एवं विनष्टकारी है। अतः वस्तु-परिवर्तनशील जीवन को देखकर मनुष्य का विश्वास डोलता जाता है, वह क्षण-प्रतिक्षण असुरक्षा की भावना से ग्रस्त होकर और अधिक और अधिक संग्रहशील बनता जा रहा है। उल्लेखनीय है कि ज्यों-ज्यों वह वस्तुओं का संग्रह करता चलता है त्यों-त्यों असुरक्षा की भावना और अधिक बढ़ती जाती है। वस्तुतः आज का समय 'विश्वास के संकर' का समय है मनुष्य का जीव, जगत, ईश्वर किसी पर भी विश्वास नहीं रहा, ऐसे ही संकटग्रस्त, संग्रहशील मनुष्य को नाशवान् वस्तुओं के संग्रहण से वर्जित हुए कबीर कहते हैं कि अभी तक तूने इस संसार के विनष्ट पदार्थों से अपना नाता जोड़ा हुआ है इसी का परिणाम है कि वस्तु सत्ता समाप्त होते ही तेरा विश्वास टूट जाता है। अतः हे जीव अब परमात्मा, स्थिर, अविनाशी से नाता जोड़, वहां तेरा विश्वास कभी भी टूटेगा नहीं, तू उसकी कृपा-दृष्टि, कार्य व्यापार पर विश्वास कर। किस प्रकार से वह सदा से तेरी रक्षा करता आ रहा है। विवेच्य साखियों में जीव को ऐसे ही विश्वास, परमात्मा के विश्वास को बांधाते हुए कबीर सम्बोधित कर रहे हैं।

जिनि नर हरि जठरांह, उदिकै थै षंड प्रगट कियौ।

सिरजे श्रवाज कर चरन, जीव जीभ मुख तास दीयौ।।

उरघ पाव ऊरघ सीस, बीस पषां इन रषियौ।

अन पान जहां जरै, वहां तैं अनल न चषियौ।।

इहि भाँति भयानक उद्र में, न कबहूँ घंघरै।

कृसन कृपाल कबीर कहि, इम प्रतिपालन क्यों करै।।१।।

शब्दार्थ : जहरांह = पेट में। उदिक थै = रज वीर्य द्वारा। पिंड = शरीर। पषां = पक्ष, 15 दिन। राखियां = रक्षा किया। अनल = जठराग्नि। उद्र = उदर, पेट। छंछरै = छूँछा खाली। प्रतिपाल = रक्षा।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जिस प्रभु ने मां के पेट में रज-वीर्य से मनुष्य-शरीर का निम्नण किया, जिस प्रभु ने गर्भ में सिर नीचे पैर ऊपर स्थिति में दस मास तक सुरक्षित रखा, जहां जठराग्नि के अन्न-जल भस्म, जीर्ण हो जाते हैं, वहां भी तू उससे बचा रहा। इसी प्रकार मां के पेट में भी तेरी उदरपूर्ति होती रही, तुझे पोषण मिलता रहा। जब उदर में इस स्थिति में प्रभु तेरा पोषण रोकता रहा, तो हे जीव वह कृपालु प्रभु अब तेरा पालन क्यों नहीं करेगा, अतः तू प्रभु की कृपा पर विश्वास कर, वह तेरी रक्षा अवश्य करेंगे।

विशेष :

1. विशेषोक्ति अलंकार है।
2. छंछरै को यदि छंछ, रै पड़ा जाए तो अर्थ होगा छूँछ या खाली।

भूखा भूखा क्या करै, कहा सुनावै लोग।

भांडा फड़ि जिनि मु दिया, सोई पूरन जोग।।२।।

शब्दार्थ : भांडा = बरतन, लाक्षणिक अर्थ शरीर।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हे जीव! तू भूखा-भूखा की रट क्यों लगाए हुए है, अर्थात् लोगों को अपनी भूख की कहानी क्यों सुनाता घूम रहा है जिस दयालु प्रभु ने तेरे शरीर रूपी घड़े को धड़ (बनाकर) मुख दिया है, वही उदरपूर्ति भी करेगा।

विशेष : रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

**रचनहार कूं चीन्हि ले, खैवे कूं कहा रोइ।
दिल मंदिर में, पैसि करि, तांजि पछेवड़ा सोइ॥३॥**

शब्दार्थ : पछेवड़ा = चादर।

भावार्थ : हे जीव ते अपने सुष्य को पहचान ले, खाने के लिए क्यों रोता है? अपने हृदय रूपी मंदिर में प्रविष्ट होकर अर्थात् अन्तर्मुखी होकर तू परम सत्ता को पहचान और विश्वास रूपी चादर ओढ़कर सुख की नींद सो, अर्थात् निश्चिंत हो जा।

विशेष : रूपक अलंकार है।

**राम नाम करि बोहंडा, बांहो बीच अघाइ।
अंति कालि सूका पड़े। तो निरफल कहे न जाइ॥४॥**

शब्दार्थ : बोहंडा - बीज, बोहो - बोना, अथाई = जी भरकर।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि राम नाम का बीज लेकर, उस बीज को जी भरकर अपने जीवन में बोओ। फिर चाहे चारों ओर सूखा पड़ जाए, कहीं भी वर्षा न हो, अर्थात् कैसी ही विषम परिस्थितियां हो, वह बीज उगेगा अवश्य। वह कभी निष्फल नहीं जायेगा। राम नाम से संसिद्धि अवश्य मिलेगी।

विशेष : विशोक्ति और रूपक अलंकार है।

**च्यंतामणि मन में बसै, सोई चित्त में आंणि।
बिन च्यंता च्यंता करै, रहै प्रभु की बाणि॥५॥**

शब्दार्थ : चिंतामणि = वह रत्न जो विचार करते ही वांछित फल प्रदान करती है। चिंता = ध्यान, ख्याल।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि हे जीव तेरे अन्दर सभी वांछित फलों को देने वाली चिंतामणि नाम की ईश्वर रूपी मणि विद्यमान है। तू उसी में चित्त को लगा। प्रभु का यही स्वभाव है कि वह सबका ख्याल रखते हैं, कोई उसका चिंतन करे या न करे।

विशेष : विभावना और यमक अलंकार है।

**कबीर का तूँ चितवै का, तेरा च्यंत्वा होइ।
अणच्यंत्वा हरि जी करै, जो तोहि च्यंत न होई॥६॥**

शब्दार्थ : चितवै - चिंता करता है। अणच्यंत्वा = जो नहीं सोचा गया। जो तोहि = जिससे तुणे।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तू क्या चिंता करता है। तेरे चिंता करने से होता भी क्या है? तेरे लिए जो आवश्यक है प्रभु उसे, तेरे लिए, बिना तेरे सोचे पूर्ण कर देता है, जिससे तुझे चिंता न करनी पड़े। इसलिए प्रभु में विश्वास कर।

विशेष : प्रभु में समर्पित विश्वास, अडिग विश्वास ही जीव का आधार है।

**करम करीमां लिखि रहया, जब लिख्या न जाइ।
मासा घर न तिल बधै, जो कोटिक करै उयाइ॥७॥**

शब्दार्थ : करीमां = ईश्वर। मासा = किंचित्।

भावार्थ : हे जीव कृपालु प्रभु ने तेरे कर्मों के अनुसार फल का लेखा तैयार कर रखा है, अब उसके आगे कुछ भी नहीं लिखा जा सकता। उसमें किंचित् भी कम-ज्यादा नहीं हो सकता, व्यक्ति चाहे कितना ही प्रयत्न क्यों न करे? अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मों का लेखा चुकाना ही पड़ेगा। इसमें पक्षपात नहीं होता। अतः ईश्वर न्याय पर विश्वास करना चाहिए।

विशेष :

1. ईश्वरीय कर्म विधान अटल एवं न्यायपूर्ण है।
2. विशेषोक्ति अलंकार है।

**जाकौ जेता निरमया, ताकौ तेता होइ।
तरी फरै न तिल बधै, जो सिर कूटै कोइ।।८।।**

शब्दार्थ : निरमया = रचा गया।

भावार्थ : जिसके लिए प्रभु ने जितना भोग रचा हुआ है, उसको उतना ही मिलता है, उसमें तज मात्र भी अन्तर नहीं आ सकता चाहे कोई कितना ही प्रयत्न क्यों न करे।

विशेष : विशेषोक्ति अलंकार है।

**च्यंता न करि अच्यंत रहु, साई है संग्रथ।
पसु पंवरु जीव जंत, तिनको गांडि किसान ग्रथ।।६।।**

शब्दार्थ : संग्रथ = सामर्थ्यवान। किसान = किसने, ग्रथ = ग्रसित।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हरि सब कुछ करने में समर्थ हैं अतः उनका आश्रय प्राप्त कर चिंताएं छोड़ दो, देखो तो सही पशु-पक्षी और अन्य जीव-जन्तुओं ने कौन-सी पूंजी गाड़ रखी है।

विशेष : काव्यलिंग अलंकार है।

**संत न बांधै गांठड़ी, पेट समाता लेइ।
सोई सूं सनमुष रहे, जहां मांगै तहां देइ।।१०।।**

शब्दार्थ : पेट समाता = आवश्यकतानुसार।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि संत में संचय-प्रवृत्ति नहीं होती वह केवल आवश्यकता भर पदार्थों को ग्रहण करता है, अर्थात् उसमें अपरिग्रह की वृत्ति होती है, प्रभु चारों ओर विद्यमान सर्वव्यापी है। भक्त को जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, वह उसकी पूर्ति कर देता है।

विशेष :

1. यहां जब मैं समय का भाव है और तहां में स्थान का।
2. संतों के लक्षणों का वर्णन है, अपरिग्रही वृत्ति पर बल है।

**राम नाम सूं दिल मिली, जन हम पड़ी बिराइ।
मोहि भरोसा इष्ट का, बंदा नरकि न जाइ।।११।।**

शब्दार्थ : बिराह = दूर। बंदा = सेवक।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जब राम नाम से मेरा हृदय एक हो गया है तब यमराज और हमारे बीच राय नहीं रही - परस्पर विरोध उत्पन्न हो गया, किन्तु मुझे इससे कोई भय नहीं हुआ। मुझे तो अपने इष्ट हरि पर पूर्ण भरोसा है मैं नरक में नहीं जा सकता।

विशेष : ईश्वर के साथ एकत्व-अनुभूति होने से मत्तु भय समाप्त हो जाता है।

**कबीर तूँ काहै डरै, सिर परि हरि का हाथ।
हस्ती चढ़ि नहीं डोलिये, कूकर भूषै जूँ लाष॥१२॥**

शब्दार्थ : डोलिये = विचलित होना। भूषै = भौंकना।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हरि का हाथ मेरे सिर पर है, अतः मुझे किस बात का डर है। क्या कोई हाथ पर चढ़े रहने से मुद्दों के भौंकने से डरता है। अतः नहीं।

विशेष :

1. ईश्वर संरक्षण को हाथ सवारी माना गया है।
2. दृष्टांत अलंकार है।

**मीठा खांज मधूकरी, भांति भांति कौ नाज।
दावा किसही का नहीं, बिन विलाइति बड़ राज॥१३॥**

शब्दार्थ : मधूकरी = भिक्षान्न। राज = राजा। विलायत = देश, राज।

भावार्थ : भिक्षा से प्राप्त भोजन में भांति-भांति का अन्न रहता है। वह खांड के समान मीठा होता है। उसमें किसी एक व्यक्ति का दावा नहीं रहता। मधुकरी से संतुष्ट ऐसा साधु बिना राज्य के ही राजा होता है।

विशेष :

1. जिसको कुछ न चाहिए, वो शाहन के शाह, ध्वनि व्यंजित होती है।
2. विभावना अलंकार है।

**मांनि महात्तम प्रेमरस, गरवा तज गुण नेह।
ऐ सबही अह लागया, जबहीं कहया कछु देह॥१४॥**

शब्दार्थ : मांनि = सम्मान। महात्तम = महात्म्य, गरवातय = गुरुत्व, गौरव। अहला = जलते हुए कांटों की आग, भाड़ में गया, भस्म हो गया।

भावार्थ : किसी व्यक्ति से, किसी वस्तु की याचना करते ही सम्मान, महात्म्य, प्रेमभाव, गौरव, गुण और स्नेहादि सब नष्ट हो जाते हैं।

विशेष : सहयोक्ति अलंकार है।

**मांगण मरण समान है, बिरला बंचै कोई।
कहै कबीर रघुनाथ सू, मतिर मंगावै मोहि॥१५॥**

शब्दार्थ : बंचै = बचना।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि यद्यपि मांगने से कोई बच नहीं पाता तथापि मांगना मृत्यु समान दुःखदायी है। कबीर राम से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु! मैं ऐसी सिति में कभी भी न आऊँ कि मुझे कभी किसी से कुछ मांगना पड़े।

विशेष : उपमा अलंकार है।

**पांडल पंजर मन भवर, रथ अनुपन बास।
राम नाम सीच्या अमी, फल लागा बेसास॥१६॥**

शब्दार्थ : पांडल - पांडर = कुंछ का पुष्प जो रक्त वर्णी होता है। पंजर = ढांचा (शरीर)। अरथ = मनोरथ। अभी = अम त।

भावार्थ : राम नाम (भक्ति) में विश्वास ही फलदायक होता है। भक्ति की साधना के लिए शरीर, मन मनोरथ, रामनाथ का जप और विश्वास ये आवश्यक अंग हैं - इस तथ्य को कबीर ने सांगरूपक के माध्यम से व्यक्त करते हुए कहा है - शरीर कुंद की झाड़ है उसके पुष्प में मनोरथ की अनुपन संगुध है, उस पर मनरची प्रमर मंडराता रहता हैं उस झाड़ को साधन रामनाम जप रूपी अमर प्राणदायिनी शक्ति से सींचता रहता है। तब उसमें विश्वास के फल लगते हैं। यही भक्ति की सार्थकता है।

विशेष : सांगरूपक अलंकार है।

मेर मिटी मुकता भया, पाया ब्रह्म बिसास।

अब मेरे दूजो को नहीं, एक तुम्हारी आस।।१७।।

शब्दार्थ : मेरे = मेरापन, अहं।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि 'मैं' और 'मेरी' की माया नष्ट हो गई है। अब मैं इस सीमा से मुक्त हो गया हूं और मेरी ब्रह्म में पूर्ण निष्ठा हो गई है। अब संसार में मेरा दूसरा कोई नहीं, एक मात्र मुझे आपका ही भरोसा है।

विशेष : अहं के विनष्ट के बाद, ईश्वर तत्व में निष्ठा बनती है।

जारी दिल में हरि बसैं, सो नर कलपे काइ।

एकै लहरि समंद की, दुःख दलिद्र सब जाइ।।१८।।

शब्दार्थ : कोइ = क्यों। कलपे - कल्पना, तड़फना।

भावार्थ : जिनके हृदय में प्रभु का वास है, वह और किसके लिए कल्पता है? भगवान् के अनुग्रह रूपी समुद्र की एतह मात्र से उसके सभी दुःख और दारिद्र्य समाप्त हो जाते हैं।

विशेष :

1. ईश्वर अनुकम्पा सर्वोपरि है।
2. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

पद गांये लैलीन हवै, कटी न संसै पास।

सबै पिछोड़े थोथरे, एक बिना बेसास।।१९।।

शब्दार्थ : लौलीन = ज्योति में लीन होकर, प्रभु में लीन होकर। पास = पाश, बंधन। पिछोड़े = साफ करना।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि झूमते हुए पदों के गायन से माया से उत्पन्न संशय का जाल कटता नहीं, क्योंकि हरि विश्वास के अभाव में सारे साधन थोथे आन की राशि के समान फटकने पर व्यर्थ प्रमाणित होते हैं।

विशेष : उपमा, विनोक्ति अलंकार है।

गावण ही मैं रोज है, रोवण ही मैं राग।

इक वैरागी ग्रिह मैं, इस ग ही मै वैराग।।२०।।

शब्दार्थ : ग्रिह = घर में। रोण = रोना दुःख।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि कुछ व्यक्ति गाते रहते हैं परन्तु हृदय से दुःखी होते हैं, और कुछ रोते रहते हैं अर्थात: बाहरी तौर पर दुःखी प्रतीत होते हैं परन्तु अन्दर से प्रसन्न होते हैं। ठीक इसी प्रकार एक ऊपर से तो वैरागी होता है, किन्तु भीतर से आसक्त रहने के कारण ग हस्थी से बंधा रहता है और दूसरा ऊपर से घर ग हस्थी तो बनाए रखता है, किन्तु भीतर से नासक्त रहता है। उसमें विषयों के प्रति वास्तविक वैराग्य रहता है।

विशेष :

1. वैराग्य का संबंध हृदय से है, ग हस्थी या बाह्य दिखावे से नहीं।
2. विभावना और निदर्शना अलंकार है।

गाया तिन पाया नहीं, अण गांयां थै दूरि।

जिसि गाया विसवास सूं, तिन राम रहया भरपूरि।।२१।।

शब्दार्थ : अनगाया = बिना गाये। भरिपूति = पूर्ण।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि जिन्होंने विश्वासपूर्वक भगवान का गुणगान नहीं किया। केवल भक्ति का दिखावा ढिंढौरा ही पीटा, उन्होंने भगवान् को कभी प्राप्त नहीं किया और जो किसी प्रकार भी भगवान् का नाम लेते ही नहीं, उनसे तो ईश्वर दूर ही हैं। परन्तु जो विश्वास हित राम नाम का गुणगान करते हैं। उनके रोम-रोम में प्रभु व्याप्त रहते हैं।

विशेष :

1. हृदय की गहराईयों से प्रभु का नाम ही फलीभूत होता है।
2. वितरेक अलंकार है।

२१. सबद कौ अंग

शब्द का अर्थ है शब्द, अर्थात् ब्रह्म, साखी एवं शब्द ब्रह्म इस अंग में दोनों की महत्ता की ओर संकेत किया गया है। सर्वव्यापक शब्द तो पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड सब में एक सा व्याप्त हो रहा है। साखी शब्द का प्रभाव भी कम नहीं है, यह भी ऐसा बाज है जो हृदय में पहुंचकर निकलता नहीं पितु कसकता रहता है और घायल को हिलने-डुलने भी नहीं देता।

कबीर सवइ सरीर मैं, बिनि गुण बाजै तंति।

बाहरि भीतरि भरि रहया, ताथै छूटि भरंति।।१।।

शब्दार्थ : सबद = शब्द। गुण = डोरी। तांति = तंगी एक प्रकार तार लगा हुआ वाद्य जैसे वीणा, सरोद, रवाब, सितार, भरंति = भ्रांति, भ्रम।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मेरे भीतर अनाहद नाद (शब्द) बिना तारों की तंत्री के समान गूँज रहा है। वह भीतर बाहर चारों ओर रम रहा है। परिणामस्वरूप मेरा चित शब्द-ब्रह्म में लीन हो गया है और इससे मेरी सारी भ्रांतियां समाप्त हो गयी हैं।

विशेष : विभावना अलंकार है।

सती संतोषी सावधान, शबद भेद सुविचार।

सतगुरु के प्रसाद थै, सहज सील त सार।।२।।

शब्दार्थ : सती = सत्यनिष्ठ। शबद = सार, अनाहद नाद। प्रसाद = अनुग्रह। सार = निचोड़।

भावार्थ : जो साधक सत्यनिष्ठ है, संतोषी और अवधानपूर्वक सभी ध्वनियों के रहस्य पर भली भांति विचार करता है। वह सतगुरु के अनुग्रह से उस सहजावस्था को प्राप्त करता है, जो सब मतों का निचोड़ है।

विशेष : अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है।

सतगुरु ऐसा चाहिए, जैसा सिकलीगर होइ।

सबद मसकला फेरि करि, देह द्रपन करै सोइ।।३।।

शब्दार्थ : सिकलीगर = सान धरने वाला। मसकला = धातुओं को रगड़कर चमकाने वाला औजार।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं सदगुरु ऐसा होना चाहिए, जैसा हथियार आदि पर शान और चमक चढ़ाने वाला सिकलीगर होता है, जो शब्द रूपी अपनी भजकली को फेर कर देह को दर्पण की तरह चमका दे।

विशेष : उपमागर्भित रूपक अलंकार है।

सतगुरु सांचा सूरिवौ, सबद जु बाह्या एक।

लागत ही मैं मिलि गया, पड्या कलेजे छेक।।४।।

शब्दार्थ : सूरिवां = सूरमा। भै = भूमि।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं सदगुरु सच्चे वीर हैं, उन्होंने शब्द रूपी वाण से ऐसा प्रार किया कि वह लगते ही पृथ्वी में धंस गया तथा हृदय में उससे छिद्र हो गया।

विशेष : रूपक अलंकार है।

हरि रस जे जन बेधिया, सतगुण सीं गणि नांहि।

लागी चोट सरीर मैं, करक कलेजे मांहि।।५।।

शब्दार्थ : बेधिया = बिंध गया। सर = बाण। गुण = पत्यंचा। सींगणि = सींग युक्त धनुष। करक = पीड़ा।

भावार्थ : सतोगुण रूपी सींजिनी को शब्द रूप धनुष पर चढ़ा कर हरि रस रूप बाण से सदगुरु ने अपने शिष्य पर प्रहार किया। उसकी चोट तो शरीर पर लगी। कसक कलेजे में समा गई।

विशेष :

1. भाव है कि शब्द शरीर में कान तक ही पहुंचता है, किंतु उसका प्रभाव आभ्यांतर होता है। वह हृदय को प्रभावित करता है।
2. असंगति और विभावना अलंकार है।

**ज्यूँ-ज्यूँ हरि गुण सांभलू, त्यूं त्यूं लागै तीर।
साँठी साँठी झड़ि पड़ि, भलका रहया सरीर।।६।।**

शब्दार्थ : सांभलू = स्मरण करना। साँठी = सरकंडे का भाग। भलका = बाण या भले का फलक।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि मैं ज्यो-ज्यो हरि गुण को धारण करता हूँ, त्यों-त्यों हरि प्रेम की पीर का तीर घायल करता जा रहा है।

उस शब्द बाण का पश्य भाग बाह्य अर्थ तत्व तो झड़ गया केवल पीर रूपी अग्र भाग ही शारीर में रह गया।

विशेष : रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

**ज्यूँ ज्यूँ हरि गुण सांभलौ, त्यूं त्यूं लागै तीर।
लागै थैं भागा नहीं, साहणहार कबीर।।७।।**

शब्दार्थ : साहणहार = सहने वाला। कबीर = श्रेष्ठ।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि मैं ज्यो-ज्यो हरिगुण को धारण करता हूँ त्यों त्यों हरि प्रेम की पीर का तीर घायल करता जा रहा है, किन्तु मैंने इसे सहन किया इससे भागा नहीं।

विशेष : परिकर अलंकार है।

**सारा बहुत पुकारिया, पीड़ पुकारै और।
लागी चोट सबद की, रहना कबीरा ठौर।।८।।**

शब्दार्थ : सारा = सभी लोग।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि प्रायः सारे लोग जोर-जोर से पुकारते हैं, किंतु उनकी पुकार बनावटी होती है। वास्तविक वेदना की पुकार कुछ और ही होती है। गुरु के शब्द की चोट लगने पर कबीर जहां का तहां रह गया। उसमें पुकारने की भी शक्ति नहीं रही।

विशेष : भेदकातिशयोक्ति अलंकार है।

२२. जीवन म तक कौ अंग

इस अंग में जीवन मुक्ति की प्रशंसा की गई है। कबीर मुक्ति को महत्वपूर्ण न समझ कर जीवन को प्रमुख मानते हैं। वस्तुतः कबीर नाथों-सिद्धों की परंपरा में होने के कारण इस जीवन में ही मन को संयमित करके मुक्त अवस्था का आनन्द लेना चाहते हैं। कबीर इस मुक्ति को प्रेम-मार्ग के माध्यम से प्राप्त करने का उपदेश देते हैं। उनके अनुसार यही अवस्था परमकाम्य है।

जीवन म तक हवै रहै, तजै जगत की आस।

तब हरि सेवा आपण करै, अति दुःख पावै दास।।१।।

शब्दार्थ : जीवत = जीते ही। भति = ऐसा न हो कि।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जो जीते जी म तक हो जाये अर्थात् आपा (अहं) और त ष्णा त्याग दे और सांसारिक कामनाओं से परे हो जाए, तो ऐसे साधक का ध्यान प्रभु रखते हैं। उन्हें यह चिंता रहती है कि कहीं ऐसा न हो कि उनका भक्त दुःखा पावे।

विशेष : विरोधाभास अलंकार है।

कबीर मन म तक भया, दुरबल भया सरीर।

तब पैडे लागा हरि फिरै, कहत कबीर कबीर।।२।।

शब्दार्थ : म तक भया = सांसारिक वासनाओं से पूर्णतः हट गया।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि जब उनका मन सांसारिक वासनाओं को सर्वथा त्यागकर निश्चेष्ट म तक तुल्य हो गया है और शरीर विरह - व्यथा से क्षीण हो गया है, तब उन्हें प्रभु के पीछे लगने की आवश्यकता नहीं रह गयी। प्रत्युत स्वयं प्रभु ही कबीर-कबीर पुकारते हुए उनके पीछे फिरने लगे।

विशेष :

1. तात्पर्य यह है कि पहले भक्त प्रभु की खोज में घूमता है परन्तु जब उसकी वासनाएं नष्ट हो जाती हैं। तब स्वयं प्रभु उसकी खोज में रहता है।

कबीर मरि मड़हट गहया, तब कोई न बूझै सार।

हरि आदर आगै लिया, ज्युं गरु बछ की लार।।३।।

शब्दार्थ : मरहट = श्मशान। सार = सुधि, बछ = बछड़ा। लार = पीछे।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जब मैं सांसारिक वासनाओं को त्याग कर शून्य होकर म तवत् एवं श्मशान में पहुंचा हुआ सा हो गया, तब मेरी सुधि लेने वाला कोई न रह गया। परन्तु प्रभु ने स्नेहपूर्वक मुझे अपना लिया। वह मुझे आगे कर मेरे संरक्षण में स्वयं इस प्रकार चलने लगे जैसे गाय अपने बछड़े को आगे करके उसकी रखवाली करती हुई उसके पीछे चलती है।

विशेष : उपमा अलंकार है।

घर जालीं घर उबरै, घर राखी घर जाइ।

एक अंचभा देखिया, मड़ा काल को खाइ।।४।।

शब्दार्थ : घर = (1) सांसारिक घर (2) वास्तविक घर। उबरै = बच जाता है। जाइ = नष्ट हो जाता है। मुड़ा = मत्।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि यदि मनोजगत् रूप घर को जला देता है तो आत्मा रूपी सच्चा ग ह बच जाता है और यदि मनोजगत् रूप ग ह की रक्षा करता है तो आत्मा का घर चौपट हो जाता है विचित्रता यह है कि जीवितावस्था में म तक-तुल्य हो जाने पर म त ही काल को खा जाता है - काल शुद्धात्मा के लिए नहीं रह जाता।

विशेष : यमक और विरोधाभास अलंकार है।

**मरतां मरतां जग मुवा, औसर मुवा न कोइ।
कबीर ऐसे मरि मुवा, ज्युं बहुरि न मरनां होइ॥५॥**

शब्दार्थ : औसर = उपयुक्त अवसर। मुवा = कर गया।

भावार्थ : सारा संसार दुःख में मरता-मरता मर जाता है किन्तु जीवितावस्था की विचित्र मृत्यु का लाभ उठाकर कोई नहीं मरता। मन को मार कोई जीवन म त नहीं होता। मैंने इसी मरण को प्राप्त कर लिया है, अब पुनः मरण की सम्भावना नहीं रह गइ।

विशेष : व्यतिरेक अलंकार है।

**वैद मुवा रोगी मुवा, मुवा सकल संसार।
एक कबीरा न मुवा, जिनि के राम अधार॥६॥**

शब्दार्थ : मुवा = मृत्यु। जिनि = जिसके।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि वैद्य मर जाता है, रोगी भी मर जाते हैं अर्थात् सारा संसार मरणशील है, परन्तु एक कबीर राम-नाम आधार होने के कारण नहीं मरता।

विशेष : विरोधाभास अलंकार है।

**मन मारया ममिता मुई, अहं गई सब छूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही विभूति॥७॥**

शब्दार्थ : मारया = मारने पर। विभूति = भस्म।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि मैंने मन को मार डाला है। जगत् के प्रति ममता समाप्त हो गई है, अहं भाव चला गया है - साधक भोगा की तरह कहीं रम गया है तथा शव जैसा उपेक्षित शरीर आसन पर पड़ी विभूति (राख) के समान हो गया है।

विशेष : रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

**जीवन थैं मरि बौ भलौ, जौं मरि जानै कोइ।
मरनै पहली जे मरै तो कलि अजरावर होइ॥८॥**

शब्दार्थ : मरिबौ = मरना। अजरावर = अन्तर-अमर।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि यदि कोई मरने की सच्ची पद्धति (मन को मार कर करने की पद्धति) को जान ले तो वह जीवित से अच्छा रहता है। इस कलियुग में जो मरने से पहले इस पद्धति से मर जाता है, वह अजर और अमर हो जाता है।

विशेष : विरोधाभास अलंकार है।

**खरी कसौटी राम की, खोटा टिकै न कोइ।
राम कसौटी सो टिकै, जौ जीवत म तक होइ॥९॥**

शब्दार्थ : कसौटी = परीक्षा।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि संसार जीव के लिए एक कसौटी के समान हैं। जो संसार में विषयों के प्रति निरासक्त होकर रहता है, वही सकल होता है, वह कसौटी पर खरा उतरता है। जो खोटा है अर्थात् विषयों के प्रति आसक्त होकर जीवनयापन करता है। उसमें रत रहता है, वही असफल होता है प्रभु की कसौटी पर वही सच्चा उतर सकता है जो जीते जी विषयों के प्रति म त हो जाए।

विशेष : रूपक अलंकार है।

**आपा मेट्या हरि मिलै, हरि मेट्यां सब जाइ।
अकथ कहाणी प्रेम की कहयां न को पत्यार।।१०।।**

शब्दार्थ : आपा = अहं भाव। अकथ = अनिर्वचनीय, पतियाइ = विश्वास करना।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि अहं भाव को मिटाने पर ही हरि मिलते हैं, किंतु हरि की सत्ता को अस्वीकार करने पर सब कुछ मिट जाता है। हरि प्रेम की कहानी अकथनीय है - अपने को मिटाने की है, किन्तु कोई कहने पर विश्वास नहीं करता।

विशेष : विरोधाभास अलंकार है।

**निगु सांवां बहि जायगा, जाके थाघी नहीं कोई।
दीन गरीबी बंदिगी, करता होई सु होइ।।११।।**

शब्दार्थ : निगु सांवां = जिसका कोई मालिक नहीं है। थाघी = सहारे की लकड़ी, आधार। दीन = दैन्य, लाघुता।

भावार्थ : जिसका कोई गुरु रूपी मालिक नहीं, वह इस संसार के प्रवाह में बह जायेगा। क्योंकि इसको पार करने का कोई आधार या आश्रय उसके पास नहीं है। यदि किसी में दैन्य हो, अकिंचन के भाव हो और प्रणति की प्रवृत्ति हो तो सम्भवतः कुछ हो सकता है यदि ये गुण भी न हों तो फिर उसका पूर्ण विनाश अवश्यभावी है।

विशेष : अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि है।

**दीन गरीबी दीन कौ, दूंदर कौ अभिमान।
दुंदर दिल विष सूं भरी, दीन गरीबी राम ।।२।।**

शब्दार्थ : दीन = (1) दिया (2) दैन्य युक्त। दुंदर = दंड या झगड़ा करने वाला।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जिसमें दैन्य भाव होता है वह विनम्र होता है। जो अहं भाव से पूर्ण झगड़ालू व्यक्ति होता है उसमें अभिमान होता है। झगड़ालू व्यक्ति का हृदय विष से भरा होता है और विनम्र व्यक्ति के हृदय में भगवान का वास होता है।

विशेष : दीन शब्द में यमक अलंकार है।

**कबीर चेरा संत का, दासनि का परदास।
कबीर ऐसैं हवै रहया, ज्यूं पांऊं तलि घास।।१३।।**

शब्दार्थ : चेरा = शिष्य। दासनि = भक्तों का। तलि = नीचे।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मैं संतों का दास हूँ, दास ही नहीं उनके दासों के दास का भी दास हूँ। मैं तो ऐसा हूँ जैसी पांवों में पड़ी घास।

विशेष : उपमा अलंकार है।

**रोड़ा है रहौ बाट का, तजि पांषड अभिमान।
ऐसा जे जन है रहै, ताहि मिलै भगवान।।४।।**

शब्दार्थ : रोड़ा = कंकड़। बाट = मार्ग।

भावार्थ : हे जीव तू पाखण्ड और अभिमान छोड़कर मार्ग में पड़े हुए कंकड़ के टुकड़े के समान दीन और तुच्छ हो जा। जो व्यक्ति इस प्रकार निरहंकार और विमग्न हो जाता है, उसे भगवान की प्राप्ति होती है।

विशेष : उपमा अलंकार है।

२३. हेत प्रीति सनेह कौ अंग

प्रेम, स्नेह एक ऐसा सीमेंट है जो दूरगामी वस्तुओं को जोड़ कर एक कर देता है। प्रस्तुत साखियों में इसी तत्व प्रेम की महिमा का वर्णन हुआ है।

कमोदनी जलहरि बसैं, चंदा बसै अकासि।

जो जाही का भावता, सो ताही कै पास॥१॥

शब्दार्थ : जलहरि - जलाशय। भावता = प्रिय।

भावार्थ : कुमुदिनी जलाशय में रहती है और चन्द्रमा आकाश में। किंतु जो जिसका प्रेमी होता है वह उसके पास ही रहता है। दूरी प्रेम के मार्ग में व्यवधान नहीं डाल सकती। यद्यपि चन्द्रमा और कुमुदिनी दूर-दूर रहते हैं तथापि वह चन्द्रज्योति से ही विकसित होती है, क्योंकि कुमुदिनी के लिए चन्द्र ही प्रिय है।

विशेष : अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

कबीर गुर बसै बनारसी, सिष समंदां तीर।

बिसार्या नहीं बीसरै, जे गुण होई सरीर॥२॥

शब्दार्थ : सिष = शिष्य।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि यदि गुरु बनारस में हो तथा शिष्य समुद्र के किनारे पर तो भी यदि अन्तःकरण में पारस्परित प्रेम विद्यमान है तो प्रयत्न करने पर भी एक-दूसरे को नहीं भूल सकते।

विशेष :

1. इस साखी में कबीर दास ने किसी शिष्य के समुद्र किनारे पुरी में बसने का उल्लेख किया है।
2. प्रस्तुतालंकार है जिसमें हरि और भक्ति का संबंध भी प्रस्तुत के रूप में ही व्यंजित हुआ है।

जो है ताका भावता, जदि तदि मिलसी आई।

जाकों तन मन सौंपिया, जो कबहूँ छांड़ि न जाइ॥३॥

शब्दार्थ : भावता = प्रिय। जति-तदि = कभी न कभी।

भावार्थ : जो जिसका प्रिय है वह शरीर से दूर रहने पर भी कभी न कभी मिल ही जायेगा। जिसको अपने प्रेमवश किसी ने अपना तन-मन समर्पित कर दिया है, वह कभी भी सदा के लिए पथक् नहीं हो सकता।

विशेष : हरि और भक्त का संबंध प्रस्तुत के समान होने पर प्रस्तुतालंकार है।

स्वामी सेवा एक मत, मन ही मैं मिली जाइ।

चतुराई रीझे नहीं, रीझे मन के भाइ॥४॥

शब्दार्थ : एकमत = एक भावना। चतुराई = चालाकी।

भावार्थ : यहां 'मत' शब्द को वाच्यार्थ में न लेते हुए इसको व्यंग्यार्थ में लेना चाहिए जिससे अर्थ ध्वनित होता है कि यदि स्वामी और सेवक, गुरु और शिष्य का दिल मिलता है, यदि दोनों में परस्पर प्रेम है, तो शरीर से दूर रहते हुए भी, वे मन से सदा निकट ही रहते हैं। स्वामी (गुरु) सेवा (शिष्य) के बौद्धिक नैपुण्य से नहीं रीझता। वह तो शिष्य के भाव को देखाता है। यदि समं स्नेह का भाव है तो गुरु उसके प्रति अवश्य आकृष्ट होगा।

विशेष : प्रस्तुतालंकार है।

२४. काल कौ अंग

प्रस्तुत अंग में काल (म त्पु) की प्रबलता का उल्लेख है वह अचानक आकर प्राणी को उठा ले जाता है। ध्वनित होता है कि जीवन काल के पंजों में है पता नहीं कब समाप्त हो जाए। अतः संसार से सदा मुक्त रहने का प्रयास करना चाहिए।

झूठे सुख को सुख कहे, मानत है मन मोद।

खलक चबीणां काल का, कुछ मुख में कुछ गोद॥१॥

शब्दार्थ : खलक = खंजर।

भावार्थ : लोग अपने अज्ञानवश झूठे सुख को सुख मान लेते हैं और मन में प्रसन्नता का अनुभव करते हरते हैं। उनका इस ओर ध्यान ही नहीं जाता कि संसार में जो कुछ है, वह क्षण भंगुर है। यह संसार काल का चबेना है। इसके कुछ प्राणी काल का ग्रास बन चुके हैं और कुछ उसकी पकड़ में जकड़े हुए ग्रास बनने की प्रतीक्षा में हैं।

विशेष : रूपक अलंकार है।

आजक काल्हिक निस हमै, मारगि माल्हंतां।

काल सिचांणां नर चिड़ा, ओझड़ा औच्यंता॥२॥

शब्दार्थ : सिचांणा = सिरहाने। बादिरा = बिना। औच्यंता = निश्चिंत।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि जीवन के पथ पर चलते हुए आज या कल की रात्रि में हमें काल ले जायेगा। क्योंकि काल बाज है, नर पक्षी है, वह अचानक झपट्टा कर ले ही जायेगा।

विशेष : रूपक अलंकार है।

काल सिहोंणै यों खड़ा, जागी पियारौ म्यंत।

राम सनेही बाहिरा, तू क्यूं सोवै नट्यंत॥३॥

शब्दार्थ : सिहोंणै = सिरहाने, सर पर। बाहिरा = बिना, रहित। नच्यंत = निश्चित।

भावार्थ : हे प्रिय मित्र काल तेरे सिरहाने खड़ा है, तू जाग। अर्थात् अज्ञान, माया की निद्रा को त्याग दे। प्रभु के प्रेम से रहत होकर, तू निश्चिंत कैसे रह सकता है?

विशेष : मानवीकरण अलंकार है।

सब जग सूता नींद भरी, संत न आवै नींद।

काल खड़ा सिर ऊपरै, ज्यूं तोरणि आया बींद॥४॥

शब्दार्थ : तोरणि = तोरण। वींद = वर, दूल्हा।

भावार्थ : सारा संसार अज्ञान की निद्रा में सो रहा है। किंतु संत जीवन की क्षणभंगुरता की चिंता तथा अल्पकालिक जीवन में प्रभु की साधना द्वारा उससे मिलन की व्यग्रता के कारण सुख की नींद नहीं सो पाता। काल सिर के ऊपर उसी प्रकार खड़ा है जैसे स्वागत द्वार के सामने दूल्हा आकर खड़ा हो जाता है।

विशेष :

1. राजस्थान में विवाह-प्रथा के अनुसार वर ग ह द्वारा पर लगाए गए तोरण को खड़ग से स्पर्श कर अथवा काटकर अन्दर प्रवेश करता है।
2. उपमा अलंकार है।

आज कहै हरि काल्हि भजौंगं, काल्हि कहै फिरि काल्हि।
आज ही काल्हि करंतड़ां, औसर जासी जालि।।५।।

शब्दार्थ : जासी = जायेगा।

भावार्थ : कबीर चेतावनी देते हुए कहते हैं कि हे जीव, तू आज कहता है कि ईश्वर का भजन करने से शुरू करूंगा, और आल आने पर तू फिर अगले दिन के लिए टाल देता है। इस प्रकार आजकल करते हुए सारा अवसर ही समाप्त हो जाएगा।

कबीर पल की सुधि नहीं, करें काल्हि का साज।
काल अच्यंता झड़पसी, ज्यूँ तीतर को बाज।।६।।

शब्दार्थ : साज = तैयारी। अच्यंता = बेखबर।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हे जीव, एक पल का भी भरोसा नहीं है। पता नहीं किस क्षण क्या हो जाएगा आर तू कल की तैयारी करता है, अर्थात् भविष्य की योजनाएं बनाता है। तुझ असावधान के ऊपर काल वैसे ही झपट्टा मारेगा जैसे अचानक बाज पक्षी तीतर पर झपट्टा मारता है।

विशेष : उपमा अलंकार है।

कबीर टग-टग चोघतां, पल पल गई बिहाइ।
जीव जंजाल न छाड़ई, जम दिया दमांमां आइ।।७।।

शब्दार्थ : टग-टग = टुकड़े-टुकड़े। चोघतां = चुगते हुए। बिहाइ = बीत गया। जंजाल = प्रपंच। दमांमां = नगाड़ा।

भावार्थ : जिस प्रकार पक्षी एक-एक दाने को चुनता हुआ समय व्यतीत कर लेता है, उसी प्रकार जीव नाना प्रकार की योजनाओं का सम्पादन करते हुए बहुमूल्य जीवन का एक-एक क्षण नष्ट कर देता है। और जब यमराज कूच का डंका बजा देता है अर्थात् म त्तु निकट आ जाती है, तब भी अज्ञानी जीव सांसारिक बंधनों से मुक्त नहीं हो पाता।

विशेष : मानवीकरण अलंकार है।

मैं अकेला ए दोई जसां, होती नांही कांइ।
जे जम आगै ऊबरौं, तो जुश पंहूती आइं।।८।।

शब्दार्थ : छेती = अन्तर। जुरा = व द्वावस्था।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मैं तो अकेला हूँ और मेरे रागु यम और जरा दो हैं, कोई इनको काटने वाला नहीं है, यदि यम से मैं बच भी गया तो जरा आ पहुँचेगी।

विशेष : मानवीकरण अलंकार है।

बारी बारी आपणीं, चले पियारे म्यंत।
तेरी बारी रे जिया, नेड़ी आवै नित।।९।।

शब्दार्थ : बारी-बारी = समय से। नेड़ी = निकट।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि अपने-अपने समय से सभी चले गए। हे अबोध जीव तेरे प्रस्थान का भी समय निकट आ रहा है।

विशेष : म त्तु की अटलता का प्रतिपादन है।

**दौ की दाधी लकड़ी, ठाढ़ी करे पुकार।
मति बसि पड़ौ लुहार कै, जसै दूजी बार॥१०॥**

शब्दार्थ : दौ = दावग्नि और भवताप। लुहार = कालचक्र।

भावार्थ : दावानल से दग्ध लकड़ी आर्त पुकार कर रही है कि मेरी एक दुर्गति हो चुकी है। मैं जलकर लकड़ी से कोयला बन चुकी हूँ। हे प्रभो अब दूसरी दुर्गति मत कर कि लोहार (काल चक्र) के हाथ पड़ जाऊँ और कोयले के रूप में पुनः जलना पड़े।

विशेष : अन्योक्ति अलंकार है।

**जो अग्या सो आथवै, फूल्या सो कुमिलाइ।
जो चिणियां सो ढहि पड़े, जो आया सो जाइ॥११॥**

शब्दार्थ : उग्या = उदय। आँथवै = अस्त होता है। चिणियां = चिना जाता है। बनाना।

भावार्थ : संसार में प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है जिसका आविर्भाव हुआ है, उसका तिरोभाव भी होगा। जिसका उदय होता है उसका अन्त भी अवश्य होगा। जो फूलता है वह मुरझाता भी है, जो भवन बनाया जात है, वे समय पाकर ढह भी जाते हैं और जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु भी अवश्यंभावी है।

विशेष :

1. संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील एवं नाशवान् है।
2. सार्वभौमिक बिम्ब है।

**जो पहश्या सो फारिसी, नांव धर्या सो जाइ।
कबीर सोई तत्त गहि, जौ गुरि दिया बताइ॥१२॥**

शब्दार्थ : फारिसी = फटेगा, नष्ट होगा। तत्त = तत्व।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि जो पहना जाता है वह करेगा अवश्य, जिनके नाम रखे जाते हैं वे चले जाते हैं। अतः इन सबको छोड़कर, उस हरि तत्व को ग्रहण करना चाहिए, जिसका उपदेश गुरु ने दिया है।

विशेष : सार्वभौमिक बिम्ब है।

**निधड़क बैठा राम बिन, चेतनि करे पुकार।
यहु तन जल का बुदबुदा, बिनसत नहीं बार॥१३॥**

शब्दार्थ : निधड़क = निश्चित। बार = विलम्ब।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हे अज्ञानी जीव। तू चेत कर राम का स्मरण नहीं करता। उसके बिना निश्चित होकर कैसे बैठा हुआ है? जिस प्रकार का तुझे गर्व है वह जल में बुलबुले के समान है जिसके नष्ट होने में देर नहीं लगती।

विशेष : रूपक अलंकार है।

**पांजी केरा बुदबुदा, इसी हमारी जाति।
एक दिनां छिप जाँहिंगे, तारे ज्युँ परभाति॥१४॥**

शब्दार्थ : जाति = जन्म वर्ग। परभाति = प्रभात।

भावार्थ : प्राणि मात्र जिसने जन्म लिया है, वह पानी के बुलबुले के समान क्षणिक नश्वर हैं। जैसे प्रातःकाल होते ही तारे छुप जाते हैं उसी भाँति मनुष्यादि प्राणि भी अल्पकाल में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

विशेष : उपमा अलंकार है।

**कबीर यह जग कुछ नहीं, षिन क्षारा षिन मीठं।
काल्हि जु बैठा माड़िया, आज मसांण दीढ॥१५॥**

शब्दार्थ : खारा = दुःख। मीठ = सुख। भाड़िया = मंडय। मसांना = श्मशान।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि यह जीवन निस्सार है। इसमें यदि किसी क्षण सुख है तो दूसरे क्षण दुःख है। जो कल मंडल में बैठा हुआ उत्सव मना रहा था, वह आज श्मशान में पहुंचा हुआ दिखाई पड़ता है। सारा जीवन क्षणभंगुर है।

विशेष : अर्थान्तरन्यास संक्रमिक वाच्य ध्वनि है।

**कबीर मंदिर आपणों, नित उठि करती आलि।
मड़हद देष्यां डरपती, चौड़े दीर्ही जालि॥१६॥**

शब्दार्थ : आलि = शं गार। मड़हट = मरघट। जालि = जला दी गई।

भावार्थ : कबीर जी कहते हैं कि जो सुन्दरी अपने महल में प्रतिदिन नाना प्रकार के शं गार से अपने को सजाती है और श्मशान देखकर कांप उठती है। उसका तथाकथित सुन्दर शरीर एक दिन खुले चौड़े मैदान में जला दिया जाता है। इसी प्रकार यह जीवन क्षणभंगुर है।

विशेष : अन्योक्ति अलंकार है।

**मंदिर मांहि झबूकती, दीवा कैसा जोति।
हंस बटाऊ चलि गया, काठौ घर की धोति॥१७॥**

शब्दार्थ : झबूकती = धमकती। दीवा = दीपक। बटाऊ = पथिक, अतिथि। हंस = जीवात्मा, प्राण। धोति = अपवित्र वस्तु।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जो सुन्दरी नारी दीपक की ज्योति की तरह जगमगाती है, चमकती है। प्राण रूपी अतिथि के चले जाने पर वही इतनी अपवित्र और घणित समझी जाने लगी कि लोग कहते हैं कि इस धूत को शीघ्र से शीघ्र घर से निकालकर श्मशान ले जाओ।

विशेष : 'हंस बटाऊ' में रूपक अलंकार है।

**ऊंचा मंदर धौलहर, मांटी चित्री पौली।
एक राम के नांव बिन, जंन पांडैगा रौलि॥१८॥**

शब्दार्थ : धौलधर = धक्लग ह, प्रासाद। पौलि = प्रतोली, मुख्यद्वार। रौलि = प्रहार करना, तमाचा मारना।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि यह शरीर उज्ज्वल ऊंचा महल है, जिसके द्वार में गेरु आदि मिट्टी से चित्रित किया गया है, किन्तु राम नाम न लेने के कारण, यह एक दिन यमराज के द्वारा का शिकार बन जाएगा। अर्थात् शरीर को सुसज्जित करना व्यर्थ है। केवल राम-नाम से ही प्रीति करनी चाहिए। इसी से कल्याण होगा।

विशेष : रूपकातिशयोक्ति और विनोक्ति अलंकार है।

**कबीर कहा गरवियों, काल गहै कर केस।
नां जाणे कहां मारिसी, केँ घर केँ परदेस॥१९॥**

शब्दार्थ : गरवियों = गर्व करता है। मारिसी = मारेगा।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि अपने शरीर पर गर्व क्यों करते हो? देखते नहीं, काल ने तुम्हारे केश पकड़ रखे हैं। पता नहीं, घर या परदेश में कहां मार दे। अर्थात् म त्तु किसी क्षण, किसी स्थान पर हो सकती है।

विशेष : मानवीकरण अलंकार है।

कबीर जंत्र न बाजई, टूटि गए सब तार।

जंत्र विचारा कया करै, चले बजावनहार।।२०।।

शब्दार्थ : जंत्र=वाद्य, शरीर। तार=नाड़ी-मंडल। बजावनहार=बाजनेवाला, प्राण।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि यह शरीर रूपी वाद्य म त्यु होते ही बजना बन्द कर देता हैं, इसके सभी तार टूट जाते हैं, यह क्रियाहीन हो जाता है। इस शरीर रूपी वाद्य का दोष नहीं है। क्योंकि इसको क्रियाशील करने वाला प्राणतत्त्व रूपी वादक इसे छोड़कर अन्यत्र चला गया है।

विशेष:

1. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

ध्वणि धवंती रहि गई, बुझि गए अंगार।

अहरणि रहया ठमूकड़ा, जब उठि चले लुहार।।२१।।

शब्दार्थ : ध्वणि = धौंकनी, खास - प्रश्वास। धवंती = धौंकती हुई, चलती हुई। अछरणि = निहाई, शरीर। ठमूकड़ा = स्थिर, क्रियाशून्य। लुहार = प्राण, जीवात्मा। अंगार = जीवनतत्त्व।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि प्राण रूपी लुहार के जाते ही धौंकती हुई धौंकनी रूप फेफड़े बन्द हो गये, चेतना रूपी अंगार बुझ गये तथा शरीर क्रियाशून्य पड़ा रहा।

विशेष : रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

पंथी ऊथा पंथ सिरि, बुगवां बांध्या पूठि।

मरणां मुह आगै खड़ा, जीवन का सब झूठ।।२२।।

शब्दार्थ : पंथी = यात्री, जीवात्मा। ऊथा = खड़ा हुआ, प्रस्तुत हुआ। बुगवां = गठरी, कार्यों का लेखा। पूठि-पीठ। मरना - म त्यु।

भावार्थ : जीवात्मा रूपी पथिक कर्मों की गठरी अपनी पीठ पर बांधे हुए जीवन-यात्रा के लिए प्रस्तुत खड़ा है। किन्तु वह देखता है कि काल उसके सामने खड़ा है। इसलिए उसे सारा जीवन ही निस्सार और निरर्थक प्रतीत होता है।

विशेष : अन्योक्ति अलंकार है।

यहु जिब आया दूरि थैं अजौं भी जासी दूरि।

बिच कै बासै रमि रहया, काल रहया सब पूति।।२३।।

शब्दार्थ : बासै = ठहराव, मंजिल।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि यह जीव हरि के निवास-स्थान से, जो बहुत दूर है। आया है तथा वहीं फिर उसे जाना हैं यहां तो मार्ग में ठहरे पथिक के समान है तथा काल उसके सिर पर मंडरा रहा है।

विशेष : मानवीकरण अलंकार है।

रांम कह्या तिनि कहि लिया, जुरा पछूंती आइ।

मंदिर लागै द्वार थैं, तब कुछ काढणां न जाइ।।२४।।

शब्दार्थ : जरा = व द्वावस्था।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि राम-राम जो कहते रहे, जिनके मुख से यह रत्न निकलता रहा, उनका ही सौभाग्य था, जो ऐसा नहीं कर सके, उनकी भी व द्वावरस्था आ पहुँची, उसके आते ही शरीर रूपी मन्दिर के द्वार बन्द हो गये - राम-नाम लेना सम्भव न रहा, ठीक ही तो है - द्वार बन्द होने पर मन्दिर से कोई वस्तु निकलती ही नहीं।

विशेष : रूपक और दृष्टांत अलंकार है।

**बरियां बीती बल गया, बरत पलट्या और।
बिगड़ी बात न बाहुडै, कर छिटक्यां कत ठौर।।२५।।**

शब्दार्थ : बरिया = बेला, समय। बाहुडै = बहुरना, लौटना।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि समय बीत गया, शरीर की शक्ति भी जारी रही, इसका रंग भी बदल गया, अब बिगड़ी बात बनती नहीं, ठीक है हरि के हाथ से छूट जाने पर कहीं भी आश्रय नहीं मिलता।

विशेष : शारीरिक शक्ति के साथ ही साधना सम्भव है।

**बरियां बीती बल गया, अरु बुरा कमाया।
हरि जिन घाड़े हाथ थैं, दिन नेड़ा माया।।२६।।**

शब्दार्थ : नेड़ा = निकट।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि साधना का अवसर चला गया। शरीर की शक्ति क्षीण हो गयी। तूने जीवन में कुकर्मों की ही कमाई की। अब भय है कि कहीं हरि अपने हाथ से न छोड़ दें, जब उनके पास रहने का दिन समीप आ गया है।

विशेष : हरिभक्ति की अनिवार्यत ध्वनित है।

**कबीर हरि सूं हेत करि, कूडै चित्त न लाव।
बांध्या बार षटीक कै, तापस किती एकआव।।२७।।**

शब्दार्थ : हेत = प्रेम। कूडै = व्यर्थ। बार = द्वार। षटीक = कसाई।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हे जीव! तू प्रभु से प्रेम कर। व्यर्थ की वासनाओं को चित्र में न आने दे। सांसारिक विषयों से विरक्त होकर प्रभु से अनुराग कर। जिस प्रकार कसाई के द्वार पर बंधे हुए पशु की आयु का कोई ठिकाना नहीं होता। इसी प्रकार हे जीव। तू यम के द्वार पर बंधा हुआ है। तेरा अन्त समय कब आ जाय, पता नहीं? इसलिए इस जीवन में प्रभु का स्मरण कर।

विशेष : रूपकातिशयोक्ति और दृष्टांत अलंकार है।

**विष के बन में घर किया, सरप रहे लपटाइ।
तार्थें जिपरै डर रहया, जागत रैणि बिहाइ।।२८।।**

शब्दार्थ : बिहाइ = बीतती है।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि विष के वन में अपना निवास स्थान बनाया है उस वन के वक्षों में चारों ओर सर्प लिपटे हुए हैं। इससे हृदय भयभीत रहती है और रात्रि में नींद नहीं आती। सारी रात जागकर बितानी पड़ती है। अर्थात् संसार विषैले वन के समान है, जिसमें विषय के सर्प विद्यमान हैं। इसलिए जीव निश्चिंत होकर इस वन में जीवन नहीं व्यतीत कर पाता।

विशेष : रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

**कबीर सब सुख राम है, और दुखां की रासि।
सुर नर मुनियर असुर सब, पड़े कालि की पासि।।२९।।**

शब्दार्थ : पासि = पाश, बंधन।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हे जीव! राम ही परमानन्द हैं तूने संसार में जिसे सुख या आनन्द समझ रखा है, वे सब दुःखों की राशि है। जन्म-मरण का चक्र ऐसा है जिससे किसी को छुटकारा नहीं मलता। काल के पाश में देवता, मनुष्य, मुनि और राक्षस सभी बांधे हुए हैं। इसलिए यदि तू यह चाहता है कि जब अन्म मरण के चक्र में न पड़े अर्थात् सदा के लिए उनसे मुक्त हो जाए, तो राम की भक्ति कर।

विशेष : मानवीकरण अलंकार है।

काची काया मन अथिर, थिर थिर कांम करंत।

ज्यूं ज्यूं नर निधड़क फिरै, त्यूं त्यूं काल हंसत।।३०।।

शब्दार्थ : काची = कच्ची, नारावान। काया = शरीर। अथिर = अस्थिर, चंचल। थिर = स्थिर। निधड़क = निश्चिंत।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मानव का शरीर कच्चे घड़े के समान अस्थिर है। उसका मन भी चंचल है। फिर भी आश्चर्य है कि मानव सभी कार्य अपने को स्थिर समझकर करता है। वह जितना ही निश्चिन्त होकर जीवनयापन करता है, काल उतना ही उसकी मूर्खता पर हंसता है।

विशेष : विरोधाभास अलंकार है।

रोवणहारे भी मुए, मुए जलांवणहार।

हा हा करते ते मुए, कासनि करौं पुकार।।३१।।

शब्दार्थ : कासों = किससे।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि म तक को देखकर रोने वाले और कठोर हृदय कर उसे जलाने वाले भी हाहाकार करते हुए मर गये, अब किसको पुकारा जाए जो काल से रक्षा कर सके। अर्थात् काल से कोई नहीं बच सकता।

विशेष : मानवीकरण अलंकार है।

जिनि हम जाए ते मुए, हन भी चालणहार।

जे हमको आगे मिले, तिन भी बंध्या मार।।३२।।

शब्दार्थ : जाए = पैदा किया।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जिन्होंने हमको पैदा किया था वे संसार से चल गये। हम भी यहां से चलने की तैयारी में हैं और आगे चलने पर जो मिलते हैं, वे भी कर्मों का भार बांधे चलने की तैयारी में दिखाई पड़ते हैं। अर्थात् काल से कोई बच नहीं सकता।

विशेष : तीन पीढ़ियों के दृष्टांत देकर, काल के शिकंजे का प्रभावपूर्ण वर्णन किया है।

२५. कस्तूरियां म ग कौ अंग

म ग का द टांत देकर प्रस्तुत सर्ग में ईश्वर की सर्वव्यापकता के साथ साथ, मन में ही खोजने की बात कही गई है प्रस्तुत साखियों में ईश्वर से बिछुड़ा हुआ जीव उसी की तलाश में जंगल-जंगल तो भटकता रहता है परन्तु मन-मन्दिर काया-साधना की ओर ध्यान नहीं देता।

**कस्तूरी कुंडलि बसै, म ग टूँडे वन माँहि।
ऐसै घरि घरि राम हैं, दुनियां देखै नाँहि॥१॥**

शब्दार्थ : कुंडलि = कुण्डल, नाभि। घरि-घरि = प्रत्येक शरीर में।

भावार्थ : कस्तूरी म ग की नाभि में विद्यमान रहती है किंतु म ग उसकी खुशबू से प्रभावित होता हुआ जंगल में खोजता भटकता घूमता रहता है। इसी प्रकार ईश्वर प्रत्येक प्राणी में विद्यमान रहते हैं परन्तु प्राणि मायावश उसे जंगलों में, मंदिरों, तीर्थों में खोजता भटकता है।

विशेष : उपमा अलंकार है।

**कोइ एक देखै संत जन, जाँकै पाँचै हाथि।
जाँके पाँचूँ बस नहीं, ता हरि संग न साथि॥२॥**

शब्दार्थ : हाथि = वश में।

भावार्थ : घर घर में बसने वाले राम का अनुभव कोई ऐसे संत जन ही कर पाते हैं जिनकी पांचों इंद्रियां वश में हैं। जिनकी इंद्रियां अपने वश में नहीं हैं, उनका प्रभु से कोई सम्पर्क नहीं हो सकता।

विशेष : पांच रूप प्रतीक है।

**सो साँई तन में बसै, भ्रम्यो न जाणै तास।
कस्तूरी के म ग ज्यूँ, फिरि फिरि सूँघै घास॥३॥**

शब्दार्थ : भ्रम्यो = भ्रमण करना, चक्कर लगाना।

भावार्थ : प्रभु प्रत्येक व्यक्ति के घर में विद्यमान है। किंतु जैसे म ग कस्तूरी के स्थान को नहीं जानता, और उसकी खोज में चक्कर लगाता रहता है और घूम-घूम कर इसीलिए घास सूँघता रहता है कि उसी स्थान से सुगन्ध तो नहीं आ रही। ऐसे ही सांसारिक जीव अपने भीतर विद्यमान प्रभु को नहीं जानते और उसे तीर्थ और मन्दिरों में खोजते रहते हैं, अथवा उस आनन्द स्वरूप को तुच्छ विषयों में पाने की चेष्टा करते रहते हैं।

विशेष : उपमा अलंकार है।

**कबीर खोजी राम का, गया जु सिंघल दीप।
राम तो भीतर रंमि रहया, जो आवै परतीत॥४॥**

शब्दार्थ : परतीत = विश्वास, प्रतीति।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि राम का खोजी समुद्र पार दूर प्रदेश जाने का यत्न करता है। उस बेचारे को पता नहीं कि राम तो सभी के हृदय में रम रहे हैं। यदि दृढ़ विश्वास हो और अन्तर्चक्षु से उसे देखने का यत्न किया जाए तो प्रत्येक व्यक्ति को उसका साक्षात्कार हो सकता है।

विशेष : रमि रहया में विचरने, व्याप्त रहने का भाव है।

**घरि बधि कहीं न देखिये, बह्य रहया भरपूरि।
जिनि जान्यां तिनि निकटि है, दूरि कहै ते दूरि॥५॥**

शब्दार्थ : बधि = अधिक।

भावार्थ : राम सर्वत्र समान रूप से विद्यमान रहते हैं कहीं अधिक और कहीं कम नहीं। यह अज्ञान के कारण समझा जाता है जो उसको जानते हैं, उनके वह निकट हैं, और जो नहीं जानते उनसे दूर हैं।

विशेष : ईश्वर परिमाणवाचक न होकर, ज्ञान, भाव वाचक है।

**मैं जान्यां हरि दूरि है, हरि रहया सकल भरपूरि।
आप पिछापौ बाहिरा, नेड़ा ही थै दूरि॥६॥**

शब्दार्थ : आप = आत्म स्वरूप। पिछाणै = पहचान। नेड़ा = निकट

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मैं समझता था कि प्रभु कहीं बहुत दूर होंगे। किंतु वह तो हमारे हृदय में ही पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। जो अपनी पहचान से बाहर हैं, अर्थात् जिनको आत्मस्वरूप की जानकारी नहीं है, उनके लिए प्रभु पास रहने पर भी दूर ही प्रतीत होते हैं।

विशेष : प्रभु मिलन का साधन आत्मस्वरूप है।

**तिणकै ओल्हे राम है, परबत में हैं भांइ।
सतगुरु मिलि परचा भया, तब हरि पाया घर मांहि॥७॥**

शब्दार्थ : तिण = तिनका। ओल्हे = ओट में। भांई = विचार से।

भावार्थ : यद्यपि राम और मेरे बीच त ण के समान एक सूक्ष्म आवरण है, किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे और प्रभु के बीच पर्वत के समान दीर्घ और विशाल व्यवधान है। सतगुरु के मिलने पर जब प्रभु का परिचय प्राप्त हुआ, तब प्रभु का पता चला कि मेरे भीतर ही हैं।

विशेष : रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

**राम नाम तिहुँ लोक मैं, सकल रहया भरपूरि।
यहु चतुराई जाहु जलि, खोजत डाले दूरि॥८॥**

भावार्थ : राम नाम तीनों लोंके में सभी में परिव्याप्त है। उस चतुराई को आग लगे, जिससे लोग पअने ही भीतर व्याप्त राम को छोड़कर उन्हें दूर-दूर खोजते घूमते हैं।

**ज्यूं नैनुं मैं पुतली, त्यूं खालिक घर मांहि।
मूरखि लोग न जाणही बाहरि बाहरि दूढण जांहि॥९॥**

शब्दार्थ : खालिक = सष्टिकर्ता, स्वामी, ईश्वर।

भावार्थ : जिस प्रकार नेत्रों में पुलती होती है, उसी प्रकार शरीर के भीतर प्रभु विद्यमान हैं। अज्ञानी इस तथ्य को नहीं जानते और उसे बाहर खोजने जाते हैं।

विशेष : उपमा अलंकार है।

२६. निंदा कौ अंग

अंग के अंतर्गत संकलित साखियों में निंदा के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन किया गया है राम नाम में रत रहने वालों को निन्दा के लिए कहां अवकाश मिलता है। भक्त न तो निन्दा करता है और न हो निन्दा करने वाले से द्वेष रखता है, अपितु उसको बुराईयों को दूर करने के लिए उपयोगी समझता है।

लोग बिभारा न दई, जिनह न पाया ग्यांन।

रांम नांम राता रहै, तिनहु न भावै आंन।।१।।

शब्दार्थ : राता = रत, लीन।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि बेचारे वे दूसरे की निन्दा करते रहते हैं जिन्होंने ज्ञान प्राप्त नहीं किया है। जो प्रभु की भक्ति में अनुरक्त हैं, उन्हें प्रभु को छोड़कर और कुछ अच्छा लगता ही नहीं। उन्हें दूसरों की निन्दा में रस कहां मिल सकता है?

विशेष : प्रभु भक्त निन्दा से दूर रहता है।

दोख पराये देखि करि, चल्या हंसत हंसत।

अपने च्यंति न आवई, जिनकी आदि न अंत।।२।।

शब्दार्थ : च्यंति = चिंता।

भावार्थ : अधिकांश लोग दूसरे के दोष को देखकर हंसते चले जाते हैं, वे अपने दोष को चित्त में लगे ही नहीं, जिनकी कोई सीमा नहीं।

विशेष : बुरा जो देखन में चला, बुरा न मिलया कोय।

निंदक नेड़ा राखिये, आंगणि कुटी बँधाई।

बिन साबण पांणी बिना, निरमल करै सुभाइ।।३।।

शब्दार्थ : नेड़ा = निकट। बँधाई = बनवाकर। सुभाई = स्वभाव।

भावार्थ : निन्दक को अपने समीप ही आंगन में कुटी बनवाकर रखना चाहिए। वह पानी और साबुन के बिना ही हमारे स्वभाव को निर्मल कर देता है। अर्थात् जब निन्दक किसी की निन्दा करता है तब उसका व्यक्ति का ध्यान अपने दोषों पर जाता है और वह निर्मल बनने का प्रयत्न करता है। इसीलिए कहा गया है निन्दक साबुन-पानी के बिना ही स्वभाव को निर्मल कर देता है।

विशेष : विभावना अलंकार है।

न्यंदक दूरि न कीजिये, दीजे आदर मांन।

निरमल तन मन सब करै, बकि बकि आंनहिं आंन।।४।।

शब्दार्थ : न्यंदक = निन्दक।

भावार्थ : निन्दक को दूर न कीजिए। उसको सम्मान देकर समीप ही रखिये। वह दोषों को बढ़ा-चढ़ाकर चारों ओर बकता रहता है। उससे अपने दोषों की ओर विवशतः दृष्टि जाती है और तब मनुष्य अपने तन-मन को निर्मल करने का प्रयत्न करता है।

विशेष : आध्यात्मिक जीवन में निन्दक के लाभ वर्णित हैं।

जे को नीदे साध कूँ, संकटि आवै साइ।
नरक मांहि जांगैं, मरैं, मुकति न कवहूं न होइ॥५॥

शब्दार्थ : साध = सज्जन।

भावार्थ : कबीर कते हैं कि जो साधु की निन्दा करते हैं, वे संकट में पड़ते हैं, नरक में ही जन्म लेते हैं और मरते हैं, उनकी मुक्ति कभी नहीं होती।

विशेष : किसी की निन्दा करना व्यर्थकारी है।

कबीर घास न नीदिये, जो पाऊँ तलि होइ।
उड़ि पड़े जब आँखि में, खरा दुहेली होइ॥६॥

शब्दार्थ : उड़ि = उड़कर। खरा = अत्यंत। दुहेली = कष्ट।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि पैरों के तले पड़ी घास की निन्दा नहीं करनी चाहिए। उसे तुच्छ नहीं समझना चाहिए, क्योंकि यह भी उड़कर जब आंख में पड़ जाती है, तब बड़ा कष्ट होता है।

विशेष : अन्योक्ति अलंकार है।

आपन यौं न सराहिए, और न कहिये रंक।
नां जाँणौं किस त्रिष तलि, कूड़ा होइ करंक॥७॥

शब्दार्थ : आपन यौं = अपने को। रंक = तुच्छ। करंक = हड्डियां।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि अपनी सराहना नहीं करनी चाहिए और न ही किसी को दरिद्र समझकर निन्दा करनी चाहिए। क्योंकि पता नहीं, करने के पश्चात् किस व क्ष के नीचे हड्डियां कूड़े की तरह पड़ी रहें - अर्थात् पता नहीं स्वयं किस तुच्छ अवस्था को प्राप्त होना पड़े। अर्थात् इस नश्वर शरीर पर गर्व करना व्यर्थ है।

विशेष : किसी को तुच्छ नहीं समझना चाहिए।

कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोइ।
आप ठग्यां सुख ऊपजै और ठग्यां दुख होइ॥८॥

शब्दार्थ : आप = आपा।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि आपा को लुट जाने दो, नष्ट हो जाने दो। दूसरे किसी को धोखा देने की चेष्टा न करो। आपा लुट जाने से सुख उत्पन्न होता है। दूसरों को ठगने या लूटने से केवल दुःख प्राप्त होता है।

विशेष : लूटने से लुटना आनन्ददायक है।

अब के जे सांई मिलै, तो सब दुख आषौं रोइ।
चरनूं ऊपरि सीस धरि, कहूँ ज कहणां होइ॥९॥

शब्दार्थ : जे = यदि। आषौं = कहूँ, आख्यान करूं।

भावार्थ : यदि इस बार मेरे प्रभु मिलेंगे तो मैं उनहें अपनी करुण कहानी रोकर सुनाऊंगा। उनके चरणों पर शीश रखकर, जो कुछ कहना है, कहूंगा। अर्थात् पूर्ण आत्म-समर्पण कर, प्रभु से अनुग्रह की याचना करूंगा।

विशेष : अर्थ शक्ति से ध्वनित है - जीवन दुःखमय है। ईश्वर को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

२७. बेली का अंग

बेली गोरखनाथ द्वारा 'माया' के रूप में रूढ़ प्रतीक प्रयुक्त हुआ है। इसी अर्थ अर्थात् 'माया' के रूप में ही यहां प्रस्तुत साखियों में इसका प्रयोग हुआ है।

**अब तौ ऐसी है पड़ी, नाँ तू बड़ी न बेलि।
जालण आंणी लाकड़ी, उँठी कूपल मेलि॥१॥**

शब्दार्थ : बेलि = माया। जालण = जलाने के लिए। आंजी = लाई गई। = कूपल = अंकुर। मेलि = पनपते हुए।

भावार्थ : माया रूपी बेलि विचित्र है। साधारणतः साधक कुछ साधनों के पश्चात् यह समझने लगते हैं कि अब मैंने इस पर विजय प्राप्त कर ली है, जब न तो माया रूपी बेलि रह गई है और न उसका फल तूबड़ी। किंतु जब वह उस माया रूपी बेलि को शुष्क लकड़ी समझ कर उसे जलाने अथवा नष्ट करने का प्रयत्न करता है, तब वह यह देखकर चकित रह जाता है, कि जिस बेल को वह सूखी लकड़ी समझ रहा था, उसमें छिपी हुई नई कोंपलें निकल रही हैं।

विशेष :

1. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।
2. माया अविद्या के कारण है। उसी अविद्या से अस्मिता राग-द्वेष, अभिनिवेश आदि क्लेश होते हैं।

**आगे आगे दौ जलै, पीछे हरिया कोइ।
बलिहारी ता विरष की, जड़ काटयां फल होइ॥२॥**

शब्दार्थ : दौ = दावाग्नि। विरष = वक्ष।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि माया की बेल में ज्ञान की अग्नि लगाने पर वह आगे आगे तो जलती जाती है किंतु पीछे से हरी होती चली आती है, मैं तो इस माया के बेल पर न्यौछावर होता हूँ, क्योंकि यह ऐसी विचित्र है कि जड़ काट देने पर भी फल देती है।

विशेष : विरोधाभास अलंकार है।

**जे काटौ तौ डहडही, सींचौ तो कुमिलाइ।
इस गुणवती बेलि का, कुछ गुण कहया न जाइ॥३॥**

शब्दार्थ : डहडही = हरी भरी, लहलहाती।

भावार्थ : यह माया बेलि विचित्र और असामान्य है। यदि इसको काटा जाए तो यह हरी भरी तथा पल्लवित हो उठती है और यदि सींचो सींचा जाए तो मुरझा जाती है। इस अद्भुत गुणवाली बेलि की विशेषताओं का वर्णन नहीं किया जा सकता।

विशेष :

1. यह एक उलटवासी है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार हठयोग आदि कृत्रिम साधनाओं, उपायों से वासनाओं को दबाने से वह बढ़ती चलती है, और जब ज्ञान-भक्ति रूपी सुधा रस से इसको सींचा जाता है तब वह मुरझा जाती है।
2. व्यतिरेक, विरोधाभास, तथा श्लेष अलंकार है। यह त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रज और तम) का भी बोधक है और वैशिष्ट्य का भी।

**आगणि बेलि अकासि फल, अण व्यावर का दूध।
ससा सींग की धूनहड़ी, रमै वॉइन का पूत॥४॥**

शब्दार्थ : अणव्यावर = बिना ब्याई हुई। ससा = खरगोश। धूनहड़ी = छोटा धनुष। रमै = रमण करना।

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं कि इस संसार के आंगन में माया की बेल है। इसका फल आकाश के सदृश मिथ्या है, बच्चा न देने वाली गाय के दूध के समान है। शशक शंग का बाजा है अथवा बंध्या का भ्रमण करने वाला पुत्र है।

विशेष : माया और उसका फल मिथ्या है, ये दूर किये जा सकते हैं।

२८. अविहड़ कौ अंग

प्रस्तुत साखियों में अविहड़ से अभिप्राय है परमसत्ता। इसी परमात्मा का वर्णन उनमें किया गया है।

कबीर साथी सो किया, जाके सुख दुःख नहीं कोइ।

हिलि मिलि हवै क्वरि खेलिस्यू, कदे बिछोइ न होइ॥१॥

शब्दार्थ : साथी = मित्रता।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मैंने उस प्रभु को अपना साथी बनाना है, जो सुख-दुख आदि द्वंद्वों से परे है। मैं उसमें हिल-मिलकर सदा युक्त रहकर खेलूंगा, अर्थात् जीवन व्यतीत करूंगा। उससे कभी बिछुड़न नहीं होगी।

कबीर सिरजन हार बिन, मेरा हितू न कोइ।

गुण औगुण बिहड़ै नहीं, स्वास्थ्य बंधी लोइ॥२॥

शब्दार्थ : सिरजनहार = स्रष्टा। हितू = हितैषी। विहड़ै = अन्तर करना।

भावार्थ : स्रष्टा के अतिरिक्त जग में कोई सहायक हितैशी नहीं है। वह गुण-अवगुण में अन्तर नहीं करता। उसके प्रति जो अनुराग रखता है, वह चाहे पापी हो या पुण्यात्मा, प्रभु उस पर अनुग्रह करते हैं। अन्य सभी लोग स्वार्थ से बंधे होते हैं।

आदि मधि अरु अंत लौ, अबिहड़ सदा अभंग।

कबीर उस करता की, सेवग तजे न संग॥३॥

शब्दार्थ : लौ = तक। अविहड़ = अवियुक्त। अभंग = अटूट।

भावार्थ : अनश्वर, अभंग, प्रभु जिसका कोई आदि, मध्य तथा अंत नहीं है, वह मेरे जीवन के आदि, मध्य और अंत तक अर्थात्, जन्म, जीवन और मृत्यु पर्यन्त सदा लगातार मुझ से जुड़ा रहता है। कबीर कहते हैं कि सेवक को ऐसे प्रभु का कभी साथ नहीं छोड़ना चाहिए।

विशेष : समरस ईश्वर की भक्ति करनी चाहिए।

कबीर कड़ई बेलड़ि, कड़वा ही फल होइ।

सांध नांव तब पाइये, जे बेलि बिछोहा होइ॥४॥

शब्दार्थ : सांध = सिद्ध।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि इस माया रूपी बेलि का स्वाद कड़वा होता है, और इसका फल (परिणाम) में कड़वा ही होता है। सिद्ध नाम, व्यक्ति को तब माना जायेगा यदि वह इस माया (कड़वे) की वेति से छुटकारा पा जाता है।

विशेष :

1. माया से छुटकारा पाना ही सिद्ध पुरुष का लक्षण है।
2. रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

सीध भई तब का भया, चहुँ दिसि फूटी बास।

ऊजहूँ बीच अंकुर है, भीरुगण की आस॥६॥

शब्दार्थ : बास = सुगन्ध। आस = सम्भावना।

भावार्थ : यदि सिद्ध होने की ख्याति चारों ओर फैल गई तो इससे कोई लाभ नहीं। मायारूपी बीच और उसका वासना रूपी अंकुर अब भी हृदय में विद्यमान है। अतः साधक को बहुत ही सावधान रहना चाहिए।

विशेष : बीज अंकुर में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

2. पद

(1)

दुलहनी गावहु मंगलाचार

हम घरि आए हो राजा राम भरतार ।।टेक।।

तनरत करि में मनरत करिहूँ, पंचतत्त बराती ।

रामदेव मोरें पाँहुनैँ आए में जौबन में माती ।।

सरीर सरोबर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा वेद उचार ।

रामदेव संगि भाँवरी लैहूँ , धनि धनि भाग हमार ।।

सुरतेतीसूँ कौतिन आये, मुनिवर सहस अट्यासी ।

कहै कबीर हँम ब्याहि चले हैं , पुरिष एक अविनासी ।।

शब्दार्थ :

दुलहनी = सुहागवती स्त्रियाँ, वधु । मंगलाचार = संस्कार के समय गाया जाने वाला मंगलमय गीत । भरतार = पति, स्वामी । रत = लीन, अनुरक्त । पंचतत्त = पाँचों तत्व (पृथ्वी, आकाश, अग्नि, पानी व वायु) । पाँहुनैँ = अतिथि । जौबन = यौवन । माती = मस्त, मदमस्त । सरीर सरोवर = शरीर रूपी कुण्ड । भाँवरी = भाँवर, विवाह के समय अग्नि के चारों तरफ लगाई जाने वाली परिक्रमा । धनि-धनि = धन्य-धन्य । कौतिन =कोटि, करोड़ों । सहस = हजार, सहस् । पुरिष = पुरुष ।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद कबीर दास द्वारा रचित है। इस पद में कबीर दास जी ने आत्मा को प्रेमिका व परमात्मा को प्रेमी के रूप में चित्रित करके माधुर्य भाव की भक्ति से इन दोनों के विवाह का रूपम द्वारा दोनों के मिलन के आनन्द का वर्णन किया है।

व्याख्या :

कबीर दास जी कहते हैं कि हे सुहागवती नारियो । अब तुम विवाह के अवसर गाए जाने वाले मंगलमय गीत को गाओ क्योंकि आज मेरे घर में मेरे पति रूपी राजा राम अर्थात् परमात्मा आए हैं। मेरा तन और मन दोनों ही उनके प्रेम या आसिक्त में लीन हो गए हैं। पाँचों तत्व - (पृथ्वी, आकाश, अग्नि, पानी व वायु) राजा राम के साथ बराती बन कर आए हैं। रामदेव अर्थात् परमात्मा मेरे यहाँ पर अतिथि बन कर आए हैं और मैं अपने यौवन अर्थात् उनकी भक्ति में मदमस्त हो गई हूँ। मैं अपने शरीर रूपी कुण्ड को विवाह की वेदी बना दूँगी, इस विवाह की परिक्रमाएँ पूरी करूँगी । मेरा जीवन धन्य है अर्थात् यह मेरा सौभाग्य है कि मेरा व परमात्मा का मिलन हो रहा है। मेरे व परमात्मा के इस विवाह अर्थात् मिलन को देखने के लिए तैंतीस करोड़ देवी-देवता और अट्यासी हजार मुनिजन यहाँ पर आए हैं। कबीर दास जी कहते हैं कि इस प्रकार मेरी आत्मा उस एक अविनाशी पुरुष अर्थात् परमात्मा के साथ विवाह करके जा रही है।

विशेष :

- (1) कबीर दास जी ने यद्यपि तैंतीस करोड़ देवी-देवता का उल्लेख किया है, परन्तु इसका प्रयोग केवल आत्मा व परमात्मा के महामिलन में अनुपमता लाने के लिए ही किया गया है, सगुण-ब्रह्म की स्थापना के लिए नहीं।

- (2) पूरे पद में भारतीय परम्परा के अनुसार वैवाहिक संस्कारव परम्परा को आधार बनाया गया है।
- (3) सम्पूर्ण पद में रूपक अलंकार है।
- (4) 'धंनि धंनि' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार तथा 'राजा राम', 'कहै कबीर' आदि में अनुप्रास अलंकार की योजना है।
- (5) पूरे पद में सघुक्कड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है।

(2)

बहुत दिनन थैं मैं प्रतिम पाये,

भाग बड़े घरि बैठें आये ॥टेक॥

मंगलाचार माँहि मन राखों, राम रसाँइणा रसना चाषों ।

मंदिर माँहि भयो उजियारा, ले सूती अपनों पीव पियारा ॥ 1॥

मैं रनि रासी जे निधि पाई, हमहिं कहां यह तुमहि बड़ाई ।

कहै कबीर मैं कुछु न कीन्हा सखी सुहाग राँम मोहि दीन्हा ॥ 2 ॥

शब्दार्थ :

दिनन = दिनों । राम रसाइणा = राम रूपी रसायन । रसना = जीभ । चाषों = चखा । मंगलाचार = संस्कार के अवसर पर गाया जाने वाला मंगलमय गीत । सूती = सती । पीव = प्रियतम । निधि = निधियाँ ।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद कबीर दास द्वारा रचित है। इस पद में कबीर दास जी ने माधुर्यभाव की भक्ति के माध्यम से अपनी आत्मा रूपी प्रेमिका व परमात्मा रूपी प्रेमी के महामिलन का वर्णन किया है।

व्याख्या :

कबीरदास जी कहते हैं कि मेरी आत्मा रूपी प्रेमिका को बहुत दिनों के बाद अपने प्रियतम अर्थात् परमात्मा से मिलने का अवसर मिला है। यह मेरे परम सौभाग्य की बात है कि आज वह प्रियतम बिना किसी प्रयास के ही मिल गया क्योंकि वह स्वयं मेरे घर अर्थात् मेरे पास आया है। आत्मा व परमात्मा के इस महामिलन के अवसर पर मेरा मन मंगलाचार कर रहा है और मेरी जीभ राम रूपी रसायन के स्वाद को चख रही है। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा व परमात्मा के मिलन के अवसर पर भक्त के हृदय में असीम आनंद है और वह बार-बार उस परमात्मा के नाम का ही स्मरण कर रहा है। कबीर दास जी कहते हैं कि अब मेरे मन रूपी मंदिर में ज्ञान व प्रेम के प्रकाश से उजाला हो गया है और मेरी सती रूपी आत्मा अपने प्यारे प्रियतम के साथ मिलन के सुख का आनंद उठा रही है। कबीर दास जी कहते हैं कि परमात्मा के मिलन से जो निधियाँ अर्थात् सुख मुझे मिले हैं, उनकी मैं तुमसे कहां तक प्रशंसा करूँ अर्थात् उन सुखों का वर्णन नहीं किया जा सकता। कबीर दास जी कहते हैं कि परमात्मा के साथ होने वाले इस मिलन में मेरा कोई योग नहीं है। यह तो मेरे प्रियतम राम ने अनुकम्पा करके मुझे इस महामिलन के अवसर को प्रदान किया है।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीरदास जी ने प्रभु की प्राप्ति के लिए उनकी ही अनुकम्पा को एकमात्र साधन माना है।
- (2) इस पर मैं भावात्मक रहस्यवाद के दर्शन होते हैं।
- (3) पद में रूपक अलंकारों का अधिक प्रयोग हुआ है।
- (4) 'राम रसाँइणा रसना' में व त्यानुप्रास तथा 'रनि राति', पीव पियारा, 'सखी सुहाग' आदि में अनुप्रास अलंकार की छटा दर्शनीय है।

(5) भाषा सधुक्कड़ी है।

(3)

अब तोहि जाँन न देहूँ राम पियारे,
 ज्यूँ भावै त्यूँ होह हमारे ॥ टेक ॥
 बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े घरि बैठे आये ॥
 चरननि लागिं करौं बरियायी, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई ।
 इत मन मंदिर रहौ नित चोषे, कहै कबीर परहु मति धोषे ॥३॥

शब्दार्थ :

जाँन न देहूँ = जाने न दूँगी । भावै = अच्छा लगे । दिनन = दिनों । बरियायी = सेवा। उरझाई = उलझा कर।
 चोषे = सुन्दर, भली प्रकार। धोषे = धोखे। परहु मति = पड़ना मत।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद कबीरदास द्वारा रचित है। इस पद में कबीरदास जी ने माधुर्य भाव की भक्ति से आत्मा रूपी प्रेमिका का परमात्मा रूपी प्रियतम के प्रति अनन्य प्रेम को दर्शाया है। इसमें आत्मा को परमात्मा से सम्बोधित करते हुए कहती है कि -
 व्याख्या :

हे प्रियतम राम । अब मैं तुम्हें जाने नहीं दूँगी । तुम्हें जिस प्रकार से भी अच्छा लगे या जैसे तुम चाहो, वैसे तुम मेरे ही बनकर रहो। हे परमात्मा। मैंने बहुत दिनों तक तुम से बिछुड़कर अर्थात् तुम से दूर रह कर अब फिर से प्राप्त किया है। यह मेरा परम सौभाग्य है कि अब तुम मुझे घर बैठे ही प्राप्त हो गए अर्थात् तुम्हें पाने के लिए मुझे कहीं न तो जाना पड़ा और न ही कुछ कार्य करना पड़ा। अब तो मैं तुम्हें बलपूर्वक रोक कर तुम्हारी हर सम्भव सेवा करूँगी और तुम्हें अपने प्रेम व स्नेह के जाल में उलझा कर रखूँगी ताकि तुम मुझे छोड़कर न चले जाओ। हे प्रियतम राम। अब तुम मेरे मन रूपी मंदिर में भली प्रकार से रहो और मुझे छोड़कर कहीं और जाने के धोखे में मत पड़िए।

विशेष :

- (1) सम्पूर्ण पद में कबीरदास जी ने ईश्वर के प्रति अपने अनन्य व एकनिष्ठ प्रेम को दर्शाया है।
- (2) 'भाग बड़े घरि बैठे आए' - इस पंक्ति से कबीर दास जी ने तीर्थ-यात्रा, उपवास आदि का परोक्ष रूप से खण्डन करके यह समझाया है कि ईश्वर को घर बैठे स्मरण करने पर भी प्राप्त किया जा सकता है।
- (3) 'मन मंदिर' में रूपक अलंकार है।
- (4) 'होह हमारे' प्रेम प्रीति, कहै कबीर आदि में अनुप्रास अलंकार है।
- (5) सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग है।

(4)

मन के मोहन बीटुला, यह मन लागौ तोहि रे ।
 चरन कँवल मन माँनियों, और न भावै मोहि रे ॥टेक॥
 षट दल कँवल निवासिया, चहुं काँ फेरि मिलाई रे ।
 दहूँ के बीचि समाधियों, तहाँ काल न पासै आइ रे ॥
 अष्ट कँवल दल भीतरा, तहाँ श्रीरंग केलि कराइ रे ।

सतगुरु मिलै तो पाइये, नहिँ तौं जन्म अक्यारथ जाइ रे ॥
 कदली कुसुम दल भीतराँ, तहाँ दस आंगुल का बीच रे।
 तहाँ दुवादस खोजि ले जनम होत नहीं मीच रे ॥
 बंक नालि के अंतरै, पछिम दिसाँ की बाट रे ।
 नीझर झरे रस पीजिये, तहाँ भँवर गुफा के घाट रे ॥
 त्रिवेणी मनाइ न्हावाइए सुरति मिलै जौ हाथि रे।
 तहाँ न फिरि मध जोइए सनकादिक मिलि है साथि रे ॥
 गगन गरजि मध जोइसे, तहाँ दीसैं तार उनंत रे।
 बिजुरी चमकि घन बरषि है, तहाँ भजित है सब संत रे ॥
 षोडस कँवल जब चेतिया, तब मिलि गये श्री बनवारी रे ।
 जुरामरणा भ्रम भाजिया, पुनरपि जनम निवारि रे ॥
 गुर गमि तैं पाइए झंषि मरे जिनि कोइ रे ।
 तहीं कबीरा रमि रह्या सहज समाधी सोइ रे ॥४॥

शब्दार्थ :

बिटुला = भगवान विष्णु, बिटुला । माँनियाँ = मान, आसक्त। भावै = अच्छा लगता है। षट दल कँवल = छह दलों वाला कमल, यहाँ पर स्वाधिष्ठान चक्र से तात्पर्य है। दहूँ = दो दलों वाला कमल अर्थात् आज्ञा चक्र। काल = म त्त्यु । अष्टकँवल = आठ कमल, यहाँ पर मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, सहस्रदल, सुरति चक्रों से अभिप्राय है। केलिः = क्रीडा। अक्यारथ = व्यर्थ। दुवादस = बारह दल वाला कमल, अनाहत चक्र। मीच = म त्त्यु । अन्तरै = भीतर, अन्दर। त्रिवेणी = इडा, पिंगला व सुषुम्ना का संगम स्थल, त्रिकुटी। दिसैं = दिखाई देते हैं। षोडस कँवल = सोलह दल वाला कमल, विशुद्ध चक्र। जुरामरण = व द्वावस्था व मरण । निवारि = मुक्ति। झंषि मरे = अत्यधिक प्रयत्न करना।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीरदास जी द्वारा रचित है। इस पद में कबीरदास जी ने नाथ पंथी साधना के अनुरूप योग का वर्णन करते हुए परमतत्त्व की प्राप्ति का मार्ग दर्शाया है।

व्याख्या :

कबीर दास जी कहते हैं कि हे मेरे मनमोहन विष्णु (प्रभु विटुल)। मेरा यह मन तो केवल आप में ही अनुरक्त है। मेरे मन ने आपके कमल के समान सुन्दर चरणों को ही अपना सब कुछ मान लिया है और उसे अब आपके अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। हे प्रभु । आप बारह दल वाले कमल अर्थात् स्वाधिष्ठान में निवास करते हैं और चारों ओर भागने वाले मेरे चंचल मन को अपनी ओर फेर कर अपने में मिला लिया है। अब मेरा मन दो दलों वाले कमल अर्थात् आज्ञाचक्र में स्थापित हो गया है जहाँ पर म त्त्यु भी उसके समीप नहीं पहुँचती है। हे प्रभु। आप आठों कमलों अर्थात् मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर आदि चक्रों के मध्य क्रीडा करते हैं। आपके इस रूप की प्राप्ति केवल सद्गुरु के मार्गदर्शन से ही सम्भव है अन्यथा यह जन्म और जीवन दोनों ही व्यर्थ चले जाते।

कदली कुसुम के अन्दर जहाँ पर ह दय कमल है वहाँ दस अंगुल का स्थान है और उसी स्थान पर मनुष्य को बारह दल वाले कमल अर्थात् अनाहत चक्र को खोज लेना चाहिए। उस स्थान पर जन्म और म त्त्यु की पुनरावृत्ति नहीं होती है। मेरुदण्ड अर्थात् बंकनाल के भीतर पश्चिम दिशा में सुषुम्ना नाड़ी का रास्ता है और वहाँ पर शून्य गुफा (ब्रह्मरन्ध्र) से निरंतर झरते हुए

अम त रस को पीना चाहिए।

इड़ा, पिंगला व सुषुम्ना के संगम स्थल अर्थात् त्रिकुटी को ही त्रिवेणी मानकर उसके सुरति या स्मरण रूपी जल में मन को स्नान कराना चाहिए। वहाँ पहुँच कर संसार की ओर देखकर किसी की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि वहाँ पर सनक, सनंद आदि ऋषियों का साथ मिल जाता है। गगन की गर्जना अर्थात् अनाहत नाद को सुनकर ऊपर की ओर देखना चाहिए वहाँ पर अनंत तारे दिखाई पड़ेंगे। वहाँ पर उस गगन में ज्योतिर्मय परमात्मा की कान्ति रूपी बिजली चमकती है और अम त वर्षा में सभी संतादि भीगते हुए आनंद प्राप्त करते हैं।

सोलह दल वाले कमल अर्थात् विशुद्ध चक्र की प्राप्ति पर मन को प्रभु का साक्षात्कार अर्थात् दर्शन होते हैं। उनके दर्शन होते ही व द्वावस्था, म त्तु आदि का भ्रम भाग गया और इस प्रकार पुनर्जन्म या बार-बार जन्म लेने के चक्र से मुक्ति मिल गई कोई व्यक्ति इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए भले ही अथक परिश्रम करता हुआ मर जाए परन्तु जब तक सदगुरु की कृपा नहीं होती है, तब तक साधक उस अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। कबीर दास जी कहते हैं कि मेरा मन इस सहज समाधि में उस प्रमात्मा को प्राप्त कर अब वहीं पर रम गया है अर्थात् लीन हो गया है।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास जी ने नाथ पंथी योग-साधना को आधार बना कर उस परम तत्त्व की प्राप्ति का मार्ग बताया है।
- (2) भगवान विष्णु (बीतुला), सनकादि ऋषियों का उल्लेख होने के कारण कबीरदास जी पर वैष्णव मत का प्रभाव देखा जा सकता है।
- (3) नाथपंथी योग साधना के अनुरूप शब्दावली की भरमार है।
- (4) पद अनुप्रास अलंकार यथा - मन माँनियाँ, 'केलि कराइ', 'कदली कुसुम', 'गगन गरजि' 'गुर-गमि'-आदि से युक्त है।
- (5) सधुक्कड़ी भाषा में पद की रचना हुई है।

(5)

गोकल नाइक बीतुला, मेरीं मन लागौ तोहि रे ।
 बहुमक दिन बिछुरै भये, तेरी औसेरि आवैं मोहि रे॥ टेक॥
 करम कोटि कौं ग्रेह रच्यों रे, नेह कये की आस रे।
 आपहिं आप बैधाइया, द्वै लोचन मरति पियास रे॥
 आपा पर संमि चीन्हिये, दीसैं सरब सँमान।
 इहि पद नरहरि भेटिये, तूँ छाड़ि कपट अभिमाँन रे॥
 नाँ कलहूँ चलि जाइये नाँ सिर लीजैं भार।
 रसनाँ रसहि बिचारिये, सारंग श्रीरंग धार रे॥
 सार्धैं सिधि ऐसी पाइये, किंबा होइ महोइ।
 जे दिठ ग्याँन न उपजैं, तो अहुटि रहै। जिनि कोई रे॥
 एक जुगति एकैं मिलैं किंबा जोग कि भोग।
 इन दून्युँ फल पाइये, सौंम नाम सिधि जोग रे।
 प्रेम भगति ऐसी कीजिये, मुखि अंम त बरिषै चंद रे ।

आपही आप बिचारिये, तब केता होइ अनंद रे ॥
 तुम्ह जिनि जानौं गीत है, यहू निज ब्रह्म बिचार ।
 केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे ॥
 चरन केवल चित लाइये, राँम नाँम गुन गाइ ।
 कहै कबीर संसा नहीं, भगति मुकति गति पाइ रे ॥५॥

शब्दार्थ :

गोकल नायक = गोकुल के नायक । बिटुला = श्रीक षण, भगवान विष्णु, विट्ठल। औसेरि = स्मरण, याद, स्म ति। कोटि = करोड़। ग्रेह = घर। नेह = प्रेम । है = दोनो । लोचन = नेत्र । समि = समान रूप से । रसना = जीभ । सारंग श्रीरंग = सारंग पाणि विष्णु । दि० = द ष्टि । अहुति = आहत । जुगति = युक्ति। केता = कितना । संसा = संशय ।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीरदास द्वारा रचित है। इस पद में कबीरदास जी ने योग साधना, की विविध प्रक्रियाओं का उल्लेख करते हुए परमात्मा से प्राप्ति का मार्ग बताया है।

व्याख्या :

कबीरदास जी कहते हैं कि हे गोकुल के नायक श्रीक षण । मेरा मन तो केवल आप में ही आसक्त हो गया है। मुझे आपसे बिछुड़े हुए बहुत दिन बीत चुके हैं और इसीलिए अब मुझे आपकी बहुत याद आती है। मैंने इस संसार में प्रेम को प्राप्त करने की आशा में मैंने करोड़ों प्रकार के कर्म करके अपने लिए घर को रचाकर अर्थात् घर को बसा कर स्वयं को अपने आप से बाँध लिया है अर्थात् मैं केवल स्वार्थ-सिद्धि के बारे में सोचता हूँ। अब मेरी ये दोनों आँखें आपके दर्शन की प्यास लिए हुए मर रही हैं।

कबीरदास जी मनुष्यों का सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे मनुष्य ! तू अपने और पराए को समान समझ और सभी को समानता की दृष्टि से देख। यदि तू अपना कपट और अभिमान को त्याग कर सबके साथ समान व्यवहार करेगा तो तभी तुझे परमात्मा के दर्शन होंगे। उस परमात्मा को प्राप्त करने के लिए न तो तुझे कहीं जाने अर्थात् तीर्थ-यात्रा की जरूरत है और न ही तुझे अपने सिर पर भार धारण करने अर्थात् शास्त्रों के ज्ञान का भार को ढोने की जरूरत है। तू अपनी जीभ से इस प्रेम-रस का रसपान करके सारंगपाणि विष्णु का ध्यान कर। अर्थात् ब्रह्म का आस्वादन कर। और कुछ हो या न हो साधना की सिद्धि से ही यह दशा प्राप्त होती है। जिस दृष्टि से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता उससे मनुष्य आहत ही रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान से ही मनुष्य के लोभ, मोह, आदि शोकों का निवारण होता है।

कबीरदास जी कहते हैं कि एक युक्ति से केवल या तो भोग मिल सकता है या केवल योग मिल सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस संसार में भोग या योग दोनों में से किसी एक को प्राप्त किया जा सकता है परन्तु राम नाम की सिद्धि से इन दोनों ही फलों की प्राप्ति हो सकती है। साधक को प्रेम रूपी भक्ति इस प्रकार करनी चाहिए कि मुख रूपी चन्द्रमा से अमृत की वर्षा हो। यदि मनुष्य अपने में ही परमात्मा का होना मान ले तो उसे कितना अर्थात् अगाध आनंद की प्राप्ति होगी।

कबीरदास जी मनुष्य से कहते हैं कि जिस पद को गीत मान रहे हो, यह तो मेरा अपना ब्रह्म सम्बंधी विचार है और मैंने तो केवल आत्म-साधना के सार को इस पद में कहकर या गाकर समझाया है। इसीलिए तुम राम नाम क स्मरण करते हुए प्रभु के चरण कमल में अपना मन लगा दो। कबीरदास जी कहते हैं कि जो मनुष्य ऐसा करता है उसे भक्ति व मुक्ति की प्राप्ति होने में कोई संशय नहीं रह जाता है।

विशेष :

(1) इस पद में कबीरदास जी ने योग-साधना के साथ-साथ प्रेम-भक्ति पर भी बल दिया है।

- (2) 'तुम्ह जिनि ----- विचार' से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अपनी काव्य-रचना को लोक-कल्याण के हेतु मानते थे।
- (3) पद में अनुप्रास अलंकार यथा - 'करम कोटि', 'सरब सँमान' 'रसना रसहिं', 'जिनि-जानौं' आदि का प्राधान्य है।
- (4) सधुवकड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है।

(6)

अब मैं पाइबौ रे पाइबो ब्रह्म गियान,
 सहज समार्धे सुख में रहिबौ, कोटि कल्प विश्राम ।।टेक।।
 गुर क पाल क पा जब कीन्हीं, हिरदै कँवल बिगासा ।
 भागा भ्रम दसौं दिस सुझ्या, परम जोति प्रकासा ।।
 म तक उठया धनक कर लीये, काल अहेड़ी भागा ।
 उदय सूर निस किया पर्यौनों, सावत थैं जब जागा ।।
 अविगत अकल अनूपम देख्या, कहतौं कह्या न जाई ।
 सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगें जाँनि मिठाई ।।
 पहुप बिनाँ एक तरवर फलिया, बिन कर तूर बजाया।
 नारी बिना नीर घट भरिया, सहज रूप सो पाया ।।
 देखत काँच भया तन कंचन, बिना बानी मन माँनाँ ।
 उडया बिहंगम खोज न पाया, ज्यूँ जल जलहि समौनाँ ।।
 पूज्या देव बहुरि नहीं पूजौं, न्हाये उदिक न नाँउं ।
 भागा भ्रम ये कहीं कहताँ, आये बहुरि न आँउं ।।
 आपै मैं तब आया निरष्या, अपन पै आपा सूझ्या ।
 आपै कहत सुनत पुनि अपनौं, अपन पै आपा बूझ्या ।।
 अपनैँ परचे लागी तारी, अपन पै आप समौनाँ ।
 कहै कबीर जे आप बिचारे, मिटि गया आवन जाँनाँ ।।6।।

शब्दार्थ :

पाइबो = मिलेगा । कोटि कल्प = करोड़ों कल्प (एक अवधि) तक । बिगासा = विकास हुआ । दसयों दिस = दसों दिशाएँ । म तक = मरा हुआ, यहाँ पर अज्ञान रूपी अंधकार में सुप्तावस्था से अभिप्राय है। अहेड़ी = बधिक, शिकारी । सूर = सूर्य । निस = निशा, रात्रि । पर्यौनाँ = प्रयाण करना। पहुप = पुष्प, फूल। कर = हाथ । नारी = परिहारिन। घर = घड़ा। बिहंगम = पक्षी। उदिक = जलाशय। नाँउं = नहाऊँगा। निरष्या = देखा।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कबीर दास जी द्वारा रचित है। इस पद में कबीरदास जी ने परमात्मा के दर्शन करने व उन दर्शनों से प्राप्त होने वाले अलौकिक आनंद का वर्णन किया है।

व्याख्या :

कबीरदास जी कहते हैं कि अब मुझे शीघ्र ही ब्रह्म ज्ञान प्राप्त हो जाएगा। अर्थात् मुझे परमात्मा से साक्षात्कार करने का अवसर मिलेगा और फिर मैं उसी सहज समाधि के सुख में लीन रहूँगा और फिर करोड़ों कल्प तक विश्राम करूँगा अर्थात् संसार के आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाऊँगा।

मेरे दयालु सदगुरु ने जब मुझ पर दया करके योग-साधना का मार्ग दर्शाया तब मेरे हृदय में कमल का विकास हुआ। इससे मेरा सांसारिक बन्धनों का सारा भ्रम नष्ट हो गया और मुझे दसों दिशाओं का ज्ञान मिला अर्थात् सच्चे ज्ञान की प्राप्ति हो गई और मेरे हृदय में परमात्मा की ज्योति से प्रकाश फैल गया। अज्ञान रूपी अंधकार में सोये हुए मेरे मन ने जब इस प्रकाश में जागकर भक्ति रूपी धनुष को हाथ में धारण किया तो काल रूपी शिकारी वहाँ से भाग गया अर्थात् मैं मृत्यु का शिकार होने से बच गया।

जब ज्ञान रूपी सूर्य का उदय हुआ तो रात्रि ने प्रयाण किया और इस प्रकार मैं सांसारिक मोह-माया रूपी निद्रा को त्याग कर खड़ा हो गया अर्थात् प्रभु की भक्ति में लीन हो गया। मैंने उस अविगत, अकल, अनुपम परमात्मा को देखा जिसके बारे में मैं कुछ भी बताने में असमर्थ हूँ। परमात्मा के दर्शन करने के उपरांत मेरी दशा उस गूँगे के समान हो गई है जो गुड़ की मिठास का आनंद तो ले सकता है परन्तु उसका वर्णन नहीं कर सकता।

उस परमात्मा से साक्षात्कार करते समय ऐसा लगा मानो बिना फूल के ही वक्ष पर फल लग गए हैं, हाथों में पकड़े बिना ही तुरही बज रही है, पनिहारिन के बिना ही घड़े में पानी भर गया है। इस प्रकार सहज में ही मैंने उस परम तत्व के रूप को पा लिया। उस परम तत्व के दर्शन करते ही मेरा शरीर जो काँच से बना हुआ था अब सोने का बन गया और बिना कुछ माँगे ही मुहमाँगी वस्तु प्राप्त हो गई। आत्मा रूपी पक्षी उस विराट तत्व की ओर उड़ गया और उसे खोजने पर भी ढूँढा न जा सका अर्थात् आत्मा और परमात्मा का वैसे ही मिलन हो गया जैसे जल की बूँद अथाह जल में विलीन हो जाती है। फिर उसे दुबारा खोजा नहीं जा सकता।

कबीरदास जी कहते हैं कि अब तक मैं जिन पूजनीय देवी-देताओं की पूजा करता था, अब उनकी अराधना मैं नहीं करूँगा और न ही नहाने वाले जलाशय अर्थात् पवित्र तीर्थ स्थल पर जाकर स्नान करूँगा। ऐसी बातें कहते ही मेरे धर्माधता, पाखंड आदि सम्बंधी सारे भ्रम समाप्त हो गए और इस प्रकार सच्चे ज्ञान की प्राप्ति से मुझे यहाँ संसार में बार-बार आना न पड़ेगा।

जबसे मैंने अपने अन्दर ही परमात्मा का देखा है तब से मैंने स्वयं को परमात्मा का एक अंश मान लिया है और आत्मा में परमात्मा का होना स्वीकार कर लिया है। आत्मा का कथन ही परमात्मा का कथन मान लिया है और इस प्रकार मैंने अपने आप को समझ लिया है जिस व्यक्ति ने आत्म तत्वों को पहचान लिया है वह इस संसार में आवागमन के चक्कर से मुक्त हो गया है।

विशेष :

- (1) कबीरदास जी ने आत्मा को परमात्मा का एक अंश मानकर अपने आत्म तत्व को पहचानने का आग्रह इस पद में किया है।
- (2) 'पहुप बिना ----- घट भरिया' में विभावना अलंकार है।
- (3) अनेक परम्परागत प्रतीकों यथा 'बिहंगम' का प्रयोग हुआ है।
- (4) सम्पूर्ण पद में अनुप्रास अलंकार की छटा विद्यमान है।
- (5) सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है।
- (6) 'अविगत ---- मिठाई' पंक्तियों के भाव-साम्य के लिए सूरदास की पंक्तियाँ यहाँ पर प्रस्तुत हैं-
अविगत गति मधु कहत न आवै
ज्यों गूँगे मीठेफल को रस अंतरंगत ही भावै ।

(7) कबीरदास जी ने परमात्मा से मिलन के लिए गुरु की क पा को अनिवार्य माना है।

(7)

नरहरि सहजें ही जिनि जाँना ।
 गत फल फूल तत तर पलव, अंकूर बीज नसाँनां ॥टेक॥
 प्रकट प्रकास ग्याँन गुरगमि थैं, ब्रह्म अगनि प्रजारी।
 ससि हरि सूरदूर दूरंतर, लागी जोग जुग तारी ॥
 अलटे पवन चक्र षट वेघा, मेर डंड सरपूरा।
 गगन गरजि मन सुंनि समाँनां, बाजे अनहद तूरा ॥
 सुमति सरीर कबीर बिचारी, त्रिकुटि संगम स्वामी ।
 पद आनंद काल थैं छूटै, सुख मैं सुरति समाँनी ॥७॥

शब्दार्थ :

नरहरि = प्रभु, न सिंह अवतार। पलव = पल्लव। नसाँना = नष्ट हो जाते हैं। गुरगामथें = गुरु के उपदेश से। प्रजारी = प्रज्ज्वलित कर दी। ससि = चन्द्रमा (इड़ा)। सूर = सूर्य, (पिंगला)। तारी = ध्यान। चक्रषट = छहों चक्रों (मूलाधार, मणिपुर, स्वाधिष्ठान, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा) त्रिकुटी = आज्ञाचक्र। मेर-दण्ड = मेरुदण्ड।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कबीरदास जी द्वारा रचित है। इसमें कबीरदास जी मुण्डलिनी के जाग त होने व अलख ज्योति के दर्शन से उत्पन्न दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि -

व्याख्या :

उस प्रभु को केवल सहज-साधना के द्वारा ही जाना जा सकता है। उस साधना के द्वारा माया रूपी वक्ष के काम-वासना रूपी फल-फूल, मोह रूपी पल्लव, पुनर्जन्म रूपी अंकुर तथा मनोविकार रूपी बीज नष्ट हो जाते हैं। गुरु के उपदेश से ही मेरे शरीर में ब्रह्म रूपी अग्नि प्रज्ज्वलित हुई और मेरे हृदय में ज्ञान रूपी प्रकाश भर गया। चन्द्रमा (इड़ा) तथा सूर्य (पिंगला) जो दूर-दूर थे, अब योग व ध्यान से उनकी दूरी समाप्त हो गई है। इस प्रकार साधक की समाधि लग गई है। शरीर में विद्यमान पवन रूपी पाप की गति उलट गई है और मुण्डलिनी जाग त होकर मेरुदण्ड से होती हुई तथा मूलाधार, मणिपुर आदि छहों चक्रों को बँधती हुई सहस्रार तक पहुँच गई है। शून्य-चक्र में पहुँचकर मन को गगन की गर्जना समान रूप से सुनाई दे रही है तथा वहाँ पर अनहद नाद का तूरा बज रहा है।

कबीरदास जी विचार करके कहते हैं कि यह शरीर सुमति अर्थात् सदबुद्धि से युक्त है और आज्ञाचक्र अर्थात् त्रिकुटी (जहाँ पर इड़ा व सुषुम्ना मिलती हैं) के संगम पर परमात्मा का आत्मा से मिलन हो गया है। जो साधक इस परम पद को प्राप्त कर लेता है वह मृत्यु के बंधन से मुक्त हो जाता है सुख रूपी स्मृति में रम जाता है।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीरदास जी ने हठ-योग साधना के माध्यम से परमात्मा व आत्मा के मिलन का मार्ग दर्शाया है।
- (2) कबीर दास जी ने सिद्धों व नाथों द्वारा प्रयुक्त परम्परागत प्रतीकों का प्रयोग किया है।
- (3) 'जोग-जुग', 'तत तर', 'फल-फूल', 'गगन गरजि', 'सुमति सरीर' आदि में अनुप्रास अलंकार का प्रयोग दर्शनीय है।

(4) पद की रचना सधुक्कड़ी भाषा में हुई है।

(8)

मन रे मन ही उलटि समाना।
 गुर प्रसादि अकलि भई तोकों नहीं तर था बेगानां ।।टेक।।
 नेडै थैं दरि दूर थैं नियरा, जिनि जैसा करि जाना ।
 औ लौ ठीका चढ़या बलीडैं, जिनि पीया तिनि माना ।।
 उलटे पवन चक्र षट बेघा, सुनि सुरति लै लागी ।
 अमर न मरै मरै नहीं जीवे, ताहि खोजि बैरागी ।।
 अनमें कथा कवन सो कहिये, हे कोई चतुर बिबेकी।
 कहै कबीर गुर दिया पलीता, सौ झल बिरलै देखी ।।8।।

शब्दार्थ :

अकलि = ज्ञान, बुद्धि। बेगानां = पराया। नेडै = निकट। नियरा = निकट। बलीडैं = मुंडेर। बिबेकी = विवेकी। पलीता = आग लगाई जानी बत्ती। झल = लपट, ज्वाला।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीरदास जी द्वारा रचित है। इस पद में उन्होंने सद्गुरु के उपदेश से ही योग-साधना के द्वारा प्रभु के दर्शन किए जा सकते हैं।

व्याख्या :

कबीरदास जी कहते हैं कि मेरा मन उलटकर अपने में ही लीन हो गया। कहने का तात्पर्य यह है कि साधक का मन जो पहले काम-वासना में भटका करता था अब अपने अन्दर ही परमात्मा के दर्शन करने के लिए प्रयास करने लगा। गुरु की क पा रूपी प्रसाद को प्राप्त करके ही मुझे ज्ञान का लाभ हुआ अन्यथा मैं तो अपने से ही पराया था।

जिस वस्तु (मन) को मैं निकट मानता था वह दूरी पर होती थी और जिसे (परमात्मा को) मैं मानता था वह निकट थी। अब मुझे पता चला है कि जिसने परमात्मा को जिस रूप में जाना, उसी रूप में उसे प्राप्त किया। कहने का तात्पर्य यह है कि परमात्मा को दूर-दराज के तीर्थ-स्थलों, मंदिरों में खोजने वालों से परमात्मा दूर हो जाता है और मन में झाँक कर देखने वाले को परमात्मा घर व अपने शरीर में दिखाई दे जाते हैं। जिस व्यक्ति ने अपनी मनोवृत्तियों को अध्वोन्मुखी करके (मुंडेर के पानी को ऊपर चढ़ाकर) उस प्रेम रूपी जल को पिया है उसी ने उस रस को माना है। कुण्डलिनी जाग्रत होकर छह चक्रों को बंधती हुई शून्य रूपी सुरति में लीन हो गई।

कबीर दास जी कहते हैं कि हे बैरागी ! तुम उस तत्व की खोज करो जिसको प्राप्त करने के बाद व्यक्ति अमर होने पर मरता नहीं है और इसी प्रकार वह मर कर जीवित भी नहीं होता अर्थात् वह आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है। इस अपूर्व कथा को अब किससे कहा जाए, क्या कोई ऐसा चतुर व विवेकी व्यक्ति है जो इस कथा को समझ सके। कबीर दास कहते हैं कि गुरु ने अब मेरे मन में ज्ञान का पलीता लगा दिया है और उसकी ज्वाला को कोई विरला व्यक्ति ही देख सकता है।

विशेष :

(1) इस पद में कबीर दास जी ने गुरु-क पा के महत्त्व को स्वीकारते हुए उसके द्वारा दिए गए ज्ञान-प्रकाश का उपयोग

विरले व्यक्ति द्वारा ही किए जाने की बात पर बल दिया है।

- (2) पद में रूपक, दृष्टान्त व विशेषोक्ति अलंकार है।
- (3) सधुक्कड़ी भाषा में पद की रचना हुई है।

(9)

इति तत राम जपहु रे, प्रौनी, बुझी अकथ कहाणी ।
 हरि का भाव होइ जा ऊपरि जाग्रत रैनि बिहानी ।।टेक।।
 डाँइन डारै, सुनहाँ डोरै, स्यंघ रहै बन धेरै ।
 पंच कुटंब मिलि झुझन लागे, बाजत सबद संघेरे ॥
 राहै म ग ससा बन घेरे, पारधी बाँण न मेलै ।
 सायर जलै सकल बन दाझै, मंछ अहेरा खेलै ।।
 सोई पंडित सो तत ज्ञाता, जो इति पदहि बिचारै ।
 कहै कबीर सोइ गुर मेरा, आप तिरै मोहि तारै ॥१॥

शब्दार्थ :

तत = सार - तत्व। अकथ = जो कही न जा सके। रैनि = रात्रि। बिहानी = व्यतीत हो गई। डाँइन = माया रूपी डायन। सुनहाँ = मन रूपी श्वान। स्यंघ = अहंकार रूपी सिंह। पंच कुटंब = पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। रोहै = भागना। ससा = वासना रूपी खरगोश। म ग = त ष्णा रूपी हिरण। बन = जीवन। पारधी = जीवात्मा रूपी अहेरी, शिकारी। सायर = शरीर रूपी सागर। मंछ = मन रूपी मछली। अहेरा = शिकार करना।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कबीरदास जी द्वारा रचित है। इस पद में उन्होंने सांसारिक व शारीरिक बंधनों को प्रतीकात्मक ढंग से दर्शाकर गुरु की कृपा से भवसागर से पार उतरने का आह्वान किया है।

व्याख्या :

कबीर दास जी कहते हैं कि हे प्राणियो ! इस संसार का सार-तत्व राम ही है और तुम उसी सार-तत्व राम के नाम का जप करो। उस राम की अकथनीय कहानी को समझने का प्रयास करो। जिस व्यक्ति या साधक के हृदय में राम का स्मरण करना ही सर्वोपरि भाव है, वह साधक की रात जागते हुए व्यतीत होती है।

हे साधक ! माया रूपी डायन ने मन रूपी कुत्ते को फाँसने के लिए अनेक प्रकार के मनोविकार रूपी डोरे डाल दिए हैं। अहंकार रूपी सिंह ने जीवन रूपी बन को घेर लिया है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों रूपी परिवार ने आपस में झगड़ना आरम्भ कर दिया है तथा अब चारों ओर विषय रूपी शब्द बज रहे हैं। इन विषय रूपी शब्द को सुनकर त ष्णा रूपी म ग भागना चाहता है और वासना रूपी खरगोश ने जीवन रूपी बन को घेर रखा है। फिर भी साधक की जीवात्मा रूपी अहेरी इन पर अपने बाण का संधान नहीं कर रहा है। इस शरीर रूपी सागर में आग लग गई है और इससे जीवन रूपी वन भी जल गया है परन्तु शरीर रूपी सागर में रहने वाली मन रूपी मछली अभी भी शिकार कर रही है। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ सामान्य व्यक्ति सांसारिक विषय-वासना में लीन रहता है, वहीं साधक उससे अप्रभावित रहता है। इस पद पर भली-भाँति विचार करके अपना

दढ़ निश्चय धारण कर सकता है वही व्यक्ति इस संसार के सार-तत्व का सच्चा ज्ञाता है और वही पंडित है। कबीर दास जी कहते हैं कि इस संसार में तो वही साधक मेरा गुरु हो सकता है जो स्वयं इस भवसागर से पार उतर जाए और मुझे भी इससे पार उतार दे।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास जी मोह, विषय-वासना आदि को त्यागकर, सच्चे गुरु का सहारा पाकर राम-नाम के स्मरण से भवसागर से पार उतरने का संदेश दिया है।
- (2) समस्त पद में सांग रूपक अलंकार है।
- (3) इस पद की रचना प्रतीकात्मक शैली में की गई है तथा पारम्परिक प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।
- (4) 'सायर जलै' में विरोधाभास अलंकार है।
- (5) सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग है।

(10)

अवधू ग्यान लहरि धुनि माँडी रे।

सबद अतीत अनाहद राता, इहि बिधि त्रिष्णां षाँडी ॥टेक॥

बन कै ससै समंद पर कीया मंछा बसै पहाड़ी ।

सुई पीवै बाँहण मतवाला, फल लागा बिन बाड़ी ॥

षाड बुणै कोली में बैठी, मैं खूँटा मैं गाढ़ी ।

ताँणे वाणे पड़ी अनैवासी, सूत कहे बुणि गाढ़ी ॥

कहँ कबीर सुनहु रे संतो, अगम ग्यान पद माँही ।

गुरु प्रसाद सुई कै नाँकै, हस्ती आवै जाँही ॥10॥

शब्दार्थ :

अवधू = गोरखपंथी योगी को अवधूत कहा जाता है। राता = रमना। षाँडी = नष्ट कर दी। बन = जीवन रूपी वन। ससै = मन रूपी खरगोश। समंद = समुद्र यहाँ पर ब्रह्मनाड़ी से तात्पर्य है। मंछा = आत्मा रूपी मछली। पहाड़ी = शून्य शिखर रूपी पहाड़। षाड = कपड़ा। कोली = आत्मा रूपी बुनकर। ताँणे-बाँणे = ताना-बाना (कपड़ा बुनते समय दो ओर से पड़ने वाले धागे)। हस्ती = जीव रूपी हाथी।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीर दास जी द्वारा रचित है। इस पद में कबीर दास जी ने योग-साधना के प्रतीकों के माध्यम से ईश्वर प्राप्ति की ओर संकेत किया है।

व्याख्या :

कबीरदास जी कहते हैं कि हे अवधूत ! समाधि लगाने से अब ज्ञान रूपी लहरों की ध्वनि उठ रही है। इस समाधि अवस्था में अहनद नाद के आनंदप्रद शब्दों में उसका मन लीन हो गया है और उसने अपनी समस्त तष्णाएं नष्ट कर दी हैं। शरीर रूपी वन में सदा चंचल रहने वाला मन रूपी खरगोश अब ब्रह्मनाड़ी अर्थात् शून्य-समुद्र में लीन हो गया है तथा आत्मा रूपी मछली अब शून्य-शिखर रूपी पहाड़ी पर रहने लग गई है। ब्रह्म-साधना में लीन साधक अब सहसार से बहने वाले अमृत का पान करके मतवाला हो गया है और इस प्रकार बिना बगीचे के ही फल लग गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि बिना

किसी धर्माडम्बर, पाखंड के ब्रह्म की प्राप्ति हो गई है।

कबीरदास जी कहते हैं कि इस अवस्था में पहुँच कर साधक की आत्मा रूपी बुनकर स्वयं ही गाढ़ी है और स्वयं ही खूँटा है और उसके समक्ष परमात्मा रूपी ताना-बाना पड़ा हुआ है और वह आत्मा रूपी बुनकर ध्यान रूपी महीन कपड़ा बुन रहा है। कबीरदास जी कहते हैं कि हे संतो ! सुनो । उस अगम्य, परम पद को प्राप्त करने के लिए गुरु की क पा अत्यंत आवश्यक है क्योंकि गुरु की क पा से साधना रूपी सुई के सूक्ष्म छिद्र में से जीव रूपी हाथी आता-जाता रहता है।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास ने योग-साधना के परम्परागत प्रतीकों के माध्यम से ईश्वर की प्राप्ति के मार्ग का चित्रण किया है तथा इसके लिए गुरु क पा को अनिवार्य बताया है।
- (2) पद में रहस्यवाद की सृष्टि हुई है।
- (3) 'फल लागा बिन बाड़ी' में विभावना अलंकार तथा 'मंछा बसै पहाड़ी' में विरोधाभास अलंकार है।
- (4) योग साधना की प्रचलित शब्दावली से युक्त सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है।

(11)

एक अचंभा देख रे भाई,

ठाढ़ा सिंध चरावै गाई ॥ टेक ॥

पहलैं पूत पीछे भई माँई, चेला के गुरु लागै पाई ।

जल की मछली तरवर ब्याई, पकरि बिलाई मुरगै खाई॥

बैलहि डारि गूनि धरि आई, कुत्ता कूँ लै गई बिलाई।

तलिकरि साषा ऊपरिकरि मूल बहुतभाँति जड़ लागे फूल ।

कहैं कबीर या पद को बूझैं, ताँलू तीन्धूँ त्रिभुवन सूझै ॥११॥

शब्दार्थ :

अचंभा = आश्चर्य, कौतुहल भरा कार्य। ठाढ़ा = बलिष्ठ, शक्तिशाली। सिंध = सिंह (यहां पर जीव से अभिप्राय है) गाई = गाय (यहां पर इन्द्रियों से तात्पर्य है)। पूत = बेटा (साधक)। माँई = माता (साधना)। चेला = शिष्य (साधक)। गुरु = यहाँ पर शब्द से तात्पर्य है। मछली = यहाँ पर कुण्डलिनी से तात्पर्य है। तरवर = पेड़ पर (सुषुम्ना)। बिलाई = बिल्ली (बाह्य प्रवृत्ति)। मुरगै = मुर्गा (अन्तर्मुखी प्रवृत्ति)। बैलहि = बैल (अविवेक)। गूनि = अनाज की गठरी (चैतन्य)। कुत्ता = अज्ञानी से तात्पर्य है। बिलाई माया से तात्पर्य है। साषा = शाखाएँ (नाड़ीमण्डल)। मूल = जड़ (ब्रह्मान्ध)

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीरदास जी द्वारा रचित है। इस पद में कबीर दास जी उलटबासियों का प्रयोग करते हुए साधक द्वारा सहसार में ध्यान लगाने से उत्पन्न अवस्था का वर्णन किया है।

व्याख्या :

कबीर दास जी कहते हैं कि हे भाई ! मैंने आज तक एक कौतुहल भरा कार्य देखा। मैंने देखा कि एक बलिष्ठ सिंह गायों को चरा रहा है अर्थात् शक्तिशाली जीव अपनी इन्द्रियों के पराधीन है। मैंने देखा कि पहले तो पुत्र का जन्म हुआ उसके बाद माता का आविर्भाव हुआ अर्थात् पहले तो साधक का जन्म हुआ उसके बाद साधना की उत्पत्ति हुई। मैंने देखा कि गुरु ने चेले के पाँव पकड़ लिए अर्थात् अहनदनाद के शब्द ने साधक को पकड़ लिया है। मैंने देखा कि जल में रहने वाली मछली ने पेड़ पर चढ़ कर बच्चों को जन्म दिया है अर्थात् मूलाधार में सुप्तावस्था में रहने वाली कुण्डलिनी अब जाग्रत होकर

ब्रह्मान्ध्र में पहुँच कर ज्ञान उत्पन्न कर रही है। मैंने देखा कि मुर्गे ने बिल्ली को पकड़ कर खा लिया है अर्थात् अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों ने बाह्य प्रवृत्तियों को पकड़ कर अपने प्रभाव में ले लिया है। मैंने देखा कि अनाज की गठरी बैल को घर छोड़कर आ गई है। अर्थात् चैतन्य ने अविवेक को त्याग दिया है। मैंने देखा कि बिल्ली कुत्ते को पकड़ कर ले गई अर्थात् माया ने अज्ञानी व्यक्तियों को पकड़ लिया है। मैंने देखा कि एक वृक्ष की जड़ें ऊपर की ओर हैं और उसकी शाखाएँ नीचे की ओर हैं तथा उसकी ऊपर की ओर हुई जड़ों में अनेक प्रकार के फल लगे हुए हैं अर्थात् मूल चेतना ब्रह्मान्ध्र ऊपर की ओर है जबकि उसकी नाड़ी-मण्डल नीचे की ओर है तथा साधना के सिद्ध होने पर इस मूल में आनंद, ज्ञान आदि अनेक प्रकार के फूल लगते हैं। कबीर दास जी कहते हैं कि जो व्यक्ति इस पद को समझ सकता है उसे तीनों भवनों का ज्ञान प्राप्त हो जाएगा।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीरदास जी ने कौतुहल की दृष्टि से योग-साधना के द्वारा ईश्वर प्राप्ति के पश्चात् की दशा का वर्णन किया है।
- (2) प्रस्तुत पद में उलटबाँसियों का प्रयोग हुआ है।
- (3) 'तीन्हीं त्रिभुवन' में पुनरुक्ति दोष है।
- (4) सधुक्कड़ी भाषा में पद की रचना हुई है।

(12)

हरि के षारे बड़े पकाये, जिनिं जारे तिनि पाये।

गयाँन अचेत फिरें नर लोई, ता जनमि जनमि डहकाए ।।टेक।।

धौल मंदलिया बैल रबाबी, कऊवा ताल बजावै।

पहरिं चोलना गादह नाचै, भैसां निरति कहावै ।।

स्यंध बैठा पान कतरै, धूस गिलौरा लावै।

उंदरी बपुरी मंगल गावै, कछु एक आनंद सुनावै।।

कहै कबीर सुनहुं रे संतौ, गडरी परबत खावा।

चकवा बैसि अंगारे नगले, समंद आकासा धावा ।।12।।

शब्दार्थ :

षारे = एक प्रकार की मिठाई। जारे = जलाया । डह काए = धोखा खाते हैं। रबाबी = एक प्रकार का वाद्ययंत्र। गादह = गधा (जीव)। चोलना = वस्त्र (काम, विषय-वासना)। निरति = न त्य। स्यंध = सिंह (जीव)। पान = अज्ञान रूपी पान का पत्ता। धूस = बड़ा चूहा (मन)। गिलौरा = अज्ञानता व तृष्णा रूपी पान का बीड़ा। उंदरी = चुहिया (रागवृत्ति)। बपुरी = बेचारी। गडरी = भेड़ (माया)। परबत = पहाड़ (ज्ञान)। चकवा = मन । अंगारे = आसक्तियाँ। समंद = समुद्र (अज्ञान)। आकासा = आकाश (ज्ञान)।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीर दास जी द्वारा रचित है। इस पद में उन्होंने उलटबाँसियों के द्वारा सांसारिक व शारीरिक प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया है। जो मनुष्य के ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में बाधक बनती है।

व्याख्या :

कबीर दास जी कहते हैं कि हरि-दर्शन रूपी षारे अथवा मिठाई बड़ी यत्न करके ही पकाई जा सकती है। जिस साधक ने अपने मन में साधना रूपी भट्टी जला ली है उसी ने इस मिठाई को पकाने में सफलता पाई है। परन्तु जो व्यक्ति

अपनी अज्ञान के कारण इधर-उधर फिरते हैं वे अपने आपको धोखा देते रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर प्राप्ति के लिए तीर्थ-यात्रा आवश्यक नहीं है। साधना के बल पर भी ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है।

कबीर दास जी ईश्वर प्राप्ति में बाधक तत्वों की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि मोह रूपी धवल ने तो मर्दल बजाना आरम्भ कर दिया तथा लोभ रूपी बैल ने रबाब बजारा शुरू कर दिया है। उनके इस सुर के साथ क्रोध रूपी कौवा ताल बजा रहा है। जीव रूपी गधे ने तष्णा के वस्त्र पहन कर इस सुर-ताल पर नाचना आरम्भ कर दिया है। उसके साथ काम रूपी भैंसे ने भी न त्य करना आरम्भ कर दिया है। जीव रूपी सिंह बैठा हुआ अज्ञान रूपी पान के पत्ते को चबा रहा है जबकि मन रूपी बड़ा चूहा अज्ञानता के बीड़े उसे बना कर दे रहा है। रागवृत्ति रूपी चुहिया बेचारी बैठी हुई मंगल गीत गा रही है और अहंकार रूपी कछुआ यह सब सुनकर आनंद मग्न हो रहा है। कबीर दास जी कहते हैं कि हे संतो ! अब माया रूपी भेड़ ज्ञान रूपी पर्वन को खा जाना चाहती है। मन रूपी चकवा बैठकर सांसारिक आसक्तियों रूपी अंगारों को निगल रहा है और अज्ञानता का समुद्र ज्ञान के आकाश पर छा जाना चाहता है।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास जी ने कौतुहल की सृष्टि करके सांसारिक बंधनों की ओर संकेत किया है।
- (2) उलटबासियों का प्रयोग हुआ है।
- (3) सम्पूर्ण पद में सांगरूपक अलंकार है।
- (4) पद में सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है।

(13)

चरखा जिनि जरे ।

कर्तौंगी हजरी का सूत, नणद के भइया की सौं ।।टेक।।

जलि जाई थलि ऊपजी, आई नगर में आप।

एक अचंभा देखिया, बिटिया जायों बाप ।।

बाबल मेरा ब्याह करि, बर उत्पम ले चाहि।

जब लागि बर पावै नहीं, तब लग तू ही ब्याहि।।

सुबधी के घरि लुबधी आयौ, आन बहू कै भाइ।

चूल्हे अगनि बताइकरि, फल सौ दीयौ ठठाइ।।

सब जगही मर जाइयों, एक बडइया जिनि मरे।

सब राँडनि कौ साथ चरषा को धरें।।

कहै कबीर सो पंडित ग्याता जो या पदहि विचारै।

पहलें परच गुर मिले तो पीछें सतगुर तारे ।।13।।

शब्दार्थ :

चरखा = जीवन-चक्र। कर्तौंगी = कातूंगी। हजरी = उत्तम कर्म रूपी महीन कपड़ा। जलि जाई = जल में जन्म लेकर। थलि उपजि = थल अर्थात् धरती पर उत्पन्न होकर। बिटिया = बेटी (यहाँ पर माया से तात्पर्य है)। बाप = पिता अर्थात् साधक। बाबल = पिता। सुबधी = सदबुद्धि (आत्मा)। लुबधी = लोभी (माया)। बडइया = बड़ई (ईश्वर)। राँडनि = राँड (प्रवृत्तियाँ)।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीरदास जी द्वारा रचित है। इस पद में कबीर दास जी ने ईश्वर की साधना में निरंतर लीन रहने की कामना को अभिव्यक्त किया है।

व्याख्या :

कबीर दास जी कहते हैं कि यह तन रूपी चरखा जो मैंने प्राप्त किया है, वह कभी भी नष्ट न हो। परमात्मा की सौगंध है कि मुझे अपने प्रियतम अर्थात् मैं इस चरखे से उत्तम कर्म रूपी महीन कपड़े के लिए सूत कातूँगी। कहने का तात्पर्य है कि साधक को साधना की सूक्ष्म व त्तियों की ओर ध्यान रखना चाहिए। जल में जन्म लेकर तथा थल में उत्पन्न होकर मेरे प्रियतम अपने आप इस शरीर रूपी नगर में आ गए हैं। अर्थात् मैंने अपने ही अन्दर परमात्मा को पा लिया है। कबीर दास जी कहते हैं कि मैंने एक ऐसा कौतुहल भरा कार्य देखा कि बेटी ने अपने पिता को जन्म दिया है अर्थात् माया ने साधक को उत्पन्न किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य का जन्म माया के प्रभाव से होता है। परन्तु बाद में वह योग साधना के बल पर नियंत्रण कर लेता है। मेरा पिता रूपी गुरु किसी कुलीन व उत्तम वर के साथ मेरा विवाह करना चाहता है परन्तु हे प्रियतम परमात्मा ! जब तक उसे उत्तम वर नहीं मिलता तब तक तू ही मेरे साथ विवाह कर ले। सदबुद्धि के घर लोभी आया है। अर्थात् आत्मा पर माया अपना प्रभाव डालने के लिए आई है। वह लोभी दूसरों की बहुओं को बुरी दृष्टि से देखता है अर्थात् माया आत्मा पर दुष्प्रभाव डालना चाहती है। आत्मा ने हृदय रूपी चूल्हे में सारी वासनाओं को जला दिया है और अब वह चतुर्दिक फल प्राप्त करके हँस रही है।

कबीर दास जी कहते हैं कि भले ही इस संसार में सभी लोग मर जाएँ परन्तु एक बढ़ई अर्थात् परमात्मा नहीं करना चाहिए जिसने जीवन रूपी चरखा बनाया है। इस संसार में चारों ओर कुप्रवृत्तियों रूपी राँडो अर्थात् विधवाओं का आधिक्य और साथ है, अतः अब कौन व्यक्ति सुन्दर व महीन कपड़ा बनाने के लिए इस जीवन रूपी चरखे को धारण करेगा। कबीर दास जी कहते हैं कि जो भी व्यक्ति इस पद के मर्म को समझ सकता है वही व्यक्ति सच्चा पंडित व ज्ञानी है। यदि मनुष्य के आचरण, व्यवहार आदि का परिचय पहले गुरु को मिल जाता है तभी वह सद्गुरु बनकर मनुष्य को इस भवसागर से पार उतार सकता है।

विशेष :

- (1) कबीर दास जी ने परमात्मा को 'ननद का भइया' कहकर उसके प्रति उसकी माधुर्य भाव की भक्ति को दर्शाया है।
- (2) जो व्यक्ति प्रभु के स्मरण से दूर रहकर कुप्रवृत्तियों में लीन रहता है, उन्हें कबीरदास जी ने राँड माना है।
- (3) "एक अचंभा ---- बाप" में उलटबाँसी का प्रयोग हुआ है।
- (4) सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है।

(14)

अब मोहि ले चलि नणद के बीर, अपने देसा।

इन पंचनि मिलि लूटी हूँ, कुसंग आहि बदेसा ॥टेक॥

गंग तीर मोरी खेती बारी, जमुन तीर खरिहानाँ ।

साताँ बिरही मेरे नीपजे, पंचू मोर किसानाँ ॥

कहै कबीर यह अकथ कथा है कहताँ कही न जाई ।

सहज भाई जिहि ऊपजै, ते रमि रहे समाई ॥14॥

शब्दार्थ :

नणद के बीर = प्रियतम, यहाँ पर परमात्मा से तात्पर्य है। देसा = देश। पंचनि = पंचतत्व। यहाँ पर पाँचों इन्द्रियों से तात्पर्य है। कुसंग = कुसंगति अर्थात् बुरी संगति। गंग = गंगा अर्थात् इड़ा। जमुन = जमुना अर्थात् पिंगला। खरिहाना = खलिहान। नीपजै = उत्पन्न या उत्पत्ति। बिरही = ज्ञान की भूमियाँ। अकथ = अकथनीय। समाई = समाविष्ट हो गये।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कबीर दास द्वारा रचित है। इस पद में कबीर दास जी ने मनोव तियों को दूर करने के लिए परमात्मा से प्रार्थना की है।

व्याख्या :

कबीर दास जी ने आत्मा को वधू अथवा पत्नी तथा परमात्मा को पति मानते हुए अपनी आत्मा की पुकार को उद्घटित किया है। आत्मा कहती है कि हे प्रियतम परमात्मा ! अब तुम मुझे अपने देश में ले चलो। इस संसार रूपी विदेश में तो काम, क्रोध, मोह, लोभ व अहंकार रूपी पाँच कुसंगियों ने मिलकर मुझे लूट लिया है।

कबीर दास जी ने ग्रामीण जीवन के रूपक के माध्यम से अपने आध्यात्मिक भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है कि गंगा अर्थात् इड़ा के किनारे मेरे खेत हैं और जमुना अर्थात् पिंगला के किनारे मेरे खलिहान हैं। मेरे इस खेत में सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य - ये पाँचों किसान मिलकर सात प्रकार के अन्न अर्थात् यूचेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वायति, असंसक्ति, परार्थभाखिनी और तुर्येगा ये सातों ज्ञान की भूमियाँ उत्पन्न करते हैं।

कबीरदास जी कहते हैं कि सहज-साधना की यह कथा अकथनीय है। उसे कहने पर भी कहा नहीं जा सकता। जिस भी साधक के मन में सहज भाव से भक्ति उत्पन्न होती है वही साधक परमात्मा की उस परम ज्योति में लीन हो जाता है या समा जाता है।

विशेष :

- (1) प्रथम दो पंक्तियों में माधुर्य भाव की भक्ति है। तीसरी व चौथी पंक्ति में ग्राम्य जीवन के रूपक द्वारा मनोव तियों को स्पष्ट किया है। व अन्तिम दो पंक्तियों में योग साधना व प्रभु स्मरण की ओर संकेत किया है।
- (2) योग साधना के परम्परागत प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।
- (3) 'कहै कबीर', 'कहता कही' 'रमि रहें' में अनुप्रास अलंकार की योजना है।
- (4) पद सधुक्कड़ी भाषा में रचित है।

(15)

अब हम सकल कुसल करि माँनों,

स्वाँति भई तब गोब्यंद जाँनों ॥टेक॥

तन में होती कोटि उपाधि, भई सुख सजि समाधि ॥

जम थैं उलटि भये है राँम, दुख सुख किया विश्राम ॥

बैरी अलटि भये हैं मीता साषत उलटि सजन भेय चीता ॥

आपा जानि उलटि ले आप, तौ नहीं ब्यापे तीन्हूँ ताप ॥

अब मन उलटि सनातन हूवा, तब हम जाँनों जीवत मूवा ॥

कहै कबीर सुख सहज समाऊँ, आप न डरौं न और डराऊँ ॥15॥

शब्दार्थ :

कुसल = कुशलता। मांनं = मैंने । स्वांति = शान्ति। गोब्यंद = गोविन्द, प्रभु। कोटि = करोड़ों । उपाधि = व्याधियां। मीता = मित्र । चीता = चित्त। आया = आत्म तत्व। ब्यापे = रमना । तीन्थू ताप = तीनों ताप, शारीरिक व्याधियाँ (दैहिक, दैविक, भौतिक ताप)। बैरी= दुश्मन, शत्रु। साषत = शाक्त ।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद कबीर दास जी द्वारा रचित है। जिसमें उन्होंने योग-साधना के माध्यम से प्रभु की प्राप्ति का मार्ग दर्शाया है।

व्याख्या :

कबीर दास जी कहते हैं जब मैंने परमात्मा को प्राप्त कर लिया है तभी मैंने समस्त प्रकार की कुशलता को अनुभव किया है तथा मेरी आत्मा को शांति प्राप्त हुई है। शरीर में करोड़ों प्रकार की व्याधियाँ होती हैं अर्थात् मनुष्य का मन करोड़ों प्रकार की आसक्तियों के कारण अनेक प्रकार के कष्ट उठाता है परन्तु जब व्यक्ति सहज-साधना में मन को लगा लेता है तब सच्चे सुख की प्राप्ति होती है। सहज-समाधि के द्वारा यमराज भी अब राम रूप में दिखाई देने लगे हैं अर्थात् अब म त्तु का भय समाप्त हो गया है और अब मन से सुख व दुख दोनों ही प्रकार के भाव समाप्त हो गए हैं तथा परमानंद की स्थिति प्राप्त हो गई है। अब तक जो शत्रु थे अब वे उलट कर मित्र बन गए हैं और जो शाक्त अर्थात् नीच कार्यों को करने वाले थे वे भी अब चित्त को अच्छे लगने लगे हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अब ऊँच-नीच, अच्छे-बुरे का भेद समाप्त हो गया है। यदि व्यक्ति अब दूसरों के प्रति परायापन का भाव त्यागकर सभी को अपने समान समझने लगे और अपने ही भीतर परमात्मा के दर्शन करे तो वह तीनों प्रकार के ताप - दैहिक, दैविक और भौतिक से मुक्त रहता है। कबीरदास जी कहते हैं कि अब सहज-साधना के द्वारा अस्थिर व चंचल मन भी सनातन अर्थात् शाश्वत हो गया है और अब मैंने जीवन मुक्त दशा के बारे में जाना है। अब तो मैं अपनी सहज-साधना के सुख में लीन हो गया हूँ और अब मैं न तो किसी को डराऊँगा और न ही किसी से डरूँगा।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास जी ने सहज-साधना के द्वारा म त्तु, कष्ट आदि के भय से मुक्त होने व उससे मिलने वाले परम सुख का वर्णन किया है।
- (2) पद की लगभग प्रत्येक पंक्ति में अनुप्रास अलंकार है।
- (3) कबीर दास जी ने सहज-साधना के द्वारा ही म त्तु के भय से मुक्ति पाने पर विशेष बल दिया है।
- (4) सम्पूर्ण पद में सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है।

(16)

संतो भाई आई ग्यान की आंधी रे ।

भ्रम की टाटी सबै उडांणी, माया रहै न बांधी ॥टेक॥

हिति चित की द्वै थूनीं गिरांनी, मोह बलिंडा तूटा ।

त्रिस्नां छांनि परि घर ऊपरि, कुबधि का भांडां फूटा ॥

जोगं जुगति करि संतौ बांधी, निरचू चुवै न पांणी।

कूडकपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जांणी॥

आंधी पीछे जो जल बूठा, प्रेम हरि जन भीनां।

कहै कबीर भान के प्रगटे, उदित भया तम भीनां ॥16॥

शब्दार्थ :

ग्यान = ज्ञान। टाटी = टट्टी, अर्थात् झोपड़ी का छप्पर। उड़ाणी = उड़ गई। द्वै = दो। थूनी = छप्पर को रोकने का स्तम्भ। बलिंडा = बड़ेर अर्थात् छप्पर को मजबूत करने के लिए प्रयुक्त घास-फूस। त्रिस्नां = तष्णा अर्थात् विषय वासनाएँ संबंधी कामना। छाँनि = छप्पर। कुबुधि = कुबुद्धि अर्थात् बुद्धिहीन। भाँडा = बर्तन। निरचू = थोड़ा सा भी। पांणी = पानी। बूटा = बरसा। भांन = भानु। र्षीना = क्षीण अर्थात् समाप्त हो जाना।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीर दास द्वारा रचित है। इस पद में कबीर दास जी ने ज्ञान के प्रभाव का वर्णन किया है।

व्याख्या :

कबीर दास जी ने आँधी के रूपक द्वारा ज्ञान के प्रभाव को चित्रित करते हुए कहा है कि हे संत भाइयो ! देखो, अब सहज-साधना के द्वारा प्राप्त सच्चे ज्ञान की आँधी आ गई है। इस ज्ञान की आँधी के आने से मन पर जो भ्रम रूपी छप्पर पड़ा हुआ था वह सब उड़कर दूर चला गया है अर्थात् मन अब भ्रम से मुक्त हो गया है। माया रूपी रस्सी ने इस भ्रम रूपी छप्पर को मन से बाँध रखा था, अब ज्ञान की आँधी चलने से वह बंधन भी खुल गया है। मन में राग और द्वेष रूपी जिन दो स्तम्भों पर यह भ्रम रूपी छप्पर टिका हुआ था, ज्ञान की आँधी में वे दोनों स्तम्भ भी गिर गए हैं। इस भ्रम के छप्पर की मजबूती देने के लिए मोह रूपी बंडेर सी टूट गई है। शरीर रूपी घर के ऊपर जो तष्णा रूपी छप्पर पड़ा हुआ था, ज्ञान की आँधी में वह टूट कर नीचे गिर गया और उसके गिरते ही कुबुद्धि रूपी मिट्टी का बर्तन भी फूट गया।

कबीर दास जी कहते हैं कि संतो के संसर्ग अब योग-साधना के द्वारा मोह, माया आदि को कसकर बाँध दिया है जिसके कारण अब थोड़ा सा भी पानी नहीं टपकता है। प्रभु के स्मरण से इस शरीर में जो भी विकारों का कूड़ा-करकट था, वह निकल गया। इस ज्ञान की आँधी के पश्चात् जब सच्चे आनंद की वर्षा हुई तो उसमें हरि का भक्त अर्थात् साधक भीगकर उसमें मग्न हो गया। कबीर दास जी कहते हैं कि ज्ञान रूपी सूर्य के उदय होते ही अज्ञान रूपी अंधकार क्षीण पड़ने लगा।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास जी ने आँधी के दृश्य के माध्यम से ज्ञान से प्राप्त आनंद को अभिव्यक्त किया है।
- (2) पूरे पद में सांग रूपक अलंकार है।
- (3) जोग जुगति, कहै कबीर आदि में अनुप्रास अलंकार तथा 'कूड़क पर काया का' में तत्प्रास अलंकार है।
- (4) तत्सम व देशज शब्दावली से युक्त सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है।

(17)

अब घटि प्रगट भये राँम राई, साधि सरीर कनक की नाँई ।।टेक।।

कनक कसौंटी जैसे कसि लेइ सुनारा, सोधि सरीर भयो तन सारा ।।

उपजत उपजत बहुत उपाई, मन धिर भयो तबै तिथि पाई ।।

बाहरि षोजत जनम गँवाया, उनमनी ध्यान घट भीतरि पाया।।

बिन परचै तन काँच कबीरा, परचै कंचन भया कबीरा ।।17।।

शब्दार्थ :

घटि = घट। राई = राजा। सरीर = शरीर। कनक = स्वर्ण, शुद्ध करना। सोधि = शुद्ध करना अर्थात् शरीर को योग साधना के माध्यम से शुद्ध करना। सुनारा = सुनार अर्थात् स्वर्णकार। धिर = स्थिति। भयो = भय। बाहरि षोजत = बाह्य खोज अर्थात् समस्त संसार में प्रभु की खोज। उनमनी = अनमना। परचै = परिचय अर्थात् प्रभु से पहचान। कांच थीरा

= कच्चे मांस के समान।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद निर्गुण काव्य धारा के संत कवि कबीर दास द्वारा रचित है। इस पद में कवि ने योग-साधना द्वारा अपने ही अन्दर परमात्मा के दर्शन करने के उपरांत प्राप्त सुखों आदि का वर्णन किया है।

व्याख्या :

कबीर दास जी कहते हैं कि अब ध्यान के द्वारा मैंने अपने ही शरीर में राजा राम के दर्शन कर लिए हैं अर्थात् वे मेरे शरीर में प्रकट हो चुके हैं। इसीलिए अब मुझे अपना शरीर सोने की तरह शुद्ध करना होगा। जिस प्रकार सुनार सोने की शुद्धता को जाँचने के लिए उसे कसौटी पर कसता है उसी प्रकार मुझे योग-साधना के द्वारा अपने शरीर को शुद्ध करना है। मैंने बार-बार जन्म लेकर प्रभु के दर्शन करने का बहुत प्रयास (उपाय) किया परन्तु जब मेरा चंचल मन उनके चरणों में स्थिर हुआ तभी प्रभु के दर्शन करने की तिथि अर्थात् अवसर प्राप्त हुआ। जब तक मैं परमात्मा को बाहर अर्थात् मंदिर, मस्जिद, तीर्थ स्थल आदि में खोजता रहा अब तक मेरा जीवन व्यर्थ में ही व्यतीत होता गया परन्तु अनमना अवस्था में ध्यान किया तो मैंने उस परमात्मा को अपने ही भीतर प्राप्त कर लिया। कबीर दास जी कहते हैं कि जब तक प्रभु से परिचय नहीं हुआ था अर्थात् जब तक परमात्मा के दर्शन नहीं हुए थे तब तक यह शरीर काँच के समान मूल्यहीन था परन्तु अब उनके दर्शन होते ही यह शरीर सोने के समान मूल्यवान बन गया।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास जी ने धर्म के बाह्याचारों को त्याग कर सहज-साधना के द्वारा अपने तन-मन को शुद्ध करके अपने ही भीतर उस परमात्मा को खोजने का प्रयास करने पर बल दिया है।
- (2) 'उपजत उपजत' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।
- (3) 'कनक कसौटी ---- सुनारा' में दृष्टांत अलंकार है।
- (4) पूरे पद में अनुप्रास अलंकार की छटा दृश्यमान है।
- (5) पद की रचना सधुक्कड़ी भाषा में हुई है।

(18)

हिंडोलनां तहां झूलै आतम रांम ।
 प्रेम भगति हिंडोलनां, सब संतनि कौ विश्राम ॥टेक॥
 चंद सूर दोई खंभवा, बंक नालि की डोरि ।
 झूलै पंच पियारियां, तहां झूलै जीय मोर ॥
 द्वादस गम के अंतरा, तहां अम त कौं ग्रास ।
 जिनि यह अम त चाषिया, सो ठाकुर हंम दास ॥
 सहज सुनि कौ नेहरौ गगन मंडल सिरिमौर ।
 दोऊ कुल हम आगरी, जो हम झूलै हिंडोल ॥
 अरध उरध की गंगा जमुना, मूल कवल कौ घाट ।
 षट चक्र की गागरी, त्रिवेणी संगम बाट ॥

नाद व्यंद की नावरी, राम नाम कनिहार।

कहै कबीर गुंण गाइ ले, गुर गंमि उतरौ पार ॥18॥

शब्दार्थ :

हिंडोलना = झूला अर्थात् प्रभु भक्ति के झूले पर झूलना। आत्म राम = चैतन्य। चंद = इड़ा। सूर = पिंगला। दोई = दो। खंभवा = स्तम्भ। बंक नालि = बंकनाल यह सहस्रार के नीचे कपाल कुहर को होकर तालु तक फैली हुई है, इसमें अनहद नाद होता है जिसमें अम त टपकता है। पंच पियारिया = पाँचों इन्द्रियाँ। जीय = ह दय। द्वादस गम को अंतरा = ह दय से बाहर अंगुल के ऊपर। चाषिया = चखना। सुनि = शून्य। गगन मंडल = सहस्रार। आगरी = निपुण। उरध = अधर। मूल कवल = मूलाधार चक्र। कनिहार = कर्णधार।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीर दास जी द्वारा रचित है। इस पद में उन्होंने सहज-साधना के द्वारा गुरु के मार्गदर्शन में परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग दर्शाया है।

व्याख्या :

कबीर दास जी कहते हैं कि इस तन रूपी झूले में आत्म स्वरूप राम (आत्मा परमात्मा का ही अंश है) झूल रहे हैं। प्रेम-भक्ति रूपी झूला सभी संतों के लिए विश्राम स्थल बना हुआ है अर्थात् सभी संत प्रेम-भक्ति के आनंद में सरेबार हैं। इस झूले के दोनों ओर चाँद अर्थात् इड़ा और सूर्य अर्थात् पिंगला के दो खम्बे हैं और उन दोनों खम्बों को जोड़ने वाली डोरी ही बंकनाल है। इस झूले पर अपान, उदान, समान आदि पाँचों प्राण जीवात्मा के साथ झूल रहे हैं। ह दय से बाहर अंगुल की ऊँचाई पर सहस्रार है जहाँ पर अम त रूपी भोजन का ग्रास है। कहने का तात्पर्य यह है कि सहस्रार में निरंतर अम त टपकता है। जिस भी साधक ने सहस्रार के इस अम त को चख लिया या प्राप्त कर लिया, वही साधक मेरा स्वामी बन गया और मैं उसका दास बन गया।

कबीर दास जी कुल वधू के रूप में अपनी आत्मा को चित्रित करते हुए कहते हैं कि सहज-सामाधि ही मेरा नैहर अर्थात् मायका है और गगन मंडल अर्थात् शून्य शिखर ही मेरी ससुराल है। मैं अर्थात् आत्मा तो दोनों की कुलों का समान रखने वाली स्त्री के समान हूँ और इस झूले पर झूलकर अपने दोनों कुलों (यहाँ पर इहलोक व परलोक से भी तात्पर्य हो सकता है) का मान रखूँगी।

कबीर दास जी कहते हैं कि नीचे और ऊपर गंगा और जमुना अर्थात् इड़ा व पिंगला है और मूलाधार ही इसका घाट है। यह शरीर अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा आदि छह चक्रों से बने हुए घड़े के समान है और त्रिकुटी में इड़ा, पिंगला सुषुम्ना की त्रिवेणी है अर्थात् संगम होता है। अनहद नाद रूपी नाव में राम नाम रूपी कर्णधार अथवा सेवक बैठा हुआ है। कबीर दास जी कहते हैं कि हे साधक ! अब गुरु के ज्ञान से, प्रभु स्मरण के द्वारा इस भवसागर से पार उतर जाओ।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास जी ने झूले के सांग रूपक द्वारा योग-साधना की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए गुरु क पा से प्राप्त ज्ञान के द्वारा राम-नाम स्मरण करते हुए भवसागर से पार उतरने के भाव को अभिव्यक्त किया है।
- (2) सम्पूर्ण पद में अनुप्रास अलंकार की छटा दर्शनीय है।
- (3) सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है।
- (4) योग-साधना के परम्परागत प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।

(19)

कौ बीनै प्रेम लागी री, माई कौ बीन।

राम रसाँइण मातेरी, माई को बीनै ।।टेक।।

पाई पाई तू पुतिहाई, पाई की तूरियां बेचि खाई री, माई को बीनै ।।

ऐसैं पाई पर बिथुराई, त्यूँ रस आँनि बनायो री, माई को बीनै।।

नाचैं ताँनां नाचैं बाँनां, नाचैं कूँच पुराना री, माई को बीनै।।

करगहि बैठि कबीरा नाचै, चूहे काट्या ताँनां री, माई को बीनै।। 19।।

शब्दार्थ :

बीनै = बुनना अर्थात प्रभु भक्ति रूपी वस्त्र। राम रसाँइण = राम नाम रूपी रसायण। तूरियां = तुरीयावस्था। नाचैं कूँच पुराना = वस्त्र बुनने की पुरातन कला। चूहै काट्या = काल रूपी चूहा।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीर दास जी द्वारा रचित है। इस पद में उन्होंने योग-साधना के द्वारा ईश्वर प्राप्ति की बाद की अवस्था का चित्रण किया है।

व्याख्या :

कबीर दास जी माया को माता के रूप में सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे माँ ! अब तो मेरा मन राम के प्रति आसक्त हो गया है, इसलिए अब इस कपड़े अर्थात सांसारिक सम्बंधों को कौन बुनेगा। हे माता, मैंने तो राम रूपी रसायन चख लिया है और अब इस कपड़े को कौन बुनेगा। हे माता, तू तो पैसे-पैसे के पीछे अर्थात सांसारिक सुखों के पीछे पड़ी हुई थी और पैसे के लिए ही तूने तुरी अर्थात तुरीयावस्था को बेच डाला है अब इस कपड़े को कौन बुनेगा। अब तूने सारे धन को व्यर्थ ही गंवा दिया है। और इस प्रकार धन के बिना तू अब राम-नाम रूपी रस का निर्माण कर। अब तू ही बता कि इस कपड़े को कौन बुनेगा।

कबीर दास जी कहते हैं कि अब तो ताना (इड़ा), बाना (पिंगला) के साथ-साथ पुरानी कूँची (सुषुम्ना) भी नाच रही हैं, अब इस कपड़े को कौन बुनेगा। कबीर दास जी कहते हैं कि अब काल रूपी चूहे ने ताना रूपी आयु को काटना शुरू कर दिया है इसीलिए मैं अपने हाथ में करधना लेकर अर्थात योग-साधना के ध्यान में बैठ गया हूँ। अब इस कपड़े को कौन बुनेगा।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास जी ने बुनकर के कार्य-व्यापार के माध्यम से मनुष्य को माया के प्रभाव से सचेत किया है।
- (2) पूरे पद में साँग रूपक अलंकार है।
- (3) अनुप्रास अलंकार की छटा सर्वत्र व्याप्त है।
- (4) पद में सधुक्कड़ी भाषा है।

(20)

मैं बुनि करि सिराँनां हो राम,

नालि करम नहीं, ऊबरे ।।टेक।।

दखिन कूट जब सुनहाँ झूका, तब हम सुगन बिचारा ।

लरके परके सब जागत हैं हम धरि चोर पसारा हो राम ।।

ताँनां लिन्हैं बाँनां लिन्हैं, लीन्हे गोड के पऊवा ।

इत उत चितवत कठवन लीन्हों, मांस चलवना डऊवा हो रांम।।
 एक पग दोई पग त्रेपग, संध सधि मिलाई ।
 करि परपंच मोट बंधि आये, किलिकिलि सबै मिटाई हो राम ।।
 तांनों तनि करि बांनों बुनि करि, छाक परि मोहि ध्यान ।
 कहै कबीर में बुनि सिरांना जानत है भगवांनों हो राम ।। 20।।

शब्दार्थ :

बुनि करि = बुन कर के। सिरांनों = शान्त हो जाना। नालि = साथ। दखिन = दक्षिण दिशा। कूट = कौने में । झूका = श्वास वायु से उत्पन्न ध्वनि। सुनहाँ = कुता। चोर पसारा = इससे तात्पर्य विषय-वासना रूपी चोर। तांनों लिन्हा बांनों = सुकर्म रूपी वस्त्र। पऊवा = पाव भर, थोड़ा। डऊवा = कल घुल। त्रेपग = तीन पग। परपंच = विषय-वासना। किलिकिलि = धीरे-धीरे। छाक = महीन खान-पान।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीरदास जी द्वारा रचित है। इस पद में उन्होंने योग-साधना के द्वारा परमात्मा के दर्शन करने की प्रक्रिया को चित्रित किया है।

व्याख्या :

कबीर दास जी कहते हैं कि हे राम ! मैं इस संसार में सम्बंध रूप कपड़े को बुनते बुनते थक कर शांत हो गया हूँ क्योंकि इन सम्बंधों के साथ कर्म करने से मनुष्य भवसागर से पार नहीं उतर सकता। जब मैंने मूलाधार चक्र रूपी दक्षिण दिशा में संशय रूपी कुत्ते के भौंकने की आवाज सुनाई दी तब मैंने यह समझ लिया कि अब मेरी शुभ घड़ी आ गई है। यद्यपि मेरे शरीर रूपी घर में यम, नियम रूपी लड़के अभी भी जाग रहे हैं फिर भी विषय-वासना रूपी चोर मेरे इस घर में प्रवेश कर गया है। अतः मैं अपने ताने-बाने, पौवो, कठौती और कल धुल को साथ लेकर बाहर आ गया। मैंने एक पग, दूसरे पग और तीसरे पग अर्थात् तीन चरणों में साधना मार्ग की संधि कर दी अर्थात् मैं योग-साधना के तीनों स्तर पार गया। मैंने सभी प्रपंचों रूपी गठरी को बांध दिया, धीरे-धीरे उन्हें समाप्त कर दिया। अब मैं सांसारिक कार्यों से विरत होकर शांत भाव से राम-नाम स्मरण रूपी महीन कपड़ा बनाने लगा हूँ। अतः मुझे हर समय राम-नाम का ही ध्यान रहता है। कबीरदास जी कहते हैं कि अब मेरा कपड़े बुनने का काम शांत हो गया है अर्थात् मैं आवागमन के चक्कर से मुक्त हो गया हूँ और मेरे भगवान राम इस बात को भली-भाँति जानते हैं।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास जी ने एक जुलाहे के कार्य-व्यापार द्वारा सांसारिक सम्बंधों को तोड़ने व भगवान से नाता जोड़ने की भावना को अभिव्यक्त किया है।
- (2) पूरे पद में सांगरूपक अलंकार है।
- (3) पद में अनुप्रास अलंकार की छटा दर्शनीय है।
- (4) सधुक्कड़ी भाषा है।

(21)

तननों बुनना तज्या कबीर,
 रांम नांम लिखि लिया शरीर ।।टेक।।
 जब लग भरौं नली का बेह, तब लग दूटे रांम स्नेह।।

ठाढ़ी रोवै कबीर की माइ, ए लरिका क्यूं जीवै खुदाइ।

कहै कबीर सुनहुं री माई, पूरणहारा त्रिभुवन राई ।।21।।

शब्दार्थ :

तननों बुनना = कर्म रूपी वस्त्र बुनना। तज्या = त्यागना। लिखी = लिखना। बेह = छिद्र अर्थात् नाली में छेद। ठाढी = खड़ी होकर। रौवै = रोना या अश्रु बहाना। माइ = माता। लरिका = लड़का। जीवै = जीना। खुदाइ = खुदा, ईश्वर। पूरण हारा = पालणहार अर्थात् पालण करने वाला। त्रिभुवन = तीनों लोकों के स्वामी राम।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद भक्ति काल के निर्गुण काव्य धारा के संत कवि कबीर दास द्वारा रचित है। इस पद में उन्होंने अपने सांसारिक कार्य-कलापों का विरोध करके ईश्वर के प्रति अपनी अटूट श्रद्धा व विश्वास को दर्शाया है।

व्याख्या :

कबीर दास जी कहते हैं कि मैंने अब सूत तानने व कपड़े बुनने का काम छोड़ दिया है और अपने पूरे शरीर पर राम-नाम लिखवा लिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि मैंने अपने आप को राम-भक्ति में लीन कर लिया है। इस कार्य को छोड़ने का कारण बताते हुए कबीर दास जी कहते हैं कि जब मैं नली में धागा डालता था, तब मेरा ध्यान राम-नाम के स्मरण से हटकर उस धागे पर केन्द्रित हो जाता था और इस प्रकार मैं राम के प्रेम से वंचित हो जाता था।

कबीर दास जी कहते हैं कि जब मैंने जुलाहा का काम छोड़ दिया तब माया रूपी मेरी माँ जोर-जोर से रोने लगी कि अब यह लड़का अर्थात् कबीर बिना काम के किस प्रकार जीवित रहेगा। कबीर दास जी माया रूपी माँ को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे माता ! ध्यान से सुन, इस त्रिभुवन का राजा अर्थात् परमात्मा सभी जीवों का पालन करने वाला है। अतः तू मेरी चिन्ता मत कर।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास जी ने अपने कार्य-व्यापार पर प्रकाश डालते हुए ईश्वर के प्रति अपने अनन्य प्रेम को दर्शाया है।
- (2) पद में ईश्वर को समस्त जीवों का पालक बताया गया है।
- (3) 'लिखि लिया', कहै कबीर आदि में अनुप्रास अलंकार है।
- (4) सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है।

(22)

जुगिया न्याइ मरै मरि जाइ ।

घर जाजरौ बलीडौ टेढौ, औलोती डर राइ ।।टैक।।

मगरी तजों प्रीति पाबै सूं डांडी देहु लगाइ ।

छीको छोडि उपरहि डौ बांधा, ज्यूं जुगि जुगि रहौ समाइ ।।

बैसि परहडी द्वार मुंदावौं, ख्यावौं पूत घर घेरो।

जेठी धीय सासरे पठवौ ज्यूं बहुरि न आवै फेरी ।।

लहुरी धीइ सबै कुश धोयौ, तब ढिग बैठन पाई।

कहै कबीर भाग बपरी कौ, किलिकिलि सबै चुकाई ।।22।।

शब्दार्थ :

जुगिया न्याइ = संसार की भांति। घर जाजरौं = जर्जर अर्थात् शरीर रूपी भवन जर्जर हो चुका है। बलीडौं = छप्पर के बीच में लगा हुआ स्तम्भ अर्थात् शरीर रूपी मेरुदण्ड। टेढौं = टेढा, या झुकना। औलोती = परनाला जिससे छप्पर का पानी निष्कासित होता है। डर राइ = गिर रही है। पाषैं = पाखा अर्थात् प्रभु प्रेम के पाखों पर शरीर त्याग। छींको= छींका एक प्रकार का झूला जिसमें भोजन रखा जाता है। परहडी = घड़ा रखने का त्रिपाद। जेठी धीय = माया रूपी बड़ी लड़की। सासरे = ससुर। लहुरी धीइ = भक्ति रूपी छोटी लड़की। बपरी = बेचारी।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीर दास द्वारा रचित है। इस पद में कबीरदास जी ने साधक को सांसारिक बन्धनों को त्याग कर ईश्वर के प्रति अपना मन लगाने के लिए आह्वान किया है।

व्याख्या:

कबीर दास जी कहते हैं कि हे साधक ! यदि तू इस संसार में साधारण व्यक्ति या पशु की भाँति करना चाहता है तो भले ही मर जा। तेरा शरीर रूपी घर अब बिल्कुल जर्जर हो चुका है। तेरे इस झप्पर जैसे घर में जो मेरुदण्ड रूपी बलींदा लगा हुआ था वह विषय-वासनाओं के बोझ से टेढ़ा हो गया है। अब इस झप्पर से औलाती रूपी शंका टपक रही है। अतः अब तुम सचेत हो जाओ क्योंकि मगरी रूपी जोड़ भी इस शरीर रूपी घर से अपना सम्बंध तोड़ रहे हैं। तुम शीघ्रता से अपने इस जर्जर होते घर को प्रेम रूपी डंडे का सहारा दो। इस छप्पर से कामना रूपी छींके को खोल दो और उसे राम से प्रेम रूपी रस्सी में जोड़ दो तो तुम्हें लगेगा कि आत्मा युगों-युगों से इसी राम-प्रेम रूपी रस्सी से बँधी हुई थी।

अब तुम अपने मन रूपी भीतरी कमरे में बैठकर सारी इन्द्रियों की विषय-वासना रूपी दरवाजों को संयम रूपी पलहडी से बन्द कर लो और अपने ज्ञान रूपी पुत्र को घर में बुला लो। माया रूपी बड़ी बेटी को अपने घर (शरीर) से निकल कर उसके ससुराल (संसार) में भेज दो ताकि वह वापस तुम्हारे पास न आ सके। तुम्हारी छोटी बेटी (भक्ति) ही तुम्हारे सब काँओं अर्थात् पापों को धो सकती है। अतः उसे अपने पास बैठा लो। कबीर दास जी कहते हैं कि बड़ी बहिन अर्थात् माया के सारे झंझट मिटाना बेचारी छोटी बेटी का भाग्य में लिखा है।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास जी ने साधक को सांसारिक क्रिया-कलाप व व्यवहार द्वारा ही विषय-वासना आदि को त्याग कर ध्यान लगाने को कहा है।
- (2) पूरे पद में साँग रूपक अलंकार है।
- (3) पद में अनुप्रास अलंकार की छटा सर्वत्र व्याप्त है।
- (4) सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग है।

(23)

मन रे जागत रहिये भाई ।

गालिफ होइ बसत मति खोवै, चोर मुसै घर जाई ।।टेक।।

षट चक की कनक कोठडी बस्त भाव है सोई ।

ताला कूँचो कुलफ के लागे, उधड़त बार न होई ।।

पच पहरवा सोइ गये हैं, बसतै जागण लागी।

करत विचार मनहीं मन उपजी नाँ कहीं गया न आया।।

कहै कबीर संसा सब छूटा राँम रतन धन पाया ।।123।।

शब्दार्थ :

जागत = जागना। गालिफ होइ = असावधान अर्थात चेतना-शून्य होना। मति = बुद्धि। चोर मुसै = माया रूपी चोर इससे तात्पर्य है काम, क्रोध, लोभ, मोह, माया से है। षट चक्र = छह चक्र, दह चक्र रूपी कोठरी। ताला कूँचो कुलफ = चाबी, ताला अर्थात कुण्डलिनी सुप्तावस्था में पड़ी है। पंच पहरवा = शरीर की पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ। बसतै जागण = कुण्डलिनी को जाग त करना।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीर दास जी द्वारा रचित है। इस पद में कबीर दास जी ने मन को सांसारिक विषय-वासनाओं के प्रति सचेत किया है।

व्याख्या :

कबीर दास जी कहते हैं कि हे मन ! अब तो तुझे निरंतर जागते रहना चाहिए। अब तू असावधान या चेतना-शून्य हो जाएगा तो तू अपनी बुद्धि रूपी पूँजी को खो देगा क्योंकि तेरे इस शरीर रूपी घर में माया रूपी चोर घुस गया है।

हे मन ! तेरा यह घर अर्थात शरीर छह चक्रों से युक्त सोने की कोठरी के समान है जिसमें चेतना रूपी कुण्डलिनी सोई हुई है। यदि तू अज्ञानता रूपी ताले में साधना रूपी चाबी को लगा देगा तो उस कुण्डलिनी के जाग त होने में तनिक भी देर न लगेगी। ज्योंही तेरी कुण्डलिनी जाग त होगी और वह शून्य गगन की ओर अग्रसर होगी तब तेरे शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ रूपी नियुक्त पहरेदार सो जाएंगे अर्थात वे सांसारिक मोह-माया के प्रति चेतना-शून्य हो जाएंगे। मैंने मन ही मन में विचार करके यह पाया कि इस कुण्डलिनी को जाग त करने के लिए न तो कहीं आना पड़ता है और न ही कहीं जाना पड़ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान की प्राप्ति के लिए तीर्थ-स्थल, मंदिर आदि में जाने की आवश्यकता नहीं होती है। कबीर दास जी कहते हैं कि ज्यों ही मैंने राम रूपी रत्न को प्राप्त किया मेरे समस्त संशय समाप्त हो गए।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास जी ने योग-साधना के माध्यम से ईश्वर प्राप्ति का मार्ग बताया है।
- (2) पद में साँग रूपक अलंकार है।
- (3) पद में परम्परागत प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।
- (4) सधुक्कड़ी भाषा है।

(24)

चलन चलन सब को कहत है

नाँ जाँनों बैकुंठ कहाँ है ।।टेक।।

जोजन एक प्रमिति नहिं जानै, बातन ही बैकुंठ बषानै।

जब लग है बैकुंठ की आसा, तब लग नहीं हरिधरन निवासा।।

कहँ सुनँ कैसे पतिअइये, जब लग तहीं आप नहिं जइये।

कहै कबीर बहु कहिये काहि, साध संगति बैकुंठहि आहि।। 24।।

शब्दार्थ :

जाँनों बैकुण्ठ = शून्यगठ, ब्रह्मरंध्र का जानना। जोजन = योजन, दूरी की इकाई। प्रमिति = ब्रह्मा की सीमाएँ व शक्तियाँ। आसा = आशा। निवासा = निवास स्थान। पतिअइये = विश्वास। जइये = जाना। बैकुंठहि = प्रभु निवास इससे तात्पर्य यह है कि साधु संगति में ही प्रभु का वास है।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीर दास द्वारा रचित है। इस पद में उन्होंने स्वर्ग-संबंधी प्रचलित धारणा का खंडन किया है।

व्याख्या :

कबीर दास जी कहते हैं कि जैसे तो सभी व्यक्ति चलने-चलने (इस संसार से चले जाना) की बातें करते हैं परन्तु उनमें से किसी को भी यह नहीं पता कि वह मुक्ति का द्वार बैकुण्ठ या स्वर्ग कहाँ पर है। ऐसे लोग एक योजन की सीमा तो जानते नहीं हैं और बैकुण्ठ की बातें बनाने लगते हैं। जब तक मनुष्य स्वर्ग प्राप्ति की आशा से भक्ति करता है तब तक वह उसे प्रभु के चरणों में निवास या आश्रय नहीं मिल सकता। जब तक मनुष्य किसी स्थान पर जाकर उसे देख नहीं लेता है तब तक उस स्थान के बारे में कहे सुने पर कैसे विश्वास किया जा सकता है? कहने का तात्पर्य यह है कि जो धर्म प्रचारक स्वर्ग-नरक आदि का वर्णन करते हैं, उन स्थानों पर उन्होंने जाकर तो नहीं देखा है, फिर भला उनकी बातों पर कैसे विश्वास किया जा सकता है। कबीर दास जी कहते हैं कि अब इस विषय में और अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जो साधु-संगति है वास्तव में वही बैकुंठ है।

विशेष :

- (1) कबीरदास जी ने प्रचलित धार्मिक रूढ़ियों को तोड़कर साधु-संगति को ही स्वर्ग मानकर अपने मौलिक चिंतन का परिचय दिया है।
- (2) 'चलन चलन' में पुनरुक्ति प्रकाश अंलकार है।
- (3) पूरे पद में अनुप्रास अंलकार की छाया है।
- (4) सधुक्कड़ी भाषा में पद की रचना हुई है।

(25)

अपने विचारि असवारी कीजे,

सहज के पाइड़े पाव जब दीजे।। टेक।।

दे मुहरा लगौम पहिराँऊँ, सिकली जीन मगन दौराऊँ।

चलि बैकुंठ तोहि लै तारों, थकहि प्रेम ताजने मारुँ।।

जन कबीर ऐसा असवारा, बेद कतेव दहूँ थैं न्यारा।। 25।।

शब्दार्थ :

असवारि = सवारी करना अर्थात् आत्म विचारो का अनुकरण करना। पाइड़ें पाव = पायदान अर्थात् सहज समाधि में पैर रखना। मुहरा = घोड़े के मुँह का साज यहां से तात्पर्य मन को एकाग्रकृत का मुहरा पहनाना से तात्पर्य है। सिकली = मजबूत। दौराऊँ = दौड़ना। प्रेम ताजने = प्रेम का चाबुक। कतेब = कुरान, मुस्लिम ग्रन्थ।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीरदास द्वारा रचित है जिसमें आत्म-साधना पर बल देते हुए मनुष्य से कहा है कि

व्याख्या :

हे मनुष्य। तू अन्य साधन को छोड़कर अपने विचार मन रूपी घोड़े पर बैठकर सवारी कर। सहज-समाधी के रूपी पायदान में पाँव रखकर, उसके मुँह में यम-नियम आदि रूपी साज लगाकर तथा उस पर समाधि रूपी मजबूत जीन कसकर उसे सुन्य शिखर अर्थात् ब्रह्म रूध की ओर दौड़ाओ।

कबीर दास जी कहते हैं कि हे मनुष्य। अपने मन को इस विचार रूपी घोड़े पर बिठाकर सवारी कर उसे प्रभु लोक या स्वर्ग की ओर ले चल जिससे यह भवसागर से पर उतर जाएगा अर्थात् उसे बार-बार जन्म मृत्यु के चक्र से नहीं गुजरना पड़ेगा। यदि तेरा विचार रूपी घोड़ा दौड़ते-दौड़ते थक जाए तो उसे प्रभु प्रेम रूपी कौड़े मार और उसे बैकुण्ठ की ओर दौड़ाए रख। कबीरदास जी कहते हैं कि जो साधक ऐसे विचार रूपी घोड़े पर सवार है वह वेद और कुरान दोनों से ही बिल्कुल अलग है। कहने का तात्पर्य है कि वेद-पुराण से बैकुण्ठ की प्राप्ति नहीं होती बल्कि वह तो योग-साधना व आत्म नियंत्रण से हो सकती है।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास जी ने मनुष्य को आत्म-साधना व मन पर अकुंश लगाकर स्वर्ग-प्राप्ति के मार्ग पर चलने का संकेत किया है।
- (2) पूरे पद में घुड़सवार के सांगरूपक के द्वारा भावाभिव्यक्ति हुई है।
- (3) सधुक्कड़ी भाषा है।

(26)

अपने मैं रँगि अप्पनयोँ जानूँ, जिहि रँगि जाँनि ताही कूँ माँनूँ॥

अभि अंतरि मन रंग समानां, लोग कहँ कबीर बाँ रानां॥

रंग न चीन्है मूरखि लोई, जिह रँगि रंग रह्या सब कोई॥

जे रँग कबहुँ न आवै न जाई, कहै कबीर तिहीं रह्या समाई॥ 26 ॥

शब्दार्थ :

रँगि = रंग में रंगना अर्थात् अपने ही में रंगना। अप्पनयो अन्तर्मुखी होना। बौरानां = बावला होना, अर्थात् प्रेम तत्त्व में पागल होना। चीन्है = पहचानना। मूरखि लोई = मूर्ख लोई, लोई कबीर की पत्नी का नाम है। कबहु = कभी नहीं।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद कवि कबीर दास द्वारा रचित है जिसमें उन्होंने जीवात्मा व परमात्मा दोनों की एकता को निरूपित किया है।

व्याख्या :

कबीर दास जी कहते हैं कि मैं तो आत्मा को परमात्मा के रंग में रंग कर ही अपने आपको जान सकता हूँ। जो व्यक्ति परमात्मा के रंग को जानता है उसे ही मैं महत्त्व देता हूँ। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य का ज्ञान इतना संकुचित है कि वह पूरे परमात्मा के स्वरूप को नहीं समझ सकता। यदि वह अन्तर्मुखी होकर अपने आप को परमात्मा का अंश समझ ले, तभी वह उस परमतत्त्व में अस्तित्व का आभास कर सकता है। जिस साधक ने अपनी आत्मा को परमात्मा का अंश मानकर उसी के रंग में रंग लिया है वही व्यक्ति सच्चे सम्मान या गुरु बनने का अधिकारी है।

कबीरदास जी कहते हैं कि मेरा मन भी परमात्मा के रंग में रंगकर उसी के समान हो गया है और मेरी इस दशा को देखकर लोग कहते हैं कि कबीर पागल हो गया है। केवल मूर्ख व्यक्ति ही उस परमात्मा के रंग को नहीं पहचान पाता हैं जबकि यह सारा संसार व समस्त लोग उसी रंग में रंगे हुए हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सभी जीवों में उसी परमात्मा का अंश

विद्यमान है। जो रंग न तो कभी आता है और न ही कभी जाता है, कबीरदास स्वयं को उसी रंग में रंगे हुए हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सभी जीवों में उसी परमात्मा का अंश विद्यमान है। जो रंग न तो कभी आता है न ही कभी जाता है, कबीरदास स्वयं को उसी रंग में समाया हुआ मानते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि परमात्मा का रंग में रंगा व्यक्ति इस आवागमन के बंधन से मुक्त हो जाता है।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास जी ने समस्त जीवों में परमात्मा के अंश का होना स्वीकार कर किया है तथा मनुष्य को उसी रंग में रंगने का आह्वान किया है।
- (2) परमात्मा के रंग में रंगा व्यक्ति जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाती है।
- (3) पद में ह्यन्यत्मकता है।
- (4) सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है।

(27)

झगरा एक नवेरो रामें,
 जें तुम्ह उपने जनसूँ काँम ॥ टेक ॥
 ब्रह्म बड़ा कि जिनि रू उपाया, बेद बड़ा कि जहाँ थैं आया ॥
 यह मन बड़ा कि जहाँ मन मानें, राम बड़ा कि रामैहि जानें ॥
 कहै कबीर हूँ खरा उदास, तीरथ बड़े कि हरि के दास ॥ 27 ॥

शब्दार्थ :

झगरा = झगड़ा, दुविधा। नवेरो = निवारण कर दो। काँम = प्रयोजन, लगाव। उपाया = उत्पन्न किया। खरा = अत्यधिक।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीर द्वारा रचित है। इस पद में उन्होंने अपने मन के भ्रम के माध्यम से धर्म के बाह्य आडम्बरों की तुलना में भक्त को महत्व दिया है।

व्याख्या :

कबीर दास जी कहते हैं कि हे राम। यदि तुम्हें अपने इस भक्त से यदि कोई भी प्रयोजन या लगाव है तो सबसे पहले मेरे मन के इस झगड़े या मन की इस दुविधा का निवारण कीजिए।

मेरे मन में यह बात सोचकर दुविधा उत्पन्न हो जाती है कि इस संसार में ब्रह्म बड़ा है या उस ब्रह्म को उत्पन्न करने वाला बड़ा है यह मन बड़ा है या जहाँ पर मन को शांति मिलती है वह स्थान या विश्रान्ति भूमि बड़ी है। इस संसार में स्वयं राम बड़ा है या राम के स्वरूप को समझ लेने वाला साधक बड़ा है। कबीर दास जी कहते हैं कि इस संसार की रीति को देखकर मैं बड़ा उदास हो गया हूँ क्योंकि मेरी समझ में यह नहीं आता है कि इस संसार में तीर्थ-स्थल अधिक महत्वपूर्ण हैं या प्रभु के भक्त महत्वपूर्ण हैं।

विशेष:

- (1) इस पद के माध्यम से कबीर दास जी ने यह प्रतिपादित किया है कि ब्रह्म से बड़ा उसको उत्पन्न करने वाला, वेद से बड़ा उसका उद्गम स्थल, राम से बड़ा उसके कर्म को समझने वाला तथा तीर्थ-स्थान से बड़ा प्रभु का भक्त होता है।

- (2) सम्पूर्ण पद में वक्रोक्ति अलंकार की छटा दर्शनीय है।
- (3) प्रश्नात्मक शैली में पद की रचना हुई है।
- (4) सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग है।

(28)

दास राँमहिं जानि हे रे

और न जानै कोई ।।टेक।।

काजल देइ सबे कोई, चषि चाहन माँहि बिनाँन।

जिन लोइनि मनमोहिया, ते लोइन परवाँन ।।

बहुत भगति भौसागरा नानाँ विधि नाँनाँ भाव।

जिहि हिरदै श्रीहरि भेटिया, सो भेद कहूँ कहूँ ठाउँ ।।

दरसन सँमि का कीजिये, जो गुन हिं होत समाँन।

सीधव नीर कबीर मिल्यौ है, फटक न मिल परवाँन ।।28।।

शब्दार्थ :

चषि = चक्षु, आँखें । बिनाँन = विज्ञान । लोइनि = आँखें । परवाँन = प्रमाण । भौसागरा = संसार । ठाउँ = ठिकाना । सीधव = सँधव नमक । नीर = जल । फटक = स्फटिक मणि ।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीर दास द्वारा रचित है। इस पद में कबीर दास जी ने ईश्वर के प्रति भक्त के अनन्य प्रेम को दर्शाया है।

व्याख्या :

कबीर दास जी कहते हैं कि राम अर्थात् उस परमात्मा को केवल उसका भक्त ही जान सकता है, भक्त को छोड़कर दूसरा कोई व्यक्ति उसे नहीं समझ सकता। यद्यपि आँखों में काजल तो सभी लगाते हैं परन्तु जिन आँखों में विज्ञान (प्रभु-प्राप्ति) की लालसा है, जिन आँखों ने मन को मोह लिया है, उन्हीं आँखों को प्रमाण अर्थात् सुन्दर समझना चाहिए। इस संसार में नान विधियों से, नाना प्रकार के भावों से मुक्त अनेक प्रकार की भक्तियाँ प्रचलित हैं परन्तु जिस हृदय ने प्रभु से भेंट कर ली है, भक्ति का वही भेद या विधि किसी-किसी स्थान पर ही प्राप्त होती है। कहने का तात्पर्य है कि परमात्मा का साक्षात्कार कराने वाली भक्ति विरल ही है। कबीर दास जी कहते हैं कि हे मनुष्य। यदि तूने प्रभु के दर्शन भी करल लिए तो उससे क्या लाभ होगा। यदि तूने अपने आप को उस भक्त के समान गुणवान नहीं बनाया। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को प्रभु के भक्त के गुणों का अनुसरण करना चाहिए। कबीर दास जी कहते हैं कि मनुष्य को प्रभु के भक्त के गुणों का अनुसरण करना चाहिए। कबीर दास जी कहते हैं कि जिस प्रकार जल में सँध व नमक अपने आप ही मिल जाता है परन्तु स्फटिक मणि उस पानी में कभी नहीं मिल सकती, ठीक उसी प्रकार गुणवान भक्त प्रभु से मिल सकता है, परन्तु अज्ञानी व सांसारिक मोहमाया में फँसा व्यक्ति कभी उस परमतत्त्व में नहीं मिल सकता।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीरदास जी ने भक्त व भगवान के अनन्य संबंध को विकसित करते हुए भक्त के गुणों का अनुसरण करने का आह्वान किया है।
- (2) अंतिम पंक्ति में दृष्टांत अलंकार है।

- (3) 'चषि चाहन', 'भगति भौसागर' आदि में अनुप्रास अंलकार की छटा वस्तुतः दर्शनीय है।
- (4) कहुँ-कहुँ में पुनरुक्ति प्रकाश अंलकार है।
- (5) सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है।

(29)

कैसे होइगा मिलावा हरि सनाँ,
 रे तू विषै बिकार न तजि मनाँ॥ टेक॥
 रे तैं जोग जुगति जान्यौं नहीँ, तैं गुर का सबद मान्यौं नहीँ॥
 गंदी देहि देखि न फूलिये, संसार देखि न भूलिये॥
 कहै कबीर मम बहु गुँनि, हरि भगति बिनाँ दुख फुनफुनी॥ 29॥

शब्दार्थ :

मिलवा = मिलन। सनाँ = से। विषै बिकार = विषय-वासना आदि के विकार। तजि = त्यागना। जोग जुगति = योग-साधना की युक्ति। सबद = उपदेश।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कबीर दास द्वारा रचित है। इस पद में उन्होंने मनुष्य को निर्विकार होकर प्रभु की भक्ति में मन लगाने का आह्वान किया है।

व्याख्या :

कबीरदास जी कहते हैं कि हे मन ! तेरा उस परमात्मा से मिलन कैसे हो सकता है। क्योंकि तूने तो विषय-वासनाओं के विकारों को त्यागा ही नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है जब तक मन निर्विकार न होगा तब तक प्रभु-प्राप्ति सम्भव नहीं है। हे मन ! तूने परमात्मा को प्राप्ति के लिए योग-साधना की युक्तियों अर्थात् साधन को तो पहचाना ही नहीं है। और न ही तूने अपने गुरु के उपदेश का पालन किया है। कबीर दास जी सांसारिक मनुष्यों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे मनुष्य। विषय-वासनाओं में लिप्त अपने इस गंदे, मैले-कुचैले शरीर को देखकर गर्व से मत फुल अर्थात् अपने नश्वर शरीर पर गर्व मतकर और इस नश्वर संसार में जन्म-मृत्यु के बंधन को देखकर भी उसे मत भूल। कहने का तात्पर्य यह है कि यह समझले कि तुझे भी इस संसार से एक दिन जाना है। कबीर दास जी कहते हैं कि मैंने अपने अपने मन में यह विचार करके भली-भाँति समझ लिया है कि भगवान की भक्ति के बिना मनुष्य इस संसार में आवागमन के दुखों को बार बार उठाना पड़ता है।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास जी ने निर्विकार होकर प्रभु की भक्ति करने से ही इस जन्म-मरण के बंधन से मुक्त होने की बात स्वीकारी है।
- (2) 'देखि-देखि' में पुनरुक्ति प्रकाश अंलकार है।
- (3) पद में सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग है।

(30)

कासूँ कहिये सुनि रामाँ, तेरा मरम न जानै कोई जी।
 दास बबेकी सब भले, परि भेद न छानाँ होइ जी॥ टेक॥

ए सकल ब्रह्माण्ड, अरू दूजा महि थानं जी।।
 मैं सब घटि अंतरि पेषिया, जब देख्या नैन समौन जी।।
 राम रसाइन रसिक है, अद्भुत गति विस्तार जी।
 भ्रम निसा जी गत करे, ताहि सूझै संसार जी।।
 सिव सनकादिक नारदा, ब्रह्म लिया निज बास जी।
 कहै कबीर पद पंक्यजा, अष नेड़ा चरण निवास जी।। 30 ।।

शब्दार्थ :

मरम = रहस्य। बबेकी = विवेकी, ज्ञानी। सकल = सारा। पूरिया = व्याप्त होना। थान = स्थान। पेषिया = देख लिया। निसा = रात्रि। पंकज्या = पंकज, कमल का फूल। नेड़ा = निकट या समीप।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कबीरदास द्वारा रचित है। इस पद में कबीर दास जी ने राम के स्वरूप की गूढ़ता की ओर संकेत किया है।

व्याख्या :

कबीरदास जी कहते हैं हे राम। मेरी बात को सुनीए। मैं इस संसार में तुम्हारी महिमा का वर्णन किसके सामने करूँ। कहने का तात्पर्य यह है कि इस संसार में प्रभु की महिमा को समझने योग्य बहुत कम ही व्यक्ति है। इस संसार में तुम्हारे रहस्य को कोई भी नहीं जानता। इस संसार में केवल विवेकी अर्थात् ज्ञानी भगत ही सबसे अच्छे हैं परन्तु फिर भी वे आपके भेद को समझ पाने में असमर्थ है। हे प्रभु। आप इस समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं। और ऐसा कोई दूसरा स्थान नहीं जहाँ पर आपका स्थान व निवास न हो। मैंने अपने ही शरीर रूपी घर में देख लिया है अर्थात् मेरे अन्तर में आप ही विराजमान हैं- यह मैं जान सका हूँ और जब से मैंने आपको देख है तभी से मैंने अपने आपको आपके समान बना लिया है अर्थात् आपके रंग में रंग लिया है। इस संसार में जो भी व्यक्ति राम रूपी रसायन को चाहने वाला है इस संसार में उस रसिक की दशा बड़ी ही विचित्र होती है। जिस व्यक्ति ने अपने मन पर छाई भ्रम रूपी यात्री को हटा दिया है, वही व्यक्ति इस संसार की वास्तविक दशा को समझ सकता है। शिव, नारद, सनक, सनंद आदि ऋषियों ने भी ब्रह्म को ही अपना निवास स्थान बना लिया। कबीर दास जी कहते हैं कि अब मैंने भी प्रभु के चरण कमल के समीप ही अपना निवास स्थान बना लिया है अर्थात् अब मैं भी उन्हीं के चरणों में लीन रहता हूँ।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास जी ने परमात्मा के स्वरूप के गूढ़ रहस्य तथा भक्ति की तीव्र अनुभूति का वर्णन किया है।
- (2) राम रसायन, 'भ्रम-निवास' 'पद पंकज' आदि में रूपक अंलकार है।
- (3) अनुप्रास अंलकार की छटा सर्वत्र बिखरी हुई है।
- (4) पद में सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है।

(31)

मैं डोरे डोर जाँऊँगा,
 तो मैं बहुरि न भौजलि आँऊँगा। टेक।।
 सूत बहुत कुछ थोरा, तारै लाइ ले कंथा डोरा।

कथा डोरा लागा, तथ जुरा मरण भौ भागा।।
 जहाँ सूत कपास मे पूनी, तहाँ बसे इक मूनी।
 उस मुनीं सूँ चित लाऊँगा, तो मैं बहुरि न भौजलि आँऊँगा।।
 मेरे डंड इस छाजा, तहाँ बसे इस राजा।
 तिस राजा सूँ चित लाँऊँगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आँऊँगा।।
 जहाँ बहु हीरा धन मोती, तहाँ तत लाइ ले जोती।
 तिस जोतिहीं जोति मिलाँऊँगा, तौ मै बहुरि न भौजलि आँऊँगा।।
 जहाँ ऊँगेँ सूर न चंदा, तहाँ देख्या एक अनंदा।
 उस आनंद सूँ लौ लाँऊँगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आँऊँगा।।
 मूल बंध इक पावा, तहाँ सिध गरोश्वर रावों।
 तिस मूलहिं मूल मिलाँऊँगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आँऊँगा।
 कबीरा तालिब तेरा, तहाँ गोपत हरी गुर मोरा।
 तहाँ हेत हरि चित लाँऊँगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आँऊँगा।। 31 ।।

शब्दार्थ :

डोरे-डोरे = साधनारूपी डोरी के सहारे। भौजलि = भवसागर। थोरा = थोड़ा, कम। जुरा = व द्वासरथा। भौ = भय। पूनी = सूत कातने के बाद की वस्तु। मूनी= मुनि, यहाँ पर ब्रह्म से तात्पर्य है। मेरे डंड = मेरुदंड। राजा = ब्रह्म, आत्माराम। जोतिहीं= ज्योति से ज्योति। सूर = सूर्य। अनंदा = आनंद स्वरूप भगवान। मूलबंध = मूलाधार। गणेश्वर रखाँ= सिद्ध पति गणेश, कुण्डलिनी। तालिब = धर्म-गुरु।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीर दास जी द्वारा रचित है। इस पद में कबीर दास जी ने योग-साधना के द्वारा ईश्वर के दर्शन करने व उन्हीं में आसक्त होने की कामना की है।

व्याख्या :

कबीरदास जी कहते हैं कि मैं योग-साधना रूपी डोरी के सहारे-सहारे शून्य चक्र या गंगन मंडलकी ओर जाऊंगा और एके बार शून्य चक्र मे पहुँच गया तो फिर उसके पश्चात मुझे इस संसार में दुबारा नहीं आना पड़ेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि योग साधना द्वारा कुण्डलिनी को जाग त करने के पश्चात् साधक अपने शून्य चक्र में उस परमतत्त्व के दर्शन कर लेता है और फिर वह जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है।

कबीरदास जी कहते हैं कि यद्यपि मेरे पास कर्म रूपी सूत थोड़ा सा ही है और उसी थोड़े से सूत को मैंने अपने शरीर रूपी कंधे पर धारण कर लिया है। जैसे ही मैंने इस कर्म रूपी सूत को शरीर रूपी कंधे पर डाला, तभी मेरे हृदय से व द्वावरथा व म त्त्यु का भय भाग गया। जिस स्थान पर न तो सूत है, न कपास है और नहीं पूनी है अर्थात् जहाँ पर सांसारिक उपकरण नहीं है वहाँ ब्रह्म का निवास है। मैं उसी ब्रह्म में अपने चित्त को आसक्त अथवा लीन कर दूँगा और इसके पश्चात मैं इस संसार में दुबारा नहीं आऊँगा।

कबीर दास जी कहते हैं कि जिस स्थान प न तो सूर्य और न ही चन्द्रमा उदय होते हैं उसी स्थान पर मैंने एक आनंद स्वरूप तत्त्व को देखा है, मैं अब उसी आनन्द स्वरूप तत्त्व से अपनी लौ अर्थात् आत्मा को मिला दूँगा और उसके बाद मैं इस संसार मे दुबारा नही आऊँगा। मेरे शरीर में एक मूलाधार चक्र है जिसके सिद्धपति गणेश अर्थात् कुण्डलिनी सुप्तावरथा मैं है।

मैं उसी कुण्डलिनी को जाग्रत करके सहस्रार तक पहुँचा दूंगा और उसके बाद मैं इस संसार में दुबारा नहीं आऊँगा। कबीरदास जी कहते हैं कि जहाँ पर तुम्हारा धर्म गुरु है वहीं पर मेरे हरि रूपी गुरु विराजमान हैं। मैं उसी हरि रूपी गुरु में अपना चित्त लगा दूँगा और उसके बाद इस संसार में दुबारा नहीं आऊँगा।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीरदास जी ने ईश्वर को विविध नामों से अभिहित करके उसके स्वरूप में अपनी आत्मा को मिला देने की कामना की है।
- (2) सम्पूर्ण पद में अनुप्रास अंलकार की छटा विद्यमान है।
- (3) 'डौरे -डौरे' में पुनरुक्ति अंलकार की योजना है।
- (4) सम्पूर्ण पद में रूपक अंलकार की योजना है।
- (5) योग साधना के अनुरूप परम्परागत प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।
- (6) पद रहस्यवाद से परिपूर्ण है।
- (7) सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है।

(32)

संतो धागा टूटा गगन बिनसि गया, सबद जु कहीं समाई।
 ए संसा मोहि निस दिन ब्यापै, कोई न कहें समझाई॥ टेक॥
 नहीं ब्रह्माण्ड प्यंडं पुनि नाँही, ए गुंरा कहीं समौही॥
 इला प्यगुंला सुखमन नाँही, ए गुंणा कहीं समौही॥
 नहीं ग्रिह द्वार कछू नहीं, तहियाँ, रचन हार पुनि नाँही॥
 जीवनहार अतीत सदा संगि, ये गुंरा तहाँ समौही॥
 तूटै बंधे पुनि तूटै, तब तब होइ बिनासा॥
 तब को ठाकुर अब को सेवग, को काकै बिसवासा॥
 कहै कबीर यहु गगन न बिनसैं, जौ धागा अमाँनाँ॥
 सीखें सुने पढ़े का होई, जौ नहीं पदहि समौना॥ 32॥

शब्दार्थ :

धागा = जीवन रूपी सूत्र। बिनसि = नष्ट होना। सबद = अनहदनाद। संसा = संशय। प्यंड = पिंडा पंचतत = अग्नि, वायु, पृथ्वी, जल, आकाश ये पाँच तत्त्व। इला = इड़ा नाड़ी। प्युंगल = पिंगला नाड़ी। सुखमन = सुषुम्ना नाड़ी। ग्रिह = घर। रचनहार = रचना करने वाला। तुटे = टूटता है। उनाँमानाँ = उन्मन अवस्था।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीरदास जी द्वारा रचित है। इस पद में वे इस संसार को नश्वर मानते हुए परमतत्त्व को अविनासी मानकर कहते हैं कि :-

व्याख्या :-

हे सन्तो! जीवन रूपी धागे के टूट जान से अब गगन अर्थात् ध्यान की अवस्था भी समाप्त हो गई है। फिर ऐसी दशा

में अनहद नाद किस स्थान पर समाएगा। मुझे तो अब यही संशय दिन-रात लगा रहता है कि साधना के नष्ट होने से अब परमात्मा से मिलन कैसे होगा? और कोई भी व्यक्ति मेरे इस संशय को अपने विचारों द्वारा समझाकर दूर नहीं कर सकता है। जीवन रूपी धागे के टूटने के पश्चात न तो ब्रह्माण्ड ही शेष रहता है और न ही पिंड शेष रहता है, यहाँ तक कि पाँचों तत्व भी शेष नहीं रहते। शरीर में इड़ा, पिगंला व सुषुम्ना नाडियाँ भी नहीं रहती। अब यह संशय उठता है कि ऐसी अवस्था में उनके वे गुण कहाँ समा जाते हैं अर्थात् नष्ट हो जाते हैं। जीवन रूपी सूत्र के टूटने के बाद न तो घर और न द्वार शेष रहता है और उसके साथ-साथ उसकी रचना करने वाला भी शेष नहीं रहता।

कबीर दास जी उस संशय का उत्तर देते हुए कहते हैं कि जीवन रूपी धागा टूट जाने के बाद वह अपने पुराने साथी जीवन हार अर्थात् उस ब्रह्म से मिल जाता है और उसके समस्त गुण भी उसी में समा जाते हैं। टूटा हुआ जीवन चक्र पुनः बँध जाता है और वह बंध कर पुनः टूट जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म यह चक्कर चलता रहता है और इस प्रकार नष्ट होने की यह क्रिया चलती रहती है। उस जन्म अर्थात् पहले का स्वामी इस जन्म में सेवक बन जाता है, इस संसार में कौन दूसरे पर विश्वास करता है अर्थात् कोई किसी पर विश्वास नहीं करता। कबीर दास जी कहते हैं कि इस ब्रह्म रूपी गगन का कभी नाश नहीं होता है, यदि इस ज्वीन रूपी धागे को उन्मानावस्था में उस ब्रह्म से जोड़ दिया जाए। कबीर दास जी कहते हैं कि धर्म-ग्रंथों के पढ़ने, सुनने से क्या होता है यदि मनुष्य प्रभु के चरणों में अपने आपको समर्पित नहीं कर देता।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास जी ने केवल परब्रह्म को अविनाशी बताकर उसी के प्रति समर्पित होने के भाव को अभिव्यक्त किया है।
- (2) सम्पूर्ण पद में परम्परागत (योग साधना के) प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।
- (3) पद में रूपक अंलकार व अनुप्रास अंलकार की छटा सर्वत्र व्याप्त हो रही है।
- (4) सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है।

(33)

ता मन काँ खोजहु रे भाई,

तन छूटे मन कहाँ समाई॥ टेक॥

सनक सनंदन जै देवनाँमी भगति करी मन उनहुँ न जानीं।

सिव विरंचि नारद मुनि ग्यानी, मन का गति उनहुँ नहीं जानीं॥

धू प्रहिलाद बभीषन सेषा, तन भीतर मन उनहुँ न देषा॥

ता मन को कोइ जानै भेव, रंचक लीन भया सुषदेव॥

गोरष भरथरी गोपीचंदा, ता मन साँ मिलि करै अनंदा॥

अकल निरंजन सकल सरीरा, ता मन साँ मिलि रहा कबीरा॥ 33 ॥

शब्दार्थ :

ता = उस। विरंची = ब्रह्मा। धू = ध्रुव भक्त। बभीषण = विभिषण। सेषा = शेषनाग। देषा = देखा। भेव = भेद। रंचक = तनिक या थोड़ा सा। सुषदेव = शुकदेव। गोरष = गोरखनाथ। अकल = सीमा से परे। सकल = सम्पूर्ण। सरीरा = शरीर।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीर दास द्वारा रचित है जिसमें उन्होंने मन की उस विरलगति को समझने का प्रयास किया है जिसे केवल निगुर्ण वादी संत ही समझ पाए हैं।

व्याख्या :

कबीर दास जी कहते हैं कि हे भाई। तुम अपने उस मन को खोजने का प्रयास करो जो इस नश्वर शरीर के समापत होने पर भी नष्ट नहीं होता है। उस मन को खोजने के लिए सनक, सनंद, सुकुमार जयदेव, नामदेव आदि ऋषियों ने भक्ति साधना की परन्तु फिर भी वे उस मन को नहीं खोज पाए। शिव, ब्रह्मा, नारद समेत अन्य ज्ञानी ऋषियों ने भी उस मन को खोजने का प्रयास किया परन्तु वे भी उसे खोज न पाए। ध्रुव, भक्त प्रह्लाद, विभीषण, शेषनाग आदि ने अपने शरीर के भीतर उस मन को देखने का प्रयास किया परन्तु वे भी उसे देख पाने में सफल न हो सके। कबीर दास जी कहते हैं कि केवल शुकदेव ही उस मन की गति के भेद को थोड़ा-बहुत जान पाए थे। जबकि गोरखनाथ, भक्तहरि, गोपीचन्द जैसे सिद्ध साधकों ने उस मन से मिलाकर असीम आनंद को प्राप्त किया। सीमा से परे तथा माया से परे वह परब्रह्म ही इस सम्पूर्ण शरीर में उस मन के रूप में विद्यमान है और अब उसी परब्रह्म रूपी मन से मिलकर कबीरदास आनंद पूर्वक रह रहे हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कबीरदास जी ने उस परमतत्त्व के दर्शन कर लिए हैं तथा उस मन के भेद को समझ लिया है।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास जी ने सगुण-भक्ति के उपासकों को परमतत्त्व के भेद को समझपाने में असमर्थता दर्शाकर तथा साधकों को उस के भेद को समझने में समर्थ दर्शा कर एक प्रकार से निगुर्ण-धारा की महत्ता को प्रतिष्ठित किया है।
- (2) पद में रूपक अंलकार है।
- (3) इस पद में कबीरदास जी ने उस परमतत्त्व को मन के नाम से अभिहित किया है।
- (4) सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है।

(34)

भाई रे बिरले दोसत कबीरा के, यहु तत बार बार कांसो कहिए।
 भानण धडण सँवाररा संवाररा संग्रथ, ज्यूँ राषै त्यूँ रहिए॥ टेक॥
 आलम दुनों सबै फिरि खोजी, हरि बिन सकल अयानाँ।
 छह दरसन छयानबै पाषंड, आकुल किनहुँ न जानाँ॥
 जप तप संजम पूजा अरचा, जोतिग जग बौरानाँ॥
 कागद लिखि लिखि जगत मुलानाँ, मनहीं मन न समानाँ॥
 कहै कबीर जोगी अरु जंगम, ए सब झूठी आसा।
 गुर प्रसादि रटौ चात्रिग ज्यूँ, निहचै भगति निवासा॥ 34॥

शब्दार्थ :

विरले = दुर्लभ, थोड़े ही। तत = तत्त्व, सार। कांसो = किससे। भानण = भरण। धडण = गढ़ना, बनाना। राषै = राखे। संग्रथ = सर्प, परमात्मा। आलम = संसार के लोग। दुनि = दुनिया। अयानां = अज्ञानी। पाषंड = पाखंड। अरचा = अर्चना। जोतिग = ज्योतिष। बौरानाँ = पागल हो गया है। जंगम = स्थावर, यहाँ पर लिंगायत सम्प्रदाय के साधु से अभिप्राय है।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीर दास जी द्वारा रचित है। इस पद में कबीरदास जी ने गुरु प्रसाद के द्वारा ही प्रभु की प्राप्ति को सम्भव माना है।

व्याख्या :

कबीरदास जी कहते हैं कि मेरे तो इस संसार में विरले ही दोस्त हैं। कहने का तात्पर्य है कि साधना का मार्ग अत्यन्त कठिन है जिस पर सहयोग देने वाले बहुत कम ही मित्र मिलते हैं। कबीरदास कहते हैं कि मैं इस सार को बार-बार किस-किस को समझाऊँ कि वह परमात्मा जो भरण करने, बनाने और सर्वाने में समर्थ है, वह तुम्हें जिस प्रकार रखना चाहता है, तुम सभी को उसी प्रकार रहना चाहिए। मैंने इस संसार के लोगों और दुनिया में घुम-घुम कर यह देख लिया है कि उस प्रभु के बिना संसार अज्ञानी है। यद्यपि इस संसार में उस परमतत्त्व को समझने के लिए न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मसीहा, वेदांत ये छह दर्शन और बारह योगी, अठारह जंगम, चौबीस शेवड़ा, दस सन्यासी, चौदह दरवेश और अठारह ब्राह्मणों समेत छियानन्बे पाखंड प्रचलित हैं परन्तु वे भी उस परमतत्त्व को जानने के लिए व्याकुल हैं अर्थात् वे भी उसे समझ नहीं पाए हैं। इस संसार में जप, तप, संयम, पूजा, अर्चना, ज्योतिष आदि के प्रभाव में पड़कर सारा संसार पागल बना हुआ है। स्वयं को ज्ञानी समझने वाले लोग ग्रंथों पर ग्रंथ लिखते जा रहे हैं और गर्व के कारण अपने आपमें फूले नहीं समा रहे हैं। कबीर दास जी कहते हैं इस संसार में अवधूत योगी और लिंगायात साधु अर्थात् जंगम झूठी आशा लगाए बैठे हैं कि उनके पाखंड से उन्हें परमात्मा की प्राप्ति होगी। जब गुरु की क पा से चातक के समान साधक को एक भाव से ईश्वर के प्रति आसक्ति होती है तभी उसे उस भक्ति के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति होती है।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीरदास जी ने धर्म में अन्य कर्मकाण्डों का विरोध करके गुरु क पा व योग साधना के द्वारा ही ईश्वर की प्राप्ति को सम्भव माना है।
- (2) 'बार-बार', 'लिखि-लिखि' आदि में पुनरुक्ति प्रकाश अंलकार है।
- (3) सम्पूर्ण पद में अनुप्रास अंलकार है।
- (4) सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग है।

(35)

कि तेक सिव संकर गए ऊटि,

रौम सँमाधि अजहूँ नहिँ छूटि॥ टेक॥

प्रलै काल कहूँ कितेक भाष, गये इद्र से अगरिात लाष।

ब्रह्मा खोजि परयो गहि नाल, कहे कबीर वै रौम निराल॥ 35॥

शब्दार्थ :

कितेक = कितने ही। अजहूँ = अभी भी। प्रलै = प्रलय। लाष = लाख। गहि = पकड़कर। नाल = कमल नाल। निराल = निराला।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीर दास द्वारा रचित है। इस पद में उन्होंने राम के रहस्यमयी स्वरूप का वर्णन किया है।

व्याख्या :

कबीरदास जी कहते हैं कि इस संसार में न जाने कितने ही शिव शंकर समाधि अवस्था लगा कर उठ गए परन्तु प्रभु की समाधि अभी तक नहीं छूटी है। कहने का तात्पर्य यह है कि राम ही अन्तिम सत्य हैं और वे अविनाशी हैं। प्रलय के समय

के बारे में क्या बताया जाए क्योंकि अनगिनत लाखों इन्द्र भी उसमें नष्ट हो गए। यद्यपि ब्रह्मा ने अपनी उत्पत्ति के बाद कमल की नाल को पकड़कर उसका अंतिम छोर पकड़ने का प्रयास किया। परन्तु वे उसे पकड़ न सके। कबीर दास जी कहते हैं कि उस कमल की नाल की सृष्टि करने वाले राम वस्तुतः निराले हैं।

विशेष :

- (1) इस पद में राम की समाधि की दीर्घावस्था का वर्णन करने के लिए ही शिव की समाधि के टूटने की बात कही है क्योंकि स्वयं शिव ही करोड़ों वर्षों तक समाधि-अवस्था में रहते हैं।
- (2) 'सिव संकर' 'कहे कबीर' में अनुप्रास तथा 'काल कहूँ कितेक' में व त्यानुप्रास अंलकार है।
- (3) पद में सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है।

(36)

अच्यंत च्यंत ए माधो, सो सब मॉहि समौनों।
ताहि छाड़ि जे आँन भजत हैं, ते सब भ्रमि भुलौनों॥ टेक॥
ईस कहै मैं ध्यान न जानूँ, दूरलभ निज पद मोहीं।
रचकं करुणों काररिा केसों, नाम धरराा कों ताहीं॥
कहौ धौं सबद कहां थै आवैं, अरू फिर कहाँ समाई।
सबद अतीत का मरम न जानै, भ्रमि भूली दुनियाई॥
प्यंड मुकति कहाँ ले कीजे, जौ पद मुकति न होई।
प्यंडे मुकति कहत है मुनि जन, सबद अतीत था सोई॥
प्रगट गुपत गुपत पुनि प्रगट, सोकत रहै लुकाई।
कबीर परमानंद मनाये, अकथ कथ्यो नहीं जाई॥ 36॥

शब्दार्थ :

अच्यंत = अचिंतनीय। च्यंत = चिंतन करो। सो = वही। आँन = दूसरों को। ईस = शंकर। रचक = थोड़ी-सी। प्यंड = पिंड। लुकाई = छिपे रहना। अकथ = जिसे कहा न जा सके।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीरदास जी द्वारा रचित हैं। इस पद में उन्होंने निर्गुण परब्रह्म की धारणा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि -

व्याख्या :

उस अचिंतनीय माधव अथवा परब्रह्म का चिंतन करो क्योंकि वही परब्रह्म सभी में समाया हुआ है। जो व्यक्ति उस परब्रह्म को छोड़कर किसी दूसरे देवी-देवता की उपासना करते हैं, वास्तव में वे सभी भ्रम में पड़े हुए हैं। स्वयं शंकर कहते हैं कि मैं भी उस परब्रह्म का ध्यान करना नहीं जानता हूँ और उन्हें प्राप्त करने का पद या अवस्था मेरे लिए भी दुर्लभ है। उस केवश अर्थात् परब्रह्म की थोड़ी-सी करुणा से ही मुझे उसके नाम स्मरण की शक्ति प्राप्त हो गई है।

कबीरदास जी कहते हैं कि यह अनहदनाद कहाँ से उत्पन्न होता है और फिर कहाँ जाकर किस में समा जाता है? शब्द से परे उस परब्रह्म के रहस्य को कोई भी व्यक्ति नहीं जान सका है और यह सारी दुनिया उसे मंदिर, मस्जिद आदि में खोजने के भ्रम में पड़ी हुई है। इस पिंड की मुक्ति प्राप्त करने से कोई लाभ नहीं है यदि परब्रह्म में विलिन करने वाले पद की मुक्ति प्राप्त न हो। यद्यपि मुनिजन इस पिंड की मुक्ति को ही सच्ची मुक्ति कहते हैं परन्तु वह परब्रह्म तो शब्द से भी परे

शब्दातीत है। वह प्रकट होकर छिप जाता है और फिर से प्रकट हो जाता है और इस प्रकार न जाने वह कहाँ जाकर छिप जाता है। कबीर दास जी कहते हैं कि मैंने उस परम पद को प्राप्त कर लिया हूँ तथा उस आनंद का केवल अनुभव किया जा सकता है, उस परब्रह्म के स्वरूप को तो शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता है।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीरदास जी ने शब्दातीत, निराकर, निगुर्ण, परब्रह्म के स्वरूप की रूपरेखा की झलक को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।
- (2) पूरे पद में अनुप्रास अंलकार की छटा दर्शनीय है।
- (3) कबीरदास जी ने निगुर्ण ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उसे माधो, केशव आदि नामों से अभिहित किया है।
- (4) सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग किया है।

(37)

सो कछू विचारहु पंडित लोई,

जाकै रूप न रेष बरसा नहीं कोई ॥ टेक ॥

उपजै प्यंड प्रान कहाँ थैं आवै, भूवा जीव जाइ कहाँ समावै।

इंद्री कहाँ करिहि विश्रामा, सो कत गया जो कहता रामाँ ॥

पंचतत तहाँ सबद न स्वादं, अलख निरंजन विद्या न बाद।

कहै कबीर मन मनहि समानाँ, तब आगम निगम झूठ करि जानाँ ॥ 37 ॥

शब्दार्थ :

सो = उस। लोई = लोग। रेष = रेखा। बरण = वर्ण। प्यंड = पिंड। भूवा = म त। इंद्री = इन्द्रियाँ। पंचतत = अग्नि, वायु, पृथ्वी, जल व आकाश ये पाँच तत्त्व। बाद = वाद। आगम निगम = वेद, शास्त्रादि।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीरदास जी द्वारा रचित हैं इस पद में कबीरदास जी ने निगुर्ण, निराकार ब्रह्म के संबंध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि-

व्याख्या :

हे पंडितो! जिस परब्रह्म का न तो कोई रूप है, न कोई रेखा है, न ही उसका कोई वर्ण है, उस परब्रह्म पर विचार करो। तुम सोचो कि इस शरीर रूपी पिंड के उत्पन्न होने पर इसमें प्राण कहाँ से आते हैं, जब प्राणी मर जाता है तब वे प्राण कहाँ जाकर किसमें समा जाते हैं? इन्द्रियाँ कहाँ पर विश्राम करती हैं, जो जीवात्मा रूपी हंस राम नाम का स्मरण करता था, वह कहाँ पर चला जाता है? जिस स्थान पर न तो पाँचों तत्त्व-अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, आकाश हैं, जहाँ पर न ही शब्द और स्वाद हैं, जहाँ पर न कोई विधा है और न ही किसी प्रकार का वाद हैं, उस स्थान पर केवल अलख निरंजन वास करता है। कबीरदास जी कहते हैं कि जब से मेरा चंचल मन अंतर्मुखी होकर अपने मन अर्थात् परब्रह्म में अनुरक्त हो गया है तब से ही वेद पुराण आदि मुझे झूठे लगने लगे हैं।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास जी ने धर्म-शास्त्रों का खंडन करते हुए परमात्मा को मानव-शरीर के अन्दर ही होने के भाव को व्यक्त किया है।
- (2) पद में अनुप्रास अलंकार है।

(3) सधुक्कड़ी भाषा हैं।

(38)

जों पै बीज रूप भगवाना,
 तौ पंडित का कथिसि गियाना॥ टेक॥
 नहीं तन नहीं मन नहीं अंहकारा, नहीं सत रज तम तीनि प्रकारा॥
 विष अम त फल फले अनेक, बेद रूप बोधक है तरु एक॥
 कहै कबीर इहे मन माना, कहि धूँ छूट कवन उरझाना॥ 38 ॥

शब्दार्थ :

बीज = मूल। बोधक = ज्ञान। छूट = मुक्त। उरझाना = उलझा हुआ।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीर दास द्वारा रचित हैं। इस पद में कबीरदास जी उस निराकार, निर्गुण, त्रिगुणातीत परब्रह्म के संबंध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि -

व्याख्या :

यदि इस संसार या सृष्टि की उत्पत्ति का मूल बीज वह परब्रह्म ही है तो फिर पंडित लोग किस ज्ञान की कथा कहते हैं। उस परब्रह्म का न तो कोई शरीर है, न ही उसका मन है, और न ही उसमें अंहकार है। वह तीनों प्रकार के गुणों - सत, रज, तम, कर्म इनसे परे है। वेद और सारे ज्ञान अर्थात् दर्शन इस बात को स्वीकार करते हैं कि कर्म ही एक व क्ष हैं जिस पर विष और अम त के फल लगते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कर्मानुसार ही फल की प्राप्ति होती है।

कबीरदास जी कहते हैं कि अधिकांश लोगों ने पंडितों की इसी बात को मान लिया है और अब उनका मन उसमें उलझ कर रह गया है। उस मन को उस बंधन से कैसे मुक्त किया जा सकता है।

विषेश :

- (1) इस पद में कबीरदास जी ने सांख्य, योग आदि दर्शनों की विचारधारा का विरोध किया है तथा निर्गुण परब्रह्म को गुणातीत माना है।
- (2) प्रथम पंक्ति में वक्रोक्ति अंलकार है।
- (3) परम्परागत प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।
- (4) सधुक्कड़ी भाषा है।

(39)

पांडेँ कौन कुमति तोहि लागी,
 तूँ राम न जपहि अभागी॥ टेक॥
 बेद पुरान पढ़त अस पाँडे, खर चंदन जैसे भारा।
 रामेँ नामेँ तत समझत नाँही, अंति पड़े मुखि छारा॥
 बेद पढ्यौँ का यहु फल पांडे, सब घटि देखेँ राँमा।
 जन्म मरन थेँ तौ तूँ छूटे, सुफल हूँहि सब काँमाँ॥

जीव बधत अरु धरम कहत हौ, अधरम कहौ है भाई।
 आपन तौ मुनिजन है बैटे, का सनि कहौ कसाई।।
 नारद कहै व्यास यौ भाषै, सुखदेव पूछौ जाई।
 कहै कबीर कुमति तब छूटै, जे रहौ रामै ल्यौ लाई।। 39 ।।

शब्दार्थ :

कुमति = दुर्बुद्धि। अभागी = भाग्यहीन। अस = ऐसे। खर = गधा। तत = तत्त्व, सार। छारा = धूल, राख। बधत = वध करके।
 सुखदेव = शुकदेव।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीरदास द्वारा रचित है। इस पद में उन्होंने हिन्दू धर्म के तथा कथित धर्माधिकारियों अर्थात् पंडितों के पाखंड का विरोध किया है।

व्याख्या :

कबीरदास जी कहते हैं कि हे पंडित। यह कैसी दुर्बुद्धि तुम्हारे पिछे लग गई है। हे अभागे ! तू उस परब्रह्म के नाम का स्मरण क्यों नहीं करता। तुम वेद-पुराण के मूल भाव को समझ या ग्रहण किए बिना उसके शब्द-ज्ञान को अपने सिर पर ऐसे ही लादे फिरते हो जिस प्रकार गधा अपने ऊपर लदे चंदन की सुगंध का आनंद उठाए बिना ही उसे (चन्दन को) भार के समान ढोहता रहता है। हे पंडित। यदि तू राम नाम के सार को नहीं समझेगा तो अन्त समय में तेरे मुख में धूल पड़ेगी।

कबीरदास जी कहते हैं कि वेद पढ़ने का फल तो यह होना चाहिए कि तू सभी जीवों को एक समान भाव से देखे ताकि तेरा जन्म-मृत्यु के बंधन से छूटकारा हो जाए और तेरे सभी कर्म सफल सिद्ध हो जाए। परन्तु ! तूने वेदों को पढ़ने के बाद जीव हत्या को ही धर्म कह दिया (वेदिकी हिंसा, हिंसा न भवति) तो अब तू ही बता कि अधर्म कहाँ पर है। यदि जीव-हत्या को धर्म कहकर तू स्वयं को मुनि या साधु मानने लगा है, तो मुझे बता कि फिर कसाई को क्या कहा जाए? कबीरदास जी कहते हैं कि -नारद जी कहते हैं, व्यास जी यूँ बोलते हैं और शुकदेव जी पूछने पर बताते हैं कि याद राम-नाम से आसक्ति करोंगे तभी दुर्बुद्धि से तुम्हारा पीछा छूट सकता है।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास ने अपने अकाट्य तर्कों से हिन्दू-धर्म में प्रचलित पाखंड का विरोध करते हुए राम-प्रेम में लीन होने के लिए कहा है।
- (2) नारद, व्यास, शुकदेव आदि का उल्लेख करके सच्ची भक्ति का पक्ष लिया गया है।
- (3) 'वेदभारा' में उपमा अंलकार है।
- (4) 'जीव कसाई' में वक्रोक्ति अंलकार है।
- (5) पूर्ण पद में अनुप्रास अंलकार की छटा दर्शनीय है।
- (6) सधुक्कड़ी भाषा है।

(40)

पंडित बाद बंदते झूठा।

राम कइयाँ दुनियाँ गति पावे, बाँड कइयाँ मुख मीठा।। टेक।।

पावक कहाँ पाव जे दाझें, जल कहि त्रिषा बुझाई।
 भोजन कहाँ भूष जे भाजैं, तो सब कोई तिरि जाई।।
 नर कै साथि सूवा हरि बोलै, हरि परताप न जानै।
 जो कबहूँ उडि जाइ जँगल में, बहुरि न सुरतैं आनै।।
 साची प्रीति बिषे माया सँ, हरि भगतनि सँ हासी।
 कहै कबीर प्रेम नहीं उपज्यौ, बाँध्यौ जमपुरि जासी।। 40।।

शब्दार्थ :

बाद = मत या वाद। षांड = खांड। पावक = आग। दाझें = जलना। त्रिषा = प्यास। भूष = भूख। तिरि = सद्गति प्राप्त होना। सूवा = तोता। सुरतैं = स्मरण। विषे = विषय-वासना। सँ = से। जमपुरी = यमपुरीन, नरक।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीरदास द्वारा रचित है। इस पद में कबीर दास जी ने पंडितों के झूठे आडम्बरों पर करारा व्यंग्य करते हुए कहा है कि -

व्याख्या :

ये पण्डित झूठे मत या वाद की बातें कहते रहते हो। कहने का तात्पर्य यह है कि उनकी बातें अनुभव से विहीन होती हैं तथा वे केवल पोथी-पुराण की बातों को भक्ति मान लेते हैं। जिस प्रकार मुँह से केवल 'खांड' शब्द कह देने से ही मुँह मीठा नहीं जो जाता है, ठीक उसी प्रकार केवल राम कह देने से सद् गति प्राप्त नहीं हो सकती है। यदि 'आग' शब्द को उच्चरित करने से ही पाँव नहीं जलते हैं, केवल जल कह देने से प्यास नहीं बुझती है, 'भोजन' कह देने से भूख समाप्त नहीं होती है उसी प्रकार केवल 'हरि' कह देने से ही इस भवसागर से पार नहीं उतरा जा सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि 'भोजन' कह देने से ही भूख मिट जाती तो हरि कहने से ही भवसागर से पार उतरा जा सकता था।

कबीर दास जी कहते हैं कि यद्यपि मनुष्य के साथ-साथ घर में पालतु तोता भी 'हरि' हरि नाम का उच्चारण करता है परन्तु 'हरि' शब्द कह देने से ही वह परब्रह्म के दिव्य रूप, शक्ति आदि का अनुमान नहीं लगा सकता। यदि अवसर दिया जाए तो वह तोता पिजड़े से निकलकर जंगल में उड़ जाएगा और फिर उसके बाद उसे कभी भी 'हरि' शब्द का स्मरण करना याद नहीं रहेगा। इस संसार में सभी लोग माया, विषय-वासना आदि से सच्ची प्रीति करते हैं जबकि वे प्रभु के भक्तों की हँसी उड़ाते हैं। कबीरदास जी कहते हैं कि जिस व्यक्ति के मन में राम के प्रति सच्चा प्रेम नहीं है वह अन्त में यमपुरी को जाएगा।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीरदास ने व्यर्थ के वाद, मत आदि को त्याग कर सच्चे मन से राम के प्रति प्रेम करने का आह्वान किया है।
- (2) अनेक दृष्टांत दिए गए हैं अतः यहाँ पर दृष्टांत अंलकार है।
- (3) पद में अनुप्रास अंलकार की छटा दर्शनीय है।
- (4) सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग है।

(41)

जौ पै करता बरसा बिचारै,

तौ जनमत तीनि डौंड़ि किन सारे।। टेक।।

उत्पत्ति ब्यँदें कहीं थें आया, जो धरी अरू लागी माया।
 नहीं को ऊँचा नहीं का नीचा, जाका पयंड ताही का सींचा।।
 जे तूँ बाँभन बभनी जाया, तो आँन बांट है काहे न आया।
 जै तूँ तुरक तुरकनी जाया, तो भीतरि खतनों क्यूँ न कराया।।
 कहै कबीर मधिम नहीं कोई, सो मधिम जा मुखि राम न होई।। 41 ।।

शब्दार्थ :

करता = कर्ता, परमात्मा। बरण = वर्ण। तीनि डाँडि = तीन डंडो या रेखाओं का तिलकै। किन = कर देता। ब्यँद = बूँद। प्यंड = पिंड। जाका = जिसका। ताही का = उसी का। सींचा = सिंचित है। बाँभन = ब्राह्मण। जाया = उत्पन्न हुआ। आन = दूसरा। बाँट = मार्ग। तुरक = मुस्लमान। मधिम = नीच, हीन।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीर द्वारा रचित है। इस पद में कबीर दास जी ने समाज में प्रचलित वर्ण व्यवस्था व जाति-पाति के भेदभाव पर करारा व्यंग्य किया है।

व्याख्या :

कबीरदास जी कहते हैं कि यदि इस सृष्टि का कर्ता अर्थात् परमात्मा ही वर्ण व्यवस्था पर विचार करता अर्थात् यदि वह ऊँच-नीच के भेदभाव से लोगों की रचना करता तो वह हिन्दुओं में सभी ब्राह्मणों के जन्म के समय ही उनके माथे पर तीन रेखाओं को खींचकर तिलक बना देता।

कबीरदास जी मानव-मात्र से भेद भाव करने वाले लोगों से पूछते हैं कि तुम मुझे बताओ कि मानव उत्पत्ति की मूल बूँद (वीर्य) कहाँ से आया। उसे माया ने धारण किया और माया ने ही उसे अपने अन्दर समा लिया। इसलिए संसार में न तो कोई ऊँचा यानी ऊँच जाति का है और न ही कोई छोटा या नीच जाति का है क्योंकि सभी मनुष्य जिस पिंड अर्थात् परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं उसी से सिंचित भी हैं।

कबीर दास जी हिन्दू-मुसलमान के बीच के भेदभाव पर व्यंग्य करते हुए कट्टर ब्राह्मणों से पूछते हैं कि हे ब्राह्मण। यदि तू वास्तव में मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ है तो फिर तू अपनी ब्राह्मणीमाता की योनी-मार्ग से ही क्यों आया। तुझे तो दूसरे मार्गों से आना चाहिए था क्योंकि नीच जाति के व्यक्ति भी उसी मार्ग से संसार में आते हैं। वे कट्टर मुसलमानों से पूछते हैं कि यदि तू सच्चा मुसलामन है और मानव मात्र से भिन्न है तो फिर तूने अपनी माँ के पेट में रहते हुए ही खतना क्यों नहीं करवा लिया। कहने का तात्पर्य यह है कि जाति, धर्म, आदि के आधार पर समाज का बटँवारा मनुष्य ने किया है। कबीरदास जी कहते हैं कि संसार में जाति से कोई भी व्यक्ति नीच नहीं है। केवल वे व्यक्ति ही नीच हैं जो अपने मुख से परब्रह्म का स्मरण नहीं करते।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीरदास जी की निर्भीकता, विद्रोहधर्मिता, मानवता आदि की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। इस पद में वे समाज सुधारक के रूप में भी दिखाई देते हैं।
- (2) राम-नाम के स्मरण करने वाले व्यक्ति को ही कबीर दास सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।
- (3) "जे तूँ बाँभनन कराया" में व्यंग्य व वक्रोक्ति अंलकार है।
- (4) सधुक्कड़ी भाषा है।

(42)

कथता बकता सुनता सोई, आप विचारै सो ग्यानी होई॥ टेक॥
 जैसे अगनि पवन का मेला, चंचल बुद्धि का खेला॥
 नव दरवाजे दसूँ दुवार, बुझि रे ग्यानि ग्यान विचार॥
 दे हौ माटी बोलै पवनों, बूझिरे ग्यानि मूवा स कौनों॥
 मुई सुरति बाद अंहकार, वह न मूवा जो बोलणहार।
 जिस कारनि तरि तीरथि जाँदी, रतन पदारथ घटहीं माहीं॥
 पढ़ि पढ़ि पंडित बेद बषाणै, भीतरि हूती बसत न जाणै॥
 हूँ न मूवा मेरी मुई बलाई, सो न मुवा जो रहया समाई॥
 कहै कबीर गुरु ब्रह्म दिखाया, मरता जाता नजरि न आया॥ 42॥

शब्दार्थ :

कथता = कहने वाला। बकता = बोलने वाला, सुनता = सुनने वाला। दसूँ - दुवार = दसवाँ द्वार, ब्रह्म द्वार। नव दरवाजे = नौ दरवाजे अर्थात् इन्द्रियाँ। देहौ = देह, शरीर। पवनों = पवन या प्राण। बोलनहार = बोलने वाला मूल तत्त्व। घटहीं = शरीर में ही। बषावै = बखान करते हैं। बलाई = बला, यहाँ पर माया से तात्पर्य है।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीर दास द्वारा रचित है। इसमें उन्होंने आत्मा व परमात्मा को अमर बताते हुए कहा है कि

व्याख्या :

जो व्यक्ति अपने मन को अन्तर्मुखी करके अपने आप पर विचार करता है, वहीं सच्चा ज्ञानी होता है और फिर वही स्वयं को कहने वाला, बताने वाला तथा स्वयं ही सुनने वाला हो जाता है। जिस प्राकर आग और हवा के मेल से प्रचंड ज्वाला उत्पन्न होती है, उसी प्रकार यह संसार चंचल बुद्धि का खेल है। इस शरीर रूपी घर में इन्द्रियाँ रूपी नौ दरवाजे हैं तथा दसवाँ द्वार ब्रह्मरूढ़ है। इस ज्ञान-विचार को केवल सच्चा ज्ञानी ही समझ सकता है। इस मिट्टी की देह अर्थात् शरीर में वायु अर्थात् प्राण ही बोलता है। केवल ज्ञानी व्यक्ति इसबात को समझ सकता है कि इन दोनों में से अर्थात् मिट्टी व वायु दोनों में से किसकी म त्तु होती है। कबीरदास जी कहते हैं कि वास्तव में सुरति (स्मरण), वाद (ज्ञान) तथा अंहकार की ही म त्तु होती है। इस शरीर में जो बोलने वाला मूलतत्त्व है वह कभी नहीं मरता है।

कबीरदास जी धर्म में पांखण्डों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जिस रत्न को प्राप्त करने के लिए लोग तीर्थ-स्थलों पर जाते हैं वास्तव में वह रत्न तो स्वयं उनके शरीर में विद्यमान है। यद्यपि पंडित लोग वेदों को पढ़कर उनका बखान करते हैं परन्तु उनके अपने शरीर में विद्यमान (परमतत्त्व) को पहचाने का प्रयास नहीं करते हैं। कबीरदास जी कहते हैं कि मैं नहीं मरा बल्कि बला रूपी माया मर गई है। इस शरीर में जो परमतत्त्व समाया हुआ था, वह भी नहीं मरा। कबीर दास कहते हैं कि मेरे गुरु ने मुझे परमात्मा के दर्शन करवा दिए हैं अब मुझे कोई भी मरता हुआ या जलता हुआ दिखाई नहीं देता है।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास जी ने आत्मा व परमात्मा को अनश्वर बताते हुए धर्म के नामपर पांखण्डों का विरोध किया है।
- (2) 'पढ़ि पढ़ि' में पुनरुक्ति प्रकाश अंलकार है।

- (3) 'नव दरवाजे दसूँ द्वार' में परम्परागत प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।
- (4) 'मूवा मेरी मुर्द' 'दरवाजे दसूँ द्वार' आदि में व त्यानुप्रास अंलकार हैं।
- (5) सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है।

(43)

हँम न मरें मरि हँ संसारा,
 हँम कूँ मिल्या जियावनहारा ॥ टेक॥
 अब न मरौं मरनै मन माँना, ते मूए जिनि रँम न जाँना॥
 साकत मरै संत जन जीवै, भरि भरि राम रसाँइन पीवै॥
 हरि मरिहँ तौ हमहूँ मरिहँ, हरि न मरै हँम काहे कूँ मरिहँ॥
 कहँ कबीर मन मनहिँ मिलावा, अमर भये सुख सागर पावा॥ 43॥

शब्दार्थ :

जियावनहारा = जीवित करने वाला। साकत = शाक्त। राम रसाँइन = राम रूपी रसायन। काहे कूँ = किस प्रकार से, किस लिए।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीरदास द्वारा रचित है। इस पद में उन्होंने परब्रह्म के अविनाशी होने के साथ-साथ आत्मा को भी अनश्वर बताया है।

व्याख्या :

कबीरदास कहते हैं कि अब भले ही यह संसार नष्ट हो सकता है परन्तु अब मैं कभी नहीं मरूँगा क्योंकि मुझे तो जीवित रखने वाला परब्रह्म मिल गया है। अब मैं कभी नहीं मरूँगा क्योंकि मैंने अपने मन को विषय वासना से अलग कर दिया है। अब तो वे लोग ही मरेगे जिन्होंने उस परब्रह्म को नहीं पहचाना है। सारे शाक्त मर जाएँगे परन्तु सभी संत लोग जीवित रहेंगे और वे अपने मुख में राम रूपी रसायन को भर-भर उसका रसायन करेंगे अर्थात् वे राम-नाम का स्मरण करेंगे। यदि मेरे अन्दर बैठा हुआ वह परब्रह्म मरेगा तो मैं भी मर जाऊँगा परन्तु यदि वह परमतत्त्व ही न मरा तो मैं किस प्रकार से मर सकता हूँ। कबीरदास जी कहते हैं कि मैंने मन को उस मन अर्थात् परमतत्त्व से मिला दिया है। इस प्रकार मैंने अमर होकर सुख सागर को प्राप्त कर लिया है।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीरदास जी ने परब्रह्म व आत्मा के अविनाशी होने की बात स्वीकार की है।
- (2) अन्तिम पंक्ति में 'मन' शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है तथा दोनों में ही भिन्न अर्थ निकला है। अतः यहाँ पर यमक अंलकार है।
- (3) पूरे पद में अनुप्रास अंलकार की छटा दर्शनीय है।
- (4) सधुक्कड़ी भाषा है।

(44)

कौन मरे कौन जनमै आई,
 सरग नकर कौने गति पाई ॥ टेक॥
 पंचतत अविगत थैं उतपनों, एकै किया निवासा।
 बिछुरे तत फिरि सहजि समौनों, रेख रही नहीं आसा॥
 जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहरी भीतरि पानी।
 फूटा कुंभ जल जलहिं समानां, यह तत कथौ गियानी॥
 आदैं गगनों अंतै गगनों मधे गगनों माई।
 कहै कबीर करम किस लागै, झूठी संक उपाई॥ 44॥

शब्दार्थ :

सरग = स्वर्ग। अविगत = अज्ञेय। पंच तत = अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, आकाश। उतपनों = पैदा हुआ। कुंभ = घड़ा। तत = तत्त्व। आदैं = आदिकाल में। गगनों = गगन, परमात्मा।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीरदास द्वारा रचित है। इस पद में कबीरदास जी ने मनुष्य की उत्पत्ति व उसके अंत को परमतत्त्व से जोड़कर दर्शाया है।

व्याख्या :

कबीरदास जी कहते हैं कि इस संसार में भला कौन मरता है, कौन जन्म लेता है, कौन स्वर्ग या नरक में जाता है? कहने का तात्पर्य यह है कि चूंकि आत्मा परमात्मा का अंश है अतः वह न तो उत्पन्न होती है, न मरती है, न स्वर्ग या नरक में जाती है। इस सृष्टि में अग्नि, पवन, जल, आकाश व पृथ्वी ये पाँचो तत्त्व अज्ञेय थे परन्तु उस परमतत्त्व ने उसी में निवास कर लिया। शरीर के नष्ट हो जाने पर अर्थात् मृत्यु के पश्चात् ये पाँचो तत्त्व फिर से उसी सहज स्वरूप में समा जाते हैं और इस प्रकार उस पहले शरीर के अस्तित्व के सभी चिह्न नष्ट हो जाते हैं।

कबीर दास जी कहते हैं कि यह शरीर एक घड़े के समान है जिसके भीतर व बाहर पानी विद्यमान है अर्थात् यह घड़ा पूरी तरह से पानी से भरा हुआ व उसमें डूबा हुआ है। जब यह शरीर रूपी घड़ा टूट जाता है तो उसके अन्दर का पानी बाहर के पानी में विलीन हो जाता है उसी प्रकार इस शरीर में जीवात्मा अपने बाह्य स्वरूप परमात्मा में जाकर विलीन हो जाती है। इस तत्त्व को केवल ज्ञानी ही जानते हैं। वह परमात्मा आरम्भ, मध्य व अन्त तीनों में स्थानों पर विद्यमान है। कबीर दास जी कहते हैं कि अब तुम्हीं बताओ कि कर्म किसे लगेगा। इस विषय में लोगों के मन में झूठी शंकाएँ विद्यमान हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कर्म का सम्बन्ध जीव से है परमात्मा से नहीं।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास जी ने अद्वैतवाद के सिद्धान्तों का समर्थन किया है।
- (2) प्रथम पंक्ति में वक्रोक्ति अलंकार है।
- (3) 'कहै कबीर करम किस' में व त्यानुप्रास अलंकार है।
- (4) सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है।

(45)

कौन मरै कहु पंडित जनां,
 सो समझाई कहौ हम सनाँ ॥ टेक॥
 माटी माटी रही समाइ, पवनै पवन लिया संग लाइ।
 कहै कबीर सुनि पंडित गुनि, रूप मूवा सब देखे दुनी ॥ 45 ॥

शब्दार्थ :

जनां = लोग। सनाँ = से। माटी = मिट्टी, शरीर। पवनै = प्राण, वायु। मूवा = मर गया है। दुनी = दुनिया।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीरदास द्वारा रचित है। इस पद में उन्होंने म त्पु के प्रति विचार प्रकट करते हुए आत्मा की अनश्वरता को दर्शाया है।

व्याख्या :

कबीरदास जी कहते हैं कि हे पण्डितों। तुम मुझे यह बताओं तो सही कि आखिर मरता कौन है? तुम मुझे यह बात समझाओ। जब मनुष्य मर जाता है ता उस की नश्वर देह, जोकि मिट्टी से बना था, अन्नतः मिट्टी में मिल जाती है। उस मिट्टी की देह में जो वायु प्राण बनकर संचरण करती थी, अब म त्पु के उपरांत वह प्राण पुनः वायु में मिल जाता है। कबीरदास जी कहते हैं कि हे ज्ञानी पंडितो! सुनो। यह सारी दुनिया केवल मानव-रूप को मरते हुए देखती हैं, उसमे विद्यमान परमतत्त्व की अमरता को कोई नहीं देखता।

विशेष :

- (1) इस पद में कबीर दास जी ने म त्पु को केवल शरीर-रूप का परिवर्तन माना है।
- (2) 'माटी-माटी', 'पवनै पवन' में यमक अलंकार है।
- (3) अनुप्रास अलंकार विद्यमान है।
- (4) सधुक्कडी भाषा है।

(46)

जे को मरै मरन है मीठा,
 गुरु प्रसादि जिनहीं मरि दीठा ॥ टेक॥
 मुवा करता मुई ज करनी, मुई नारि सुरति बहु धरनी ॥
 मूवा आपा मूवा मौन, परपंच लेइ मूवा अभिमौन ॥
 रौम रमें रमि जे जन मूवा, कहै कबीर अविनासी हूआ ॥ 46 ॥

शब्दार्थ :

जे = उसको। दीठा = देखा। करता = कर्ता। सुरति = सौन्दर्य। आया = अहं। अविनासी = जिसका नाशा न हो, अमर।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीरदास द्वारा रचित है। इस पद में उन्होंने राम-भक्ति के माध्यम से अमरतत्त्व प्राप्त करने

का आह्वान किया है।

व्याख्या :

कबीरदास जी कहते हैं कि जिस भी व्यक्ति ने अपने सद्गुरु के प्रसाद से मृत्यु को देखा है उसके लिए मरण भी मधुर बन जाता है। जिस व्यक्ति में किसी कार्य का कर्ता होने का गर्व है वह मरता है, उसके कर्म मरते हैं, उस नारी की सुन्दरता मरती है, उसका अंहकार मरता है, उसका सम्मान मरता है और उसका छल-प्रपंच मुक्त अभिमान भी मर जाता है। कबीरदास जी कहते हैं कि जिस व्यक्ति ने अपने आप को राम-प्रेम में रमा दिया है वह मरकर भी अमर हो जाता है।

विशेष :

- (1) 'रॉम रमे रमि' में व त्यानुप्रास अंलकार है।
- (2) सधुक्कड़ी भाषा है।
- (3) राम-नाम के स्मरण को ही अमरता का आधार माना गया है।

(47)

जस तूँ तस तोहि कोइ न जान,

लोग कहँ सब आनहिँ आँन ॥ टेक॥

चारि बेद चहुँ मत का बिचार, इहि भ्रँमि भूलि परयो संसार।

सुरति सुमूति दोइ को बिसवास, बाझि परयो सब आसा पास॥

ब्रह्मादिक सनकादिक सुर नर, मैं बपुरौ धूकौँ मैं का कर॥

जिहि तुम्ह तारौ सोई पै तिरई, कहै कबीर नाँतर बाँध्यौ मरई॥ 47॥

शब्दार्थ :

आनहिँ आन = दूसरे ही दूसरे। चारि = चारों। चहुँ मत = चार मतों। सुरति = वेद। सुम ति = स्म ति। बाझि = उलझना। बपुरौ = बेचारा। नातर = नहीं तो।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीर दास द्वारा रचित है। इस पद में कबीर दास जी ने परब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

व्याख्या :

कबीर दास जी कहते हैं कि हे परमात्मा ! आप जैसे हैं, तुम्हारे वैसे रूप को कोई भी नहीं जानता है। सभी लोग तुम्हारे असली रूप को छोड़ कर किसी दूसरे ही रूपों का वर्णन करते हैं। आपके स्वरूप के बारे में चारों वेद चार प्रकार के मत रखते हैं और इसीलिए इस संसार के अधिकांश लोग भ्रम की भूल-भलैया में पड़े हुए हैं। वेद व स्मृतियों के ऊपर विश्वास करके सभी लोग मुक्ति प्राप्ति की आशा में उलझे पड़े हैं। हे परमात्मा ! जब ब्रह्मा, सनक आदि ऋषि मुनि तथा देवता व मनुष्य ही तुम्हारे स्वरूप को नहीं पहचान सके तो मैं बेचारा साधारण मनुष्य कैसे उसे पहचान सकता हूँ। आप जिस भी मनुष्य को इस भवसागर से पार उतारना चाहते हैं वह तो पार उतर जाता है नहीं तो सभी लोग माया के बंधन में पड़े रहकर मर जाते हैं कहने का तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति उस परब्रह्म का स्मरण करता है वही मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

विशेष :

- (1) परब्रह्म के स्वरूप को समझना ब्रह्मा, सनकादि ऋषियों व देवताओं के सामर्थ्य से भी बाहर है - इस भाव की

अभिव्यक्ति हुई है।

- (2) 'ब्रह्मादिक ---- कर' में दास्य-भाव की भक्ति का पुत है।
- (3) पूरे पद में अनुप्रास अलंकार की छटा है।
- (4) सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है।

(48)

लोका तुम्ह ज कहत हौ नंद कौ नंदन नंद कहौ धुं काकौ रे।
 धरनि अकास दोऊ नहीं होते, तब यहु नंद कहाँ थौ रे ।।टेक।।
 जाँ में मरे न संकुटि आवै, नाँव निरंजन जाकौ रे।
 अबिनासी उपजै नहिँ बिनसै, संत सुजस कहँ ताकौ रे।।
 लष चौरासी जीव जंत में भ्रमत नंद थाकौ रे।
 दास कबीर कौ ठाकुर ऐसो, भगति करै हरि ताकौ रे ।।48।।

शब्दार्थ :

लोका = लोगो। ज = जिसे। धरनि = पृथ्वी। जामें = उत्पन्न होना। संकुटी = संकट। नाँव = नाम। बिनसै = नष्ट होना। लष = लाख।

प्रसंग:

प्रस्तुत पद संत कवि कबीर दास द्वारा रचित है। इस पद में निर्गुण ब्रह्म की प्रतिष्ठा स्थापित करते हुए कबीर दास कहते हैं कि -

व्याख्या :

हे लोगो ! जिसे तुम नंद का पुत्र मानकर कृष्ण कह रहे हो, तो पहले यह तो बताओ कि नंद किसके पुत्र हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कृष्ण ब्रह्म है तो उनके जन्म लेने से पहले नंद की उत्पत्ति कैसे हुई? कबीर दास जी कहते हैं कि पृथ्वी और आकाश दोनों नहीं थे, तब ये नंद कहाँ पर थे। कहने का तात्पर्य यह है कि परब्रह्म इस सृष्टि से पहले ही विद्यमान है। जो न तो जन्म लेता है, न मरता है और जिस पर किसी प्रकार का संकट भी नहीं आता है। उसी परब्रह्म का नाम निरंजन है। वह परब्रह्म अविनाशी अर्थात् अमर है जो न तो उत्पन्न होता है और न ही नष्ट होता है संतजन उस परब्रह्म के यश का गुणगान करते हैं। वह नंद तो स्वयं चौरासी लाख जीवों की योनियों में चक्कर लगाते लगाते थक गया है। कबीर दास जी कहते हैं कि उनके परब्रह्म तो ऐसे हैं जिनकी भक्ति स्वयं श्री कृष्ण भी करते हैं।

विशेष :

- (1) इस पद में अवतारवाद व सगुण ब्रह्म पर निर्गुण ब्रह्म की विचारधारा को प्रतिष्ठित किया गया है।
- (2) पद में अनुप्रास अलंकार है।
- (3) सधुक्कड़ी भाषा है।

(49)

निरगुण राँम निरगुण राँम जपहु रे भाई।
 अबि गति की गति लखि न जाई ।।टेक।।

चारि बेद जाकै सुम त पुरांनों नौ व्याकरनों मरम न जांनों।।
 सेस नाग जाकै गरड़ समानों, चरन कवल कँवला नहीं जांनों ।।
 कहै कबीर जाकै भेदै नांहीं, निज जन बैठे हरि की छाहीं ।।49।।

शब्दार्थ :

अबिगति = अज्ञात। लखि = देखा। मरम= तत्व, सार, रहस्य। सुम ति = स्म ति। नौ व्याकरणाँ = नौ व्याकरण (इन्द्र, चन्द्र, काशक त्स्न, शाकरायन, पिशालि, पाणिनि, अमर, जैनेन्द्र, सरस्वती)। कवलाँ = लक्ष्मी। छाहीं = छाया।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीर दास द्वारा रचित है। इस पद में कबीर दास जी ने निर्गुण ब्रह्म की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि -

व्याख्या:

हे भाई ! अब तुम 'निर्गुण राम' 'निर्गुण राम' का जाप करना आरम्भ कर दो। उस अज्ञात परब्रह्म की गति को किसी ने भी नहीं देखा है। चारों वेद, स्म ति, पुराण, सभी नौ व्याकरण मिलकर भी उस परब्रह्म के रहस्य को समझ न सके। शेषनाग व गरुड के समान जिसके चरण कमलों में रहने वाली स्वयं लक्ष्मी भी उसके स्वरूप को न जान सकी। कबीर दास जी कहते हैं कि उस परब्रह्म की छाया में तो केवल वही व्यक्ति या साधक बैठ सकता है जिसके मन में किसी भी प्रकार का भेद या रहस्य न हो। कहने का तात्पर्य यह है कि सरल भाव से प्रेम भक्ति करने वाले भक्त को ही ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है।

विशेष :

- (1) इस पद में सगुण ब्रह्म के अवतारों - शेषनाग, गरुड, लक्ष्मी आदि को भी उस परब्रह्म के स्वरूप से अपरिचित बताकर निर्गुण ब्रह्म की महत्ता को दर्शाया गया है।
- (2) पूरे पद में अनुप्रास अलंकार है।
- (3) सधुक्कड़ी भाषा है।

(50)

में सबनि में औरनि में हूँ सब ।

मेरी बिलगि बिलगि बिलगाई हो,

कोई कहौ कबीर कहौ राँम राई हो ।।टेक।।

नाँ हम बार बूढ नाही हम ना हमरे चिलकाई हो।।

पठए न जाऊँ अखा नहीं आऊँ सहजि रहूँ हरिआई हो।।

वोढन हमरे एक पछेवरा, लोक बोलै इकताई हो।।

जुलहे तनि बुनि पाँनि न पावल, फार बुनि दस ठाँई हो।।

त्रिगुणं रहित फल रमि हम राखल, तब हमारौ नाँऊ राँम राई हो।।

जग मैं देखौँ जग न देखें मोहि, इहि कबीर कछु पाई हो ।।50।।

शब्दार्थ :

बिलगि = विलग। राई = राजा। कबीर = श्रेष्ठ। बार = बालक। बूढ = बूढ़। चिलकाई = चकम, यहाँ पर तरुण

से अभिप्राय है। पठए = बुलाने पर। हरिआई = प्रसन्न। वोढन = ओढने के लिए। पछेवरा = चादर। इकताई = अकेला। ठाँई = स्थान।

प्रसंग :

प्रस्तुत पद संत कवि कबीर दास द्वारा रचित है। इस पर मैं कबीर दास जी ने स्वयं परब्रह्म के मुख से अपने स्वरूप के बारे में कहलवाया है।

व्याख्या :

कबीर दास जी निर्गुण राम कहते हैं कि मैं ही सभी व्यक्तियों में समाया हुआ हूँ। उनके अतिरिक्त अन्य शेष स्थानों पर भी मैं ही हूँ। फिर भी इस संसार के लोग मुझे विलग-विलग मानते हैं। कोई तो मुझे कबीर (श्रेष्ठ) कहता है तो कोई मुझे राजा राम कहता है।

न तो मैं बालक हूँ न ही मैं बूढ़ा हूँ और न ही मुझ पर तरुणाई आती है। किसी के बुलाने पर मैं जाता नहीं हूँ और आमंत्रण पर आता नहीं हूँ। मैं अपनी सहज अवस्था में ही प्रसन्न रहता हूँ। मैंने अपने ऊपर रहस्य की एक चादर ओढ रखी है। तथा इसी लिए सारा संसार मुझे अकेला कहता है। जिस प्रकार एक जुलाहा एक ही थान को करधने पर बुनने के पश्चात उसे दस स्थानों से फाडकर टुकड़ों में बाँट देता है, उसी प्रकार मैंने भी मानव शरीर को दस स्थानों में फाड दिया है अर्थात् उसमें नौ इन्द्रियाँ, दसवाँ ब्रह्मरन्ध्र लगा दिए हैं। मैं तीनों गुणों - सत्त्व, रज, तम से रहित होकर रमण करता हूँ और इसी लिए मेरा नाम राजा राम पड गया है। यद्यपि यह संसार मुझे नहीं देख पाता परन्तु मैं सभी को देख सकता हूँ। कबीर दास जी कहते हैं कि यह सुनकर अब मुझे उस परब्रह्म के स्वरूप की कुछ कुछ अनुभूति होने लगी है।

विशेष :

- (1) पद में निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।
- (2) 'बिलगि-बिलगि' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।
- (3) पूरे पद में अनुप्रास अलंकार की छटा विद्यमान है।
- (4) सधुक्कड़ी भाषा है।

3. रमैणी

कबीर दास द्वारा विरचित रमैणी में परमात्मा, जगत्, भक्ति आदि संदर्भों पर विचार किया गया है। इसकी रचना दोहा चौपाई छन्द में हुई है। नजीर मुहम्मद ने विषय की दृष्टि से कबीर की रमैणियाँ को चार भागों में बाँटा है:-

1. सृष्टितत्त्व और जगत् की उत्पत्ति सम्बन्धी।
2. परमतत्त्व सम्बन्धी।
3. रामतत्त्व सम्बन्धी।
4. धर्मकाण्डों का खण्डन करने वाली।

रमैणी की प्रारम्भ की ये पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं जिनसे इसके प्रतिपाद्य का संकेत प्राप्त किया जा सकता है-

इ सरल गहगरा, सफ सफा दिलदार दीदार।।
तेरी कुदरति किनहूँ न जानी, पीर मुरीद काजी मुसलमानी।
देवी देव सुर नर गज गंधप, ब्रह्मा देव महेसुर।।
तेरी कुदरति तिन हूँ न जाँनी।।

[1]

अब गहि रँम नौम अबिनासी, हरि तजि जिनि कतहूँ कै जासी।।
जहाँ जाइ तहाँ तहाँ पतंगा, अब जिनि जरसि समझि विष संगी।।
चोखारँम नौम मनि लीन्हा, भिग्री कीट भ्यंग नहीं कीन्हौं।।
भौसागर अति वार न पारा, ता तिरबे का करहु बिचारा।।
मनि भावै अति लहरि बिकारा, नहिं गमि सूझै बार न पारा।।
भौ सागर अथाह जल, तामै बोहिथ रँम अधार।
कहै कबीर हम हरि सरन, तब गोपद खुर बिस्तार।।

(सतपदी रमैणी से)

शब्दार्थ -

जिनि = मत। जरसि = जलना। चोखा = अच्छा, श्रेष्ठ। मनि = मन। आवै = अच्छा लगता है। गमि = गम्य। तामै = उसमें। बोहिथ-नौका। गोपद खुर = गाय के पैर का खुर।

भावार्थ -

प्रस्तुत छंद में कबीरदास ने संसार और माया की विकरालता को निरूपित करते हुए रामभक्ति का आश्रय ग्रहण करने की सलाह दी है। वे कहते हैं कि :-

हे जीव, अब तू अविनासी राम के नाम को ग्रहण कर। तू परमात्मा की शरण को मत छोड़ कहीं अन्यत्र जाकर क्या करेगा। तू जहाँ- जहाँ जाता है, वहाँ वहाँ माया रूपी पंतगा भी जाता है। विषय वासनाओं की संगति को समझकर अब तू इसमें भस्म मत हो। राम नामक की मणि बड़ी अच्छी हैं। उसे तू ग्रहण कर। इसके ग्रहण से भंगी और कीट में न्याय सद श तू प्रभुमय प्रभुरूप हो जायेगा।

इस संसार सागर की कोई सीमा नहीं हैं। इससे पार होने के उपाय पर विचार करो। संसार-सागर की लहरें रूपी विकार मन को बड़ी अच्छी लगती हैं, लेकिन वे अगम्य हैं, उनका कोई आर-पार नहीं हैं।

संसार-सागर में अथाह जल हैं उसमें राम नाम ही नौका है। कबीरदास कहते हैं कि मैं परमात्मा की शरण में हूँ, इसलिए यह सागर मुझे गाय के पैर समान छोटा लगता हैं।

- (1) इस छन्द में कबीर ने जीवमात्र से विषय वासनाओं से दूर रहने और रामभक्ति के आश्रय में रहने की सलाह दी हैं।
- (2) संसार सागर की भयंकरता वर्णित हैं।
- (3) रूपक और उपमा अंलकार हैं।
- (4) दोहा-चौपाई छन्द का प्रयोग।

[2]

अलख निरंजन लखै न कोई, निरभै निराकार हैं सोई॥
 सुनि असथूल रूप नही रेखा, द्रिष्टि अद्रिष्टि छिपयो नहीं पेखा॥
 बरन अबस कहयौं नहीं जाई, सकल अतीत घट रहयो समाई॥
 आदि अंत ताहि नहीं मधे, कथ्यौ न जाई आदि अकथे॥
 अपरम्पार उपजै नहीं विमसे, जुगति न जाँनिये कथिये कैसे॥
 जस कथिये तत होत नहीं, जस है तैसा सोइ।
 कहत सुनत सुख उपजै, अरु परमारथ होइ॥
 (बड़ी अष्टपदी रमैणी से)

शब्दार्थ-

अलख = अलक्ष्य। निरंजन = मायारहित। निरभै = निर्भय। असथूल = सूक्ष्म। पेखा = देखा। बरन = वर्ण। सकल = सम्पूर्ण। समाई = समाहित। मधे = मध्य। जुगति = युक्ति, उपाय। परमारथ = परमार्थ।

भावार्थ -

इस अवतरण में कबीरदास ने निर्गुण निराकार ब्रह्म की अनिर्वचनीयता पर प्रकाश डाला हैं। वे कहते हैं कि-

वह परमात्मा निराकार और निर्भय हैं, अलक्ष्य तथा मायारहित है। उसे कोई देख नहीं सकता हैं। उस थूलवत् हैं, सूक्ष्म हैं तथा उसकी रूप-रेखा नहीं हैं। वह द्रिष्टि से अद्रिष्ट है। वह गुप्त हैं, वह देखा नहीं जा सकता हैं। उसका वर्ण वर्णनातीत हैं, उसका स्वरूप कथन से परे है। वह सारी चीजों से परे है तथा सारे घट में वर्तमान है। उसका कोई आदि अन्त तथा मध्य नहीं हैं। उसका वर्णन कथन नहीं हो सकता हैं। वह अकथ्य है वह अपरम्पार हैं उसकी न तो उत्पत्ति होती हैं और न ही विनाश। उसकी प्राप्ति का कोई उपाय नहीं हैं, फिर उसका कथन कैसे किया जाये?

परमात्मा का जैसा वर्णन किया जाता है, वैसा वह तत्त्व नहीं हैं। वह जैसा है, वैसा ही रहेगा। उसके बारे में कहने

और सुनने से सुख की उत्पत्ति होती हैं और परमार्थ (दूसरों को लाभ) भी होता है।

- (1) इस छन्द में कबीर ने निर्गुण निराकार ब्रह्म की विशेषता को अपना प्रतिपाद्य बनाया है।
- (2) परमात्मा की चर्चा का सुफल बताया गया है।
- (3) यह छन्द कबीर के सिद्धान्त निरूपण से भी सम्बन्धित है।

[3]

भगति हेतु रौम गुन गावे, सुर नर मुनि दुर्लभ पद पावै॥
 पूनिम बिमल ससि मात बंसत, दरसन जोति मिले भगवंता॥
 चंदन बिलनी बिरहिनि धारा, यूँ पूजिये प्राँनपति रौम पियारा॥
 भाव भगति पूजा अरू पाती, आतमरौम मिले बहु भौंती॥
 रौम रौम रौम सचि माँगे, सदा अनंद रौभल्यौ जानै॥
 पाया सुख सागर कर मूला, जो सुख नहीं कहूँ समतूला॥
 सुख समाधि सुख भया हमारा, मिल्या न बेगर होइ।
 जिहि लाधा सो जाँनि हैं, राम कबीर और न जानै कोई॥

(बड़ी अष्टमपदी रमैणी से)

शब्दार्थ -

पूनिम = पूर्णिमा। भात = भत। ल्यौ = प्रेम। बेगर = बिना। लाधा = पाया।

भावार्थ -

इस अवरतरण में प्रभु प्राप्ति की अनुभूति का वर्णन है। इस अनुभूति के बारे में कबीर कहते हैं कि-

राम के प्रति प्रीति के कारण ही भक्त लोग राम के गुणों का गान करते हैं और वे उस पद को प्राप्त करते हैं। जो देवताओं, मनुष्यों और मुनियों को भी दुर्लभ है। पूर्णिमा की पवित्र रात और मदमस्त बसन्त में भगवापन की ज्योति का दर्शन मिला, इससे विरहिणी आत्मा को चन्दन जैसी शीतलता प्राप्त हुई। इस प्रकार प्राणपति प्रियतम राम की प्राप्ति हुई। प्रेमाभक्ति रूपी पूजा और पत्नी से परमात्मा अनेक विध मिलते हैं। मन रे 'राम राम राम- में अनुरक्ति से, राम में लगन लगने से सदा आनन्द की प्राप्ति होती है। इस प्रकार उस सुख के मूल सागर की प्राप्ति हुई। इस सुख के बराबर कहीं दूसरा सुख नहीं है।

कबीरदास कहते हैं कि परमात्मा की प्राप्ति से हमें अपार सुख प्राप्त हुआ। जिसको यह सुख नहीं मिला है, वह इसके बारे में नहीं जान सकता है। जिसने प्राप्त किया है, वहीं इस बारे में बता सकता है। इस सुख को राम और कबीर के अतिरिक्त कोई नहीं जानता है।

- (1) भक्ति से प्राप्त सुख की व्यंजना इस अवरतरण में की गयी है।
- (2) उपमा अलंकार।

[4]

केऊ केऊ तीरथ ब्रत लपटानौं, केऊ केऊ केवल रौम निज जाँनौं॥

अजरा अमर एक अस्थानों, ताका मरम काहू बिरले जानौं।।
 अबरन जोति सकल उजियारा, द्विष्टि समान दास निस्तारा।।
 जो नहीं उपज्या घटनि सरीरा, ताकै पथि न सींच्या नीरा।।
 जा नहीं लागे सूरजि के बौनों, सो मोहि आँनि देहु को दौना।।
 जब नहीं होते पवन नहीं पानी, तब नहीं होती सृष्टि उपानी।।
 जब नहीं होते प्यंड न बासा, तब नहीं होते धरनी आकासा।।
 जब नहीं होते गरथ न मूला, तब नहीं होते कली न फूला।।
 जब नहीं होते सबर न स्वादं, तब नहीं होते विद्या न वादं।।
 जब नहीं होते गुरु न चेला, जब गम अगमै पंथ अकेला।।
 अवगति की गति क्या कहूँ, जिस कर गाँव न नाँव।
 गुन विहूँन का पेखिये, काकर धरिये सौव।।

(अष्टपदी रमैणी से)

शब्दार्थ :

केऊ = कोई। मरम = रहस्य। निस्तार = उद्धार। उपांनी = अत्पत्ति। प्यंड = शरीर। काकर = किसका।

भावार्थ :

इस छन्द में परमतत्त्व की स्थिति और विस्तार में बिषय में बताया गया है। कबीर कहते हैं कि -

कोई कोई भक्त तीर्थ और व्रत से लिप्त हैं और कोई कोई केवल राम की भक्ति में लीन हैं। वह परमात्मा अजर-अमर तथा अकेला है। उसके रहस्य को कोई कोई ही जान सकता है। वह वर्णहीन तथा ज्योतिरूप है। उसी से सारा संसार ज्योतित है। उसकी क पा से ही भक्तों का उद्धार होता है।

जो इस पृथ्वी पर न तो पैदा हुआ और न ही शरीर धारण किया, उसी के पथ को जल से सींचने की आवश्यकता नहीं है। आशय यह है कि देहधारी से साधना का ताप सहना ही पड़ेगा। जहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँच पाता है, उसे लाकर मुझे शैल दान में देगा? जब पवन और पानी नहीं होते हैं तब संसार की सृष्टि भी नहीं होती है। जब शरीर और निवास नहीं होते हैं तब धरती और आकाश भी नहीं होते हैं। जब गर्भ और गर्भ का कारण नहीं होता है तब कली और फूल भी नहीं होते हैं जब शब्द और स्वाद नहीं होते हैं, तब विद्या और विवाद भी नहीं होते हैं। जब गुरु-शिष्य नहीं होते हैं, तब अगम्य पर अकेले परमात्मा का गमन होता है।

कबीरदास कहते हैं कि अविगति की गति का क्या वर्णन करूँ। उसका न तो कोई गाँव है और न नाम ही। उस निर्गुण को कैसे देखा जाये और किसका नामकरण किया जायें?

विशेष:

(1) इस छन्द में निर्गुण निराकार ब्रह्म के अगम्य स्वरूप की व्यंजना की गयी है।

[5]

एकै पवन एक ही पाँणी, करी रसोई न्यारी जाँनी।।

माटी सँ माटी ले पोती, लागी कहौ कहाँ धूँ होती।।

धरती लीपि पवित्र कीन्हीं, छोति उपाय लीक विचि दीन्हीं।।
 याका हम सँ कहौ बिचारा, क्यूँ भव तिरिहौ इहि आचारा।।
 ए पाखंड जीव के भरमाँ, माँनि अमाँनि जीव के करमाँ।।
 करि आचार जु ब्रह्म संतावा, नाँव बिनाँ संतोषन पावा।।
 सालिगराँम सिला करि पूजा, तुलसी तोडि भया नर दूजा।।
 ठाकुर ले पाटै पौ ढावा, भोग लगाइ अरु आपे खावा।।
 साँच सील का चौका दीजै, भरण भगति की सेवा की जै।।
 भाव भगति की सेवा माँनै, सतगुर प्रकट कहँ नहीं छाँनै।।
 अनभै उपजि न मन ठहराई, परकीरति मिलि मन न समाई।।
 जब लग भाव भगति नहीं करिहौं, तब लग भवसागर क्यूँ तिरिहौं।।
 भाव भक्ति बिसवास बिनुँ, कटै न संसै सूल।
 कहै कबीर हरिभक्ति बिन, मुकति नही रे भूल।।

शब्दार्थ -

न्यारी = अलग। छोती = छूत। अनभै = भय। तिरिहौ = पार दोगे। संसै = संशय। मुकति = मुक्ति।

भावार्थ -

कबीर ने इस छन्द में पंक्तिमखन ब्राह्मणों के मिथ्याचारों की व्यर्थता का प्रतिपादन किया है। उसका विरोध और निषेध करते हुए वे कहते हैं कि :-

एक ही पवन और एक ही पानी हैं, क्या समझकर अलग रसोई की अर्थात् भोजन अलग बनाकर कौन सी उपलब्धि प्राप्त कर ली? मिट्टी लेकर मिट्टी (चूल्हा-चौका) भी पोता, फिर छूत कहाँ लगी रह गयी? धरती को लीप करके पवित्र कर दिया। छूत से बचाने के लिए बीच में एक पक्ति खींच दी। विचार करके हमें बताओं कि क्या इस आचरण से भवसागर पार किया जा सकता है। ये पाखंड है जो जीव को भ्रमित करते हैं। जीव के ऐसे कर्मों से परमात्मा का मान नहीं होता है।

एसा बाह्याचार करके लोग परमात्मा को संतप्त करते हैं। परमात्मा के नाम-स्मरण के बिना कोई संतोष नहीं प्राप्त कर सकता है। पत्थर के टुकड़े शालिग्राम का पूजन करने, तुलसीपत्र को तोड़कर मनुष्य और मनुष्यों से कैसे अलग हो सकता है?

ठाकुर (परमात्मा की मूर्ति) को शयन कराकर भोग लगाकर सारा भोग स्वयं आकर वे कौन सी भक्ति कर रहे हैं? ऐसे आडम्बर और पाखण्ड रचने वाले लोगों से संबोधित करते हुए कबीर कहते हैं कि बाह्याचारों का छोड़कर सत्य और शील का चौका दो, भावभक्ति से परमात्मा की भक्ति-सेवा करो। परमात्मा भावभक्ति से प्रसन्न होता है। सद्गुरु बिना छिपाये हुए इस तथ्य को प्रकट करता हैं।

भय की उत्पत्ति से मन स्थिर नहीं रहता है, मन परमार्थ में नहीं लगता हैं। इसलिए हे जीव, जब तक तू ईश्वर से प्रेम की भक्ति नहीं करेगा, तब तक संसार-सागर से पार नहीं हो सकता।

कबीरदास कहते हैं कि भावभक्ति के विश्वास के बिना संशय का शूल कट नहीं सकता है। हरिभक्ति के बिना भक्ति नहीं मिल सकती है।

विशेष:

- (1) इस अवतरण में 'भाव भक्ति' की प्रतिष्ठा की गयी हैं और उसे ही मुक्ति का मूल बताया गया है।
- (2) ब्राह्मणों में प्रचलित पाखण्डों और बाह्याचारों का खण्डन किया गया है।
- (3) कबीर का समाज-सुधारक और समतावादी रूप दृष्ट्य है।

रोम

दास-प्रथा :

रोमन साम्राज्य की सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था दास-प्रथा थी, जिसने इस साम्राज्य को बनाने में काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई तथा रोम साम्राज्य के पतन में भी इसका काफी योगदान रहा। रोम में अनेक युद्धबंदियों को दास कार्यों में लगाया गया। सम्राट ऑगस्त के शासन काल में शांति व्यवस्था के कारण दासों की संख्या में कमी आई क्योंकि शांति के कारण कम युद्ध हुए और कम संख्या में दास रोम आए ना ही इस काल में दास क्रय-विक्रय द्वारा रोम लाए गए।

रोमन साम्राज्य में दास प्रथा का काफी महत्व रहा। रोम के अतिरिक्त अन्य सभ्यताओं और संस्कृतियों में भी यह प्रथा प्रचलित थी। यूनानी दार्शनिकों एवम् लोगों ने प्रत्येक संभव विषय के बारे में प्रश्न उठाए हैं लेकिन दास प्रति नजरअंदाज किया गया। अरस्तु ने भी इस प्रथा का विरोध नहीं किया, उसके अनुसार दास को अपने मालिक की आज्ञा माननी चाहिए यही उसके हित में है। यहां तक कि दासों ने स्वयं भी जो विद्रोह किए वे इस प्रथा के विरोध में नहीं बल्कि स्वयं की आजादी मात्र के लिए। रोम के प्रसिद्ध कानूनविदों के अनुसार प्राकृतिक कानून के तहत सभी स्वतंत्र पैदा हुए हैं लेकिन इसके साथ इस बात का भी समर्थन किया कि दासता राष्ट्र के कानून के हित में है। रोमन दार्शनिकों ने भी दासों की स्थिति के लिए स्वयं उन्हें जिम्मेदार ठहराया। ईसाइयत के अनुसार भी दास राज्य धर्म था, उसने भी इसे समाप्त करने की कोशिश नहीं की। बल्कि स्वयं चर्च ने अपने लिए अनेक दास रखे। साम्राज्य के क्षय होने के साथ-साथ दासता में भी कमी आने लगी क्योंकि आर्थिक कारणों से बहुत से स्वतंत्र नागरिक भी दास बनने पर मजबूर हो गए।

इस काल में दास माता से पैदा हुआ शिशु भी दासता अपनाने के लिए विवश था। इनके अलावा युद्धों में हारे सैनिक, अपहर्त नागरिक तथा स्वतंत्र नागरिक भी दास बनाए जा सकते थे। तृतीय शताब्दी के मध्य में रोम के दूसरे देशों से हुए अनेक युद्धों के कारण बहुत से युद्ध बंदी दास बनाए गए। 167 ई.पू० के एक अभियान में रोम में 1,50,000 (डेढ़ लाख) युद्ध बंदियों को ऐपिरस (Epirus) में दास बनाया। क्रय-विक्रय द्वारा भी दासों को रोम लाया गया। इस काल में दासों की सबसे बड़ी मंडी डेलोस (Delos) थी, यहां पर कई बार तो मात्र एक दिन में 20,000 (बीस हजार) दासों तक का क्रय-विक्रय (व्यापार) होता था। सिसिरों के समय रोम में दास काफी सस्ते थे और इस काल में साम्राज्य की आवश्यकता इन्हीं पर निर्भर थी। नीरो के शासनकाल में सीनेट के एक सदस्य के घर 400 दास कार्यरत थे और इतने ही दास उसके खेतों में कार्य करते थे। अगस्तस ने एक सूचना जारी कर दासों की अधिकतम संख्या 100 निर्धारित कर दी थी इसलिए उसके काल में प्रति स्वतंत्र नागरिक की तुलना में तीन दास थे।

रोमन साम्राज्य में दूसरे देशों के भी अनेक दास थे। इनमें उत्तर के सेल्ट तथा जर्मन तथा पूर्व के एशियन थे। इसके अतिरिक्त रोमन साम्राज्य के विभिन्न प्रांतों के भी दास थे। इन्हें ना केवल कठिन कार्यों में लगाया जाता था। बल्कि इन्हें बेड़ियों से भी बाधा जाता था ताकि वे भाग ना सके। इसी कारण बहुत से दास कम उम्र में ही लंगड़े हो जाते थे। इस काल में कई मालिकों ने अपने दासों को ट्रेनिंग देकर सक्रेटरी, अंकाडटेंट तथा डाक्टर तक बना लिया था। इसी प्रकार के एक शिक्षित दास में Atticus के घापेखाने में सिसिरों के कार्यों की नकल की तथा Arretium (ऐरेटियम) के सुन्दर म दभांडों का निर्माण दासों द्वारा किया जाता था। ये म दभांड विदेशों में निर्यात किए जाते थे। इसके अलावा बहुत से दास स्वर्णकार के रूप में कहने बनाते थे। लैम्प, पाइप तथा कांच से निर्मित अनेक वस्तुएँ बनाते थे। इन्हीं में से अधिकतर दास तो अपने मालिकों को पैसे देकर अनी स्वतंत्रता भी खरीद लेते थे।

रोमन कानून के अनुसार दास मालिक की सम्पत्ति थे। वेरो (Varro) ने दासों को कृषि उपकरणों के समक्ष रखा था उसके अनुसार ये उपकरण (articulate) बोलने वाले, (Inarticulali) ना बोलने वाले तथा (Mute) थे। दास को खरीदा, बेचा तथा किराए पर दिया जा सकता है। उसकी सम्पत्ति तथा कमाई पर मालिक का हक था। दास माता की सन्तान भी मालिक की ही सम्पत्ति होती थी। दास को मालिक की इच्छानुसार कपड़ा, खाना तथा सजा दी जाती थी।

अपराधिक मामलों में दास को स्वतंत्र नागरिक की अपेक्षा कठोर दण्ड का प्रावधान था। यदि वह किसी अपराध का गवाह है तो उसे प्रमाण देने होते थे। यदि दास राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने वाले के विरुद्ध कार्य करता तो राज्य उसे स्वतंत्र

कर देता था। मालिक भी दासों को स्वतंत्र कर सकते थे। दास को वस्त्र और भोजन उपलब्ध करवाना मालिक का कर्तव्य था। सेटो (Ceto) ने उन्हें उतनी गेहूँ देने को कहा जितनी एक सैनिक को दी जाती थी। इसके अतिरिक्त उस थोड़ी शराब, तेल, मछली, नमक देने के अलावा वर्ष में एक बार पैंट, कमीज, जूते तथा कम्बल भी दिए जाते थे। हांलाकि मालिक दास को मृत्युदंड भी दे सकता था, परन्तु कोई भी मालिक अपनी सम्पत्ति स्वयं बरबाद नहीं करता था। वेरो (Vero) का कहना है कि मालिक को दास को मारने की बजाय उपर्युक्त गालियों से ही काम चलाना चाहिए। कई मालिक दासों को वेतन भी देते थे। यदि कोई मालिक बिना उतराधिकारी के मर जाए या वह अपनी वसीयत में दास को स्वतंत्र करने की बात लिखे तो दास स्वतंत्र हो सकता था। मालिक अपनी मर्जी से खुख होकर भी दास को स्वतंत्रता दे देता था। इसके अलावा यदि दास अपने मालिक की जान बचाए या कोई दासी अपने मालिक से पुत्र को जन्म दे तो मालिक उसे स्वतंत्र कर सकता था।

सामान्यतः वही दास स्वतंत्र होते थे जो मालिक के घर या नजदीक कार्य करते थे। खेतों में कार्य करने वाले दास अधिकतर बेड़ियों में ही जकड़े रहते थे। इन फार्मों के मालिक दासों से अपेक्षाकृत अधिक कार्य करवाते थे। रोम में प्रथम शताब्दी में यह कानून बना कि अकारण यदि कोई मालिक दास को मार दे तो वह अपराध है, यदि किसी दास को भूखा रखा जाता है तो वह सम्राट से शरण ले सकता था तथा उसका यह अधिकार है कि वह दूसरे मालिक को बेचा दिया जाए। परन्तु वास्तव में दास वध करने वाले मालिक को सजा नहीं होती थी। केवल मानवता ही दासों से अच्छे व्यवहार का कारण नहीं थी, परन्तु जैसे एन्टोमिनस पीयुस (Antoninus Pius) ने कहा है कि ह स्वयं मालिक के हित में है ताकि दास विद्रोह ना करे।

प्रदेश में दास हमेशा विद्रोह करने के लिलए तैयार रहते थे। Posidonius (पोसीडोनस) नामक दार्शनिक ने लिखा है कि सिसली में 134-32 ई०पू० में जो दास विद्रोह हुआ। उसका मुख्य कारण उनसे दुर्व्यवहार था। इसके अतिरिक्त रोम में अनेक दास विद्रोह हुए जिनमें प्रमुख था प्रथम शताब्दी का विद्रोह। इस विद्रोह में 70,000 दासों ने Spartacus (स्पार्टाकस) के नेतृत्व में विद्रोह किया तथा इस विद्रोह को दबाने के लिए रोमन सेना को पूरा एक वर्ष लगा।

Principate (प्रिंसीपेट) काल में दासों से पहले काल की अपेक्षा सद्व्यवहार किया जाता था। दासों द्वारा किए गए अनेक विद्रोहों के कारण ही एक रोमन कहावत है कि सभी दास दुश्मन हैं। दास अपने मालिक की हत्या करने के लिए हमेशा तत्पर रहते थे। अगस्तस के काम में बनाए गए एक कानून के अनुसार यदि मालिक की हत्या हो गई तो उसके घर में रहने वाले सभी दासों को मृत्युदण्ड दिया जाता था। एक बार एक दास लड़की की मालकिन की हत्या हुई तो वह इतनी भयभीत थी कि शोर नहीं मचा सकी इस पर Hardirian (हडरियन) ने आज्ञा दी कि उसे मृत्युदण्ड दिया जाए। क्योंकि उसने मालकिन की रक्षा के लिए शोर नहीं मचाया।

रोम में दास स्वयं को स्वतंत्र भी करा सकते थे। वास्तव में दासता रोम साम्राज्य का अभिन्न अंग थी। लेकिन दासों के अधिकार काफी सीमित थे। दास को सैनिक गतिविधियों में हिस्सा लेने का अधिकार नहीं था ना ही वह राज्य या नगरपरिषद् के कार्य करने के लिए स्वतंत्र था। बाद के काल में अनेक दास आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो कर अमीर बन गए थे। दास राज्य और राजनैतिक गतिविधियों में हिस्सा ना ले पाने के कारण व्यापारिक गतिविधियों में हिस्सा लेने लगे। इससे बहुत से स्वतंत्र हुए दास अमीर बन गए। कुछ दास तो शिक्षा ग्रहण करके काफी तरक्की कर गए तथा अपने बच्चों को भी अच्छी शिक्षा प्रदान करने में सक्षम बने। इस काल में रोम का प्रसिद्ध कवि (Horace) हॉरेस इसी तरीके से स्वतंत्र हुए एक दास का पुत्र था। बाद में नीरों के काल में तो यहां तक आक्षेप लगाया जाने लगा कि अधिकतर सेनेटरों की रगों में दासों का खून बह रहा है, लगभग एक शताब्दी बाद ऐसे ही एक दास मार्क्स हेल्वियस पैट्रि नैक्स (Marcus Helivivs Pertinax) ने सैनिक और प्रशानिक योग्यता के कारण 193 ई. में स्वयं को रोम का सम्राट घोषित कर दिया था।

कुछ दास एवम् स्वतंत्रता प्राप्त दास शासकों के काफी करीब भी थे और अच्छा जीवन व्यतीत करते थे। Tiberias (ताइबेरियस) के काल में एक दास जो कि Ganl (गॉल) में कर वसूली के बाद रोम वापिस आया तो अपने साथ 16 दास और लाया था। इनमें से दो दास उसकी तश्तरी उठाने वाले थे। ये रोम के दासों की सुदृढ़ आर्थिक स्थिति को दर्शाता है। कुछ स्वतंत्र हुए दास काफी धनाढ्य थे, तथा रोम का वास्तविक राज्य कर रहे थे। इनमें Felix नामक दास मुख्य था जो पहले एक प्रांत का गवर्नर भी रह चुका था।

हालांकि रोमन साम्राज्य के निर्माण में दासों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। इसके बावजूद रोमन साम्राज्य के तकनीकी विकास में ये बाधा सिद्ध हुए। दासता के कारण रोमवासी आलसी हा गए और प्रत्येक कार्य के लिए वे उन्हीं पर निर्भर हो गए। इसलिए कोई नया अविष्कार क्षेत्र में पिछड़ गया जो बाद में रोम साम्राज्य के पतन का एक मुख्य कारण भी बना।